DATE / /

नमो नमः श्रीगुरुराम-जगच्चन्द्रसूरये॥

TATTVARTHA SOOTRA

SWOPGNA BHASHYA

श्री UMASWATI MAHARAJ

(श्री सिद्धसेन गणि म. की टीकानुसार टिप्पणी)

DATE / /

S.No	अध्याय	Pg. No.
1.	1.	1.
2.	2	33
3.	3	62
4.	4	85
5.	5	112
6.	6	132
7.	7	144
8.	8	167

नमो नमः श्री गुरु राम-जगच्चन्द्र सूरये॥

अ.व.12, 2072 Kuvala. श्री तत्त्वार्थ सूत्र

[कर्ता + स्वोपज्ञ भाष्य- वाचक प्रवर श्री उमास्वाति जी म.] DATE / / 1.

प्रथमोऽध्यायः

सू. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः 1-1॥

सूत्रार्थ सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र, तीनों मिलकर मोक्षमार्ग हैं।

भा. सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र; इस प्रकार यह तीन प्रकार वाला मोक्ष मार्ग है। लक्षण और विधान[i] (भेद) से वह आगे विस्तार पूर्वक कहेंगे। शास्त्र के क्रम[ii] को बताने के लिए यह सूत्र उद्देश मात्र रूप कहा गया है। ये तीनों समस्त यानि साथ में ही मोक्ष के साधन हैं।[iii] तीनों में से किसी एक का भी अभाव होने पर ये मोक्ष के साधन नहीं है, इसलिए तीनों पद का सूत्र में ग्रहण किया गया। इन तीनों में पूर्व पद की प्राप्ति होने पर बाद वाले पद की प्राप्ति विकल्प[iv] से होती है किंतु बाद वाले उत्तर पद प्राप्त होने पर पूर्व की प्राप्ति अवश्य होती है।
[v]सम्यक् पद प्रशंसा अर्थ में निपात है अथवा व्युत्पत्ति- समञ्चते: भाव:= व्याप्त होने का भाव अर्थात् सभी द्रव्य भावों में व्याप्त होने वाला 'सम्यक्'। सभी इंद्रिय या अनिन्द्रिय द्वारा अव्यभिचारि अर्थ की प्राप्ति, दर्शन कहलाती है। अथवा प्रशस्त ऐसा दर्शन सम्यक् दर्शन अथवा संगत[vi] दर्शन। इसी प्रकार सम्यक् शब्द ज्ञान और चारित्र में भी जोड़ना।

टी. (i) सम्यग्दर्शन यानि जीव की अविपरीत द्रव्य भावों में रुचि। वह रुचि एक ही प्रकार से होती है किंतु उत्पत्ति के कारण या निमित्त के आधार पर द्विभेद वाली कही जाती है।

(ii) इन तीनों पद की प्राप्ति का क्रम भी यही है। पहले सम्यग्दर्शन, फिर ज्ञान, चारित्र।

(iii) आरोग्य के अर्थी रोगी का दृष्टांत- रोगी को औषधि में रुचि, ज्ञान और आचरण तीनों आवश्यक, एक के अभाव से भी वह स्वस्थ नहीं होता।

(iv) सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर ज्ञान या चारित्र की प्राप्ति हो भी सकती है या नहीं भी। जैसे- देव-नारक- तिर्यंचों का सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर भी अंगबाह्य या अंग प्रविष्ट रूप ज्ञान तथा देश- सर्व विरति रूप चारित्र नहीं होता। ~~इसलिए~~ ज्ञान प्राप्त होने पर भी कई मनुष्य चारित्र के भाव प्राप्त नहीं करते।

(v) निपात अर्थ → सम्यग्दर्शन= वीतराग प्रभु द्वारा कहे गए सभी भावों में रुचि।
व्युत्पत्ति अर्थ → सभी इंद्रिय- अनिंद्रिय द्वारा अव्यभिचारी अर्थ-प्राप्ति।

(vi) जैन प्रवचन अनुसार व्यवहार-निश्चय, द्रव्यार्थिक - पर्यायार्थिक नय के समारोप द्वारा प्रवृत्ति।

DATE ___/___/_____

सू. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् 1-2 ॥

सूत्रार्थ परमार्थ से अर्थ की श्रद्धा या तत्त्वरूप अर्थों की श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है।

भा. तत्त्व[(i)]रूप अर्थों[(ii)] की श्रद्धा या तत्त्व से अर्थात् भाव[(iii)] से निश्चित अर्थों की श्रद्धा तत्त्वार्थश्रद्धान है। वह सम्यग्दर्शन है। जीवादि तत्त्व आगे कहे जाएँगे। वे जीवादि तत्त्व रूप ही अर्थ, उनका या उनमें श्रद्धा करना अर्थात् प्रत्यय (विश्वास) को धारण करना। वह तत्त्वार्थश्रद्धा प्रशम[(iv)]-संवेग[(v)]-निर्वेद[(vi)]-अनुकम्पा[(vii)]-आस्तिक्य[(viii)] की अभिव्यक्ति रूप लक्षण यानि चिह्न वाला है।

टी.
(i) तत्त्व= अविपरीत। तत्त्वानां अर्थानां श्रद्धानं।
(ii) अर्थ= जीवादि पदार्थ।
(iii) भावतो निश्चितम् = स्वप्रतिपत्त्या, स्व अनुभव से।
(iv) प्रशम= सुपरीक्षित ऐसे प्रवचन के तत्त्वों में अभिनिवेश से दोषों का उपशम अथवा इंद्रियों के विषयों के परिभोग से अटकना।
(v) संवेग= जैन प्रवचनानुसार नरकादि गति देखने से जीव को जो भय हो तथा भय से वह 'मैं इन दुःखों का भाजन न बनूँ' इस प्रकार प्रयत्न करे।
(vi) निर्वेद= विषयों से वैराग्य, 'यह छोड़ने योग्य ही है' इस प्रकार का भाव।
(vii) अनुकम्पा= जीवों पर करुणा, 'सभी जीव सुख के अर्थी हैं अतः मुझसे इन्हें जरा भी दुःख न हो' इस प्रकार का प्रयत्न।
(viii) आस्तिक्य= 'अस्ति आत्मादिपदार्थः' इति एषा मतिः यस्य स आस्तिकः, तस्य भावः कर्म वा।

सू. तन्निसर्गादधिगमाद् वा 1-3 ॥

अ. वह सम्यग्दर्शन निसर्ग या अधिगम से उत्पन्न होता है, प्रगट होता है।

भा. वह सम्यग्दर्शन दो प्रकार वाला है - निसर्ग सम्यग्दर्शन और अधिगम सम्यग्दर्शन। निसर्ग अथवा अधिगम से वह प्रगट होता है, इस प्रकार दो हेतु वाला, दो प्रकार वाला है। निसर्ग, परिणाम, स्वभाव, अपरोपदेश (पर उपदेश बिना), ये एकार्थक शब्द हैं। ज्ञान और दर्शन के उपयोग रूप लक्षण वाला जीव है, वह कहा जाएगा। अनादि काल से संसार में परिभ्रमण करते, नारक तिर्यंचयोनि-मनुष्य-देव भवों में स्वकृत कर्म के बंध-निकाचना-उदय की अपेक्षा वाले पुण्य-पाप के फल को अनुभवते ऐसे जीव को ज्ञान-दर्शन के उपयोग के स्वाभाविक

DATE / / 3.

पन से उन-उन परिणाम-अध्यवसाय के अन्य स्थानों को प्राप्त करते हुए, अनादि से मिथ्यादृष्टि जीव को भी परिणाम विशेष से अपूर्वकरण इस प्रकार से न होता है, जिससे उपदेश बिना ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, व यह निसर्ग सम्यग्दर्शन। अधिगम, अभिगम, आगम, निमित्त, श्रवण, शिक्षा, उपदेश एकार्थक शब्द हैं। इस प्रकार पर के उपदेश से जो तत्त्वार्थश्रद्धा होती है, वह अधिगम सम्यग्दर्शन है।

अग्राह- 'तत्त्वार्थश्रद्धा सम्यग्दर्शन है' ऐसा कहा। उसमें तत्त्व क्या है? यहाँ कहते हैं-

सू. जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् 1-4॥

स. जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष - ये 7 तत्त्व हैं।

भा. जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इस प्रकार यह 7 प. का अर्थ तत्त्व (ii) है। अथवा ये पदार्थ तत्त्व हैं। इन्हें लक्षण और विधान से आगे विस्तारपूर्वक कहेंगे।

टी. (ii) तत्त्व → व्युत्पत्तिअर्थ= तथ्य, सद्भूत, परमार्थ।

व्युत्पत्ति अर्थ= जीवादि अर्थों की जो सत्ता, वही तत्त्व। यह सत्ता सामान्य से सभी पदार्थों में एक ही होती है, इसलिए 'तत्त्वम्' सूत्र में एक व. का ग्रहण किया है। वस्तु के धर्मों से वह प्रतिवस्तु में भिन्न होती है।

सू. नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः 1-5॥

उ. नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव से उन तत्त्वों का न्यास=निक्षेप होता है।

भा. नामादि 4 अनुयोग द्वारों द्वारा इन जीवादि तत्त्वों का न्यास होता है। विस्तार पूर्वक लक्षण और विधान से ज्ञान करने के लिए न्यास= निक्षेप होता है; वह इस प्रकार- नाम जीव, स्थापना जीव, द्रव्य जीव, भाव जीव। नाम, संज्ञाकर्म (ii) एकार्थक शब्द हैं। चेतना-वाले या अचेतना वाले द्रव्य का 'जीव' इस प्रकार नाम किया जाए, वह नामजीव। जो काष्ठ, पुस्तक, चित्रकर्म, अक्षनिक्षेपादि में 'जीव' स्थापन किया जाए, वह स्थापना जीव; जैसे देवता की प्रतिकृति, इंद्र, रुद्र, स्कंद, विष्णु। द्रव्य जीव= प्रज्ञा (बुद्धि) में स्थापित किया हुआ, अनादिपारिणामिकभाव से युक्त, गुण (ii) पर्याय से रहित जीव द्रव्यजीव कहा जाता है अथवा यह भंगा शून्य है क्योंकि जिस अजीव का जीवत्व भव्य हो, वह द्रव्य जीव होता किंतु यह अनिष्ट है। भाव से जीव औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-औदयिक-पारिणामिक

DATE ___/___/_____

भाव से युक्त, उपयोग लक्षण वाले, संसारी और मुक्त-दो प्रकार वाले कहे जाएंगे। इस प्रकार (iii) सभी पदार्थों में जानना। अथवा अन्य पर्याय से द्रव्य शब्द के निक्षेप- नाम द्रव्य, स्थापनाद्रव्य, द्रव्यद्रव्य, भावद्रव्य। जिस जीव या अजीव का नाम 'द्रव्य' किया जाए, वह नाम द्रव्य। जो काष्ठ-पुस्तक-चित्रकर्म-अक्षनिक्षेपादि में स्थापित किया जाए, वह स्थापना द्रव्य, जैसे-देवता की प्रतिकृति इंद्र, रुद्र, स्कंद, विष्णु कही जाती है। गुण-पर्याय से रहित, पूजा स्थापित धर्मादि में से कोई एक द्रव्यद्रव्य कहा जाता है। कुछ अन्य आचार्य कहते हैं- जो द्रव्य से द्रव्य होता है, वह पुद्गलद्रव्य ही जानना; अणवः स्कन्धाश्च, सद्द्रव्यलक्षणेभ्यः उत्पद्यन्ते इस प्रकार कहेंगे। भाव से गुण-पर्याय सहित, (iv) प्राप्ति के लक्षण वाले धर्मादि द्रव्य होते हैं। आगम में प्राभृत को जानने वाले द्रव्य को भव्य कहते हैं, 'द्रव्य' शब्द भव्य अर्थ में है, भव्य यानि प्राप्य क्योंकि भू धातु प्राप्ति अर्थ में आत्मनेपद है। इस प्रकार जो प्राप्त किए जाते हैं या प्राप्त होते हैं, वे द्रव्य कहलाते हैं। इस प्रकार अनादि और आदि वाले जीवादि से मोक्ष अंत वाले सभी तत्त्वभावों के तत्त्व के ज्ञान के लिए न्यास करना चाहिए।

टी: (i) संज्ञाकर्म = नाम करण।

(ii) गुण = साथ में ही होने वाले ज्ञान-दर्शन-सुखादि। पर्याय = क्रमभावी मनुष्यादि।

(iii) द्रव्यसम्यग्दर्शन- मिथ्यादर्शन के वे पुद्गल जो भविष्य में शुद्ध होंगे; भाव- ये ही पुद्गल आत्म परिणाम को प्राप्त हुए। द्रव्यज्ञान- अनुपयुक्त अवस्था; भाव- उपयोग परिणति विशेष अवस्था। द्रव्यचारित्र- अभव्य का अथवा अनुपयुक्त भव्य का; भाव- उपयुक्त ~~भव~~भव्य का आगमपूर्वक क्रियानुष्ठान। इत्यादि।

(iv) प्राप्तिलक्षण = परिणाम के लक्षण अर्थात् अन्य अन्य पर्यायाधर्म को प्राप्त करते हैं। जैसे- जीव देव-मनुष्यादि, अजीव में धर्मादि तीन, में जीव अथवा पुद्गल के अन्य अवगाह में जाने पर गमनादि के परिणाम का उपचार किया जाता है, पुद्गल कृष्णादि।

सू: प्रमाणनयैरधिगमः ।-6॥

अ. प्रमाण और नयों द्वारा अधिगम (ज्ञान) होता है।

भा. नामादि से न्यस्त, यथा उद्दिष्ट जीवादि तत्त्वों का विस्तार पूर्वक ज्ञान प्रमाण और नयों से होता है। वहाँ प्रमाण दो प्रकार का- परोक्ष और प्रत्यक्ष कहा जाएगा। कुछ (i) आचार्य

DATE __/__/__

अन्य नय की अपेक्षा से 4 प्र.[ii] का प्रमाण कहते हैं। और नय नैगमादि आगे कहे जाएँगे।

टी. (i) नंदीसूत्र में प्रमाण के दो प्र.- परोक्ष, प्रत्यक्ष। अनुयोगद्वार सूत्र में प्रमाण 4 प्र.।

(ii) 4 प्रकार- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम।

प्रा. किंचान्यत्= अधिगम के अन्य उपाय-

सू. निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः 1-7॥

उ. निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान से जीवादि तत्त्वों का ज्ञान होता है।

भा. इन निर्देशादि 6 अनुयोगद्वारों द्वारा जीवादि तत्त्व रूप सभी भावों का विस्तार पूर्वक ज्ञान होता है। वह इस प्रकार-

निर्देश[i]- जीव कौन[ii] है? औपशमिकादि भाव युक्त द्रव्य जीव है।[iii]

टी. (i) सामान्यार्थाभिधानमुद्देशः, तद्विशेषप्रतिपिपादयिषया वचनं निर्देशः।

(ii) जीव कौन है अर्थात् जीव द्रव्य है, गुण है अथवा क्रिया है? इस प्रकार निर्देश में यह प्रश्न किया जाता है।

(iii) स्वामित्वादि द्वार ग्रंथगौरव भय से भाष्यकार ने नहीं कहे, टीकाकार कहते हैं।

भा. सम्यग्दर्शन की परीक्षा में सम्यग्दर्शन क्या है? द्रव्य[i] है, सम्यग्दृष्टि[ii] जीव स्कंध[iii] भी नहीं है, ग्राम भी नहीं है[iv], रूपी भी नहीं है।

टी. (i) जिसके लिए यह शास्त्र प्रवृत्ति की है, उसमें निर्देशादि को जोड़ते हैं-

(ii) जीव द्वारा शुभ अध्यवसाय विशेष से जो पुद्गल विशुद्ध कर प्रतिसमय उपभोग किए जाते हैं, वे सम्यग्दर्शन के निमित्त हैं; कारण में कार्य के उपचार से वे द्रव्य सम्यग्दर्शन कहलाते हैं। अथवा मुख्यवृत्ति से ज्ञानचक्षुण वाला, श्रद्धासंवेगादिरूप रुचि आत्म-परिणाम सम्यग्दर्शन है; द्रव्यनय से वह आत्मद्रव्य ही जानना, पर्यायनय से गुण।

(iii) क्षायिक सम्यक्त्व वाले जीव सम्यग्दृष्टि और अन्य सम्यक्त्व वाले सम्यग्दर्शनी।

(iv) दर्शन मोहनीय कर्म नहीं होने से सम्यग्दृष्टि जीव को स्कंध, ग्राम और रूप नहीं है।

प्रा. स्वामित्व- सम्यग्दर्शन किसका है? यह आत्मसंयोग[i], पर संयोग[ii] और उभय संयोग[iii] से होता है, इस प्रकार कहना चाहिए।

टी. (i) मुख्यता से जहाँ यह सम्यग्दर्शन होता है, उसी का कहा जाता है; व्यवहार के लिए

DATE ___/___/_____

उसके निमित्त में भी आश्रित किया जाता है।

(ii) आत्मसंबंध से जीव ही सम्यग्दर्शन का स्वामी है।

(iii) जो सम्यग्दर्शन पर निमित्त (साधु, प्रतिमादि वस्तु) से होता है, वह तत्कर्तृक होने से, उसमें भी व्यपदेश किया जाता है। इससे 6 भांगे होंगे।

(iv) जो सम्यग्दर्शन स्वयं आत्मा और साधु आदि पर निमित्त द्वारा विवक्षित किया जाता है, वह दोनों के संयोग से उभय संयोगी कहा जाता है। उसके दोनों स्वामी होते हैं।

आ. आत्मसंबंध से सम्यग्दर्शन आत्मा का ही है। पर संयोग से जीव[i] का, अजीव[ii] का, दो जीव[iii] का, दो अजीव का, बहुत जीवों का, बहुत अजीवों का, इस प्रकार विकल्प हैं।

इ. (i) यदि इस जीव को किसी एक मुनि के आलंबन से रुचि स्वरूप सम्यग्दर्शन हो।

(ii) यदि इस जीव को किसी एक अजीव (प्रतिमादि) के आलंबन से सम्यग्दर्शन हो।

(iii) इसी प्रकार अन्य भांगे घटाना।

आ. उभय संयोग से जीव[i] का, अजीव[ii] का, दो जीव[iii] का, दो अजीव[iv] का, बहुत जीवों का, बहुत अजीवों का इस प्रकार इन ये विकल्प नहीं होते, शेष होते हैं।

(i) जीव का सम्यग्दर्शन, इस प्रकार कहने पर वहाँ मात्र स्वसंयोग होता है, पर संयोग नहीं। इसी प्रकार अजीव का घटाना, मात्र पर संयोग।

(ii) मेरा सम्यग्दर्शन, इसका सम्यग्दर्शन, इस प्रकार दोनों जीव के स्व स्वयं के सम्यग्दर्शन यहाँ विवक्षित होने से यहाँ मात्र स्व संयोग है। इसी प्रकार दो प्रतिमा के आलंबन से प्रगटे सम्यग्दर्शन में मात्र पर संयोग है।

(iii) बहुत जीवों के स्वयं का सम्यग्दर्शन विवक्षित होने से मात्र स्व संयोग। इसी प्रकार से बहुत अजीवों का निमित्त होने से मात्र पर संयोग।

(iv) शेष 6 भांगे संभव हैं। ⓐ जीव को सम्यग्दर्शन जीव के निमित्त से- यहाँ प्रथम जीव को जो सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है, वह प्रथम जीव (स्व संयोग) और द्वितीय जीव (पर) दोनों में विवक्षित है। इसी प्रकार ⓑ जीव को सम्यग्दर्शन दो साधु के निमित्त से ⓒ जीव को सम्यग्दर्शन बहुत साधुओं के निमित्त से ⓓ जीव को सम्यग्दर्शन अजीव के निमित्त से ⓔ जीव को सम्यग्दर्शन दो अजीव के निमित्त से ⓕ जीव को सम्यग्दर्शन बहुत अजीवों के निमित्त से।

DATE ___/___/ 67

भा. साधन- सम्यग्दर्शन किससे होता है? निसर्ग से अथवा अधिगम से होता है, इस प्रकार कहा। उसमें निसर्ग पहले कहा। सम्यक् व्यायाम अधिगम है। दोनों ही सम्यग्दर्शन उसे आवरण करने वाले कर्म के क्षय से, उपशम से और क्षयोपशम से होते हैं।

टी.
(i) गुर्वादि के पास अभ्यास करने वाले में सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करने में समर्थ ऐसी जो शुभ क्रिया होती है, वह।

(ii) तदावरणीय= रुचि लक्षण वाले ज्ञान के आवरणीय कर्म। आवरणीय शब्द का ज्ञान-दर्शन सिवाय और कहीं व्यवहार नहीं होता, अतः ज्ञान ही लेना है। अनन्तानुबंधि कषाय आदि निमित्त पन से आवरणीय है क्योंकि अनन्तानुबंधि आदि प्रकृतियाँ उपशान्त होने पर ही मतिज्ञानावरणीय कर्म क्षयोपशम की अवस्था को प्राप्त करता है।

(iii) प्र. मतिज्ञानावरणीय कर्म का ४ उपशम तो होता ही नहीं है। उ. मोहनीय के उपशम से मतिज्ञानावरणीय कर्म का क्षय अथवा क्षयोपशम होता है।

(iv) प्र. निसर्ग और अधिगम इस प्रकार की रुचि उत्पन्न नहीं करते हैं? उ. निसर्ग-अधिगम से कर्म के क्षयोपशमादि और क्षयोपशमादि से निसर्ग- अधिगम, इस प्रकार परस्पर संबंध है। इसलिए विशुद्ध-विशुद्धतर क्षयोपशम को प्रगट करते निसर्ग- अधिगम द्वारा जब विशिष्ट क्षयोपशम प्रगट हो जाता है, उस विशिष्ट क्षयोपशम से सम्यग्दर्शन होता है।

भा. अधिकरण तीन प्रकार का है- आत्मसन्निधान, परसन्निधान, उभयसन्निधान से। आत्म-सन्निधान यानि अभ्यंतर सन्निधान। पर सन्निधान यानि बाह्य सन्निधान। उभय सन्निधान यानि बाह्य- अभ्यंतर सन्निधान।

(i) अधिकरण यानि आधार। दर्शन मुख्यतः आत्मा में रहता है अतः वही आधार है किंतु उपचार से जिस वस्तु के आलंबन से वह प्रगट हुआ, उसमें भी विवक्षित किया जाता है।

(ii) आत्मा ही अभ्यंतर सन्निधान।

(iii) बाह्य प्रतिमादि वस्तु

भा. किसमें सम्यग्दर्शन है? आत्मसन्निधान में, पर सन्निधान में, उभय सन्निधान में। आत्मसन्निधान में तो जीव में सम्यग्दर्शन, जीव में ज्ञान, जीव में चारित्र, इस प्रकार अन्य गुणों में भी (इत्यादि)। बाह्य सन्निधान में जीव में सम्यग्दर्शन, अजीव में सम्यग्दर्शन इस प्रकार पूर्ववत् विकल्प हैं। उभय सन्निधान में भी यथासंभव और स्वयमूत

DATE ___/___/___

विकल्प पूर्वोक्त जानना।

(i) स्वामित्व में कहे अनुसार

(ii) स्वामित्व में कहे अनुसार।

भा. स्थिति- सम्यग्दर्शन कितने काल होता है। सम्यग्दृष्टि -दो प्रकार वाली है। सादि-सपर्यवसान और सादि-अपर्यवसान। सम्यग्दर्शन सादिसपर्यवसान ही है। वह सम्यग्दर्शन जघन्य से अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से साधिक 66 सागरोपम तक रहता है। सादि-अपर्यवसान सम्यग्दृष्टि सयोगी केवली, शैलेशी प्राप्त केवली और सिद्ध होते हैं।

टी.
(i) श्रेणिकादि छद्मस्थ की अपेक्षा से- जब उन्होंने दर्शन मोहनीय का क्षय किया तब आदि, जब मतिज्ञानावरणीयादि कर्म खपाकर केवलज्ञान उत्पन्न होगा तब अंत।

(ii) भवस्थकेवली और सिद्ध की अपेक्षा से- दर्शन मोहनीय और मतिज्ञानावरणीयादि कर्म खपाकर केवलज्ञान प्राप्त किया तब आदि और अंत तो होने वाला नहीं है।

(iii) कोई जीव 8 वर्ष की उम्र में सम्यग्दर्शन प्राप्त करे। फिर दीक्षा लेकर। पूर्व कोटी वर्ष आयु पूर्णकर विजयादि 4 अनुत्तर विमान में उत्पन्न हो। 33 सागर की उत्कृष्ट स्थिति भोगकर सम्यग्दर्शन सहित मनुष्य भव में उत्पन्न हो। पूर्व कोटी वर्ष पूर्ण कर उसी प्रकार देव विमान में उतनी ही स्थिति प्राप्त करे। फिर मनुष्य भव में आकर अवश्य सिद्ध होता है। इस प्रकार 66 सागर + 2 पूर्व कोटी वर्ष।

(iv) शिलानां समूहा: शैला: तेषां ईश: शैलेश: मेरु: तस्य भाव: शैलेशी अचलता।

भा. विधान- हेतु की त्रिविधता से क्षयादि तीन प्रकार का सम्यग्दर्शन है। तदावरणीय कर्म और दर्शन मोहनीय के क्षयादि से। वह इस प्रकार - क्षय सम्यग्दर्शन, उपशम सम्यग्दर्शन, क्षयोपशम सम्यग्दर्शन। और यहाँ औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक की बाद-बाद में विशुद्धि का प्रकर्ष है।

टी.
(i) साधन द्वार में क्षयादि भेद बता दिए तो यहाँ फिर से क्यों ? उ. वहाँ कारण या निमित्त के भेद बताए थे, यहाँ उस निमित्त से जो कार्य उत्पन्न हुआ, उस कार्य के भेद बताएँगे।

(ii) तदावरणीय = तस्य सम्यग्दर्शनस्य आवरणीय मतिज्ञानादि आवरणीय कर्म।

(iii) दर्शन मोहनीय = दर्शन सप्तक।

(iv) औपशमिक सम्यग्दर्शन सबसे अधिक मैत्या है क्योंकि बहुत अल्प काल (अंतर्मुहूर्त) वाला है तथा

DATE / / 9

फिर से मिथ्यात्व में ले जाने वाला है। उससे अधिक विशुद्ध क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन है क्योंकि अधिक काल की स्थिति वाला तथा वस्तु का स्पष्ट ज्ञान करने वाला है। क्षायिक सम्यग्दर्शन विशुद्धतम है क्योंकि वह सर्व काल की स्थिति वाला तथा वस्तु का अधिक स्पष्ट ज्ञान करने वाला है।

भा. किंचान्यत्- अधिगम के अन्य उपाय-

सू. सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च 1-8॥

अ. सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्श, काल, अंतर, भाव, अल्पबहुत्व से भी जीवादि तत्वों का ज्ञान होता है।

भा. सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्श, काल, अंतर, भाव, अल्पबहुत्व इस प्रकार सद्भूतपद प्ररूपणा आदि इन आठ अनुयोग द्वारों से सभी भावों का विस्तार से अधिगम (ज्ञान) होता है।

यदि कैसे? तो कहा जाता है-

सत्- सम्यग्दर्शन है या नहीं है। है इस प्रकार कहा जाता है। कहाँ है, इस प्रकार यदि कोई पूछे तो कहते हैं- अजीवों में तो नहीं है, जीवों में विकल्प से है। वह इस प्रकार- (i) गति (ii) इंद्रिय (iii) काय (iv) योग (v) कषाय (vi) वेद (vii) लेश्या (viii) सम्यक्त्व (ix) ज्ञान (x) दर्शन (xi) चारित्र (xii) आहार (xiii) उपयोग, इन 13 अनुयोग द्वारों में यथासंभव सद्भूत प्ररूपणा करना चाहिए

(i) गति- नरक-तिर्यंच देव गति में क्षायिक और क्षायोपशमिक, मनुष्य में तीनों भेद। चारों गति में प्रतिपन्न एवं और प्रतिपद्यमान जीव होते हैं।

(ii) इंद्रिय- एकेंद्रिय में नहीं। द्वि-त्रि-चतुर्- असंज्ञी पंचेंद्रिय में सास्वादन सम्यक्त्व की अपेक्षा से प्रतिपन्न, प्रतिपद्यमान नहीं। संज्ञी पंचेंद्रियों में दोनों। (कार्मग्रंथिक मत में बादर पृथ्वी, अप्, प्रत्येक वनस्पति में भी सास्वादन)

(iii) काय- पृथ्वी अप् तेजु वायु वनस्पति में नहीं। द्वि-त्रि-चतुर्- असंज्ञी पंचेंद्रिय में प्रतिपन्न, संज्ञी पंचेंद्रिय में दोनों।

(iv) योग- काय योग वाले (एकेंद्रिय) में नहीं, वचन-काय योग वाले में प्रतिपन्न, मन-वचन-काया योग में दोनों

(v) कषाय- अनन्तानुबंधी के उदय में नहीं, शेष कषाय में दोनों।

(vi) वेद- स्त्री और पुरुषवेद में दोनों। नपुं. वेद में एकेंद्रिय में नहीं, द्वि त्रि चतुर् असंज्ञी पंचेंद्रिय में प्रतिपन्न संज्ञी पंचेंद्रियों में दोनों।

(vii) लेश्या- अंतिम तीन लेश्या में नारक-तिर्यंच-मनुष्य-देवों में दोनों। आद्य तीन लेश्या में प्रतिपन्न।

DATE ___/___/_____

(viii) सम्यक्त्व - निश्चय नय से जो सम्यग्दृष्टि होते हैं, उन्हें ही उन्हें सम्यग्दर्शन होता है क्योंकि यदि नहीं होता तो प्रगट कहाँ से होता ? खरगोश के सींग जैसा। व्यवहार से मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं।

(ix) ज्ञान - निश्चय से ज्ञानी, व्यवहार से अज्ञानी सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है।

(x) दर्शन - संज्ञी पंचेंद्रिय चक्षुदर्शन वाले या अचक्षुदर्शन वाले में दोनों। अचक्षुदर्शन वाले पृथ्वी आदि ५ में ~~होते~~ नहीं। शेष में प्रतिपन्न हैं।

(xi) चारित्र - चारित्री पूर्वप्रतिपन्न ही, अचारित्री प्रतिपन्न और प्रतिपद्यमान दोनों।

(xii) आहार - आहारक जीवों में दोनों, विग्रह गति रूप अनाहारक जीवों में प्रतिपद्यमान।

(xiii) उपयोग - साकारोपयोग वाले प्रतिपन्न और प्रतिपद्यमान, अनाकारोपयोग वाले पूर्व प्रतिपन्न ही, प्रतिपद्यमान नहीं। प्रज्ञापना सूत्र - 'सर्वा: किल लब्धय: साकारोपयोगो-पयुक्तस्य भवन्ति।'

भा. संख्या - सम्यग्दर्शन कितने होते हैं ? संख्येय, असंख्येय या अनन्त ? कहते हैं - सम्यग्-दर्शन वाले असंख्य हैं, सम्यग्दृष्टि तो अनन्त हैं।

टी. ~~यहाँ टीकाकार ने केवली और सिद्ध का ग्रहण किया किंतु सूत्र ८-१ में निर्देश द्वार की टीका में क्षायिक सम्यक्त्वी का ग्रहण किया था। यदि यहाँ क्षायिक सम्यक्त्वी लेवें तो भी कोई अच्छा नहीं है।~~

भा. क्षेत्र - सम्यग्दर्शन कितने क्षेत्र में है ? लोक के असंख्यात वें भाग में।

टी. (i) यहाँ एक सम्यग्दृष्टि जीव की अपेक्षा से कहा है। अथवा सभी सम्यग्दृष्टियों को ग्रहण करे तो भी कुछ अधिक असंख्यातवां भाग हो सकता है।

भा. स्पर्शन - सम्यग्दर्शन (i) द्वारा क्या स्पर्श किया हुआ है ? लोक का असंख्यातवां भाग, (ii) 8/14 देशोन, सम्यग्दृष्टि द्वारा तो पूरा (iii) लोक।

(i) एक जीव की अपेक्षा से।

(ii) ~~१२वें~~ सहस्रार नामक देवलोक का देव यदि ऊपर १२वें देवलोक तक तथा नीचे तीसरी नरक तक जाए तो देशोन 8/14 लोक (14 में से 8 राजलोक) स्पर्शता है।

(iii) केवली समुद्घात के चौथे समय में।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है - सम्यग्दृष्टि और सम्यग्दर्शन में क्या विशेष है ? कहते हैं - अपाय और सद्व्यता से सम्यग्दर्शन होता है। (i) उपाय = आभिनिबोधिकज्ञान, व उसके

DATE __/__/11

साथ योग से सम्यग्दर्शन होता है (तद्योगात् = तेन अपायेन योग: तद्योग: तस्मात्) वह (अपाय और सद्द्रव्यता के से जनित सम्यग्दर्शन) केवली को नहीं होता। इसलिए केवली सम्यग्दर्शनी नहीं है किंतु सम्यग्दृष्टि है।

टी. (ii) अपाय यानि आभिनिबोधिक (मतिज्ञान) का तीसरा भेद, जो निश्चय स्वरूप है (अवग्रह-ईहा-अपाय-धारणा)।

(ii) सद्द्रव्यता = मिथ्यादर्शन के शुद्ध किए हुए दलिक, जो सम्यग्दर्शनता स्वरूप परिणामित कर दिए गए हैं। [अपायसद्द्रव्यतया → यहाँ इत्थंभूतलक्षण अर्थ में तृतीया है।]

भा. काल- सम्यग्दर्शन कितने काल तक होता है? यहाँ कहते हैं- वह (सम्यग्दर्शन) एक जीव से और बहुत जीवों से परीक्षा करने योग्य है। वह इस प्रकार- एक जीव के प्रति ~~मन~~ अंतर्मुहूर्त, जघन्य से, उत्कृष्ट से साधिक ६६ सागरोपम। बहुत जीवों के प्रति सर्व काल में है।(iii)

टी. (i) एक जीव के अपाय से और बहुत जीवों के अपाय से।

(ii) महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा से अव्यवच्छेद होने के कारण।

(iii) यह तो क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की स्थिति हुई, औपशमिक की अंतर्मुहूर्त और क्षायिक की सदाकाल स्थिति है।

भा. अन्तर- सम्यग्दर्शन का विरहकाल क्या है? एक जीव के प्रति जघन्य से अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट से अर्धपुद्गलपरावर्त से कुछ न्यून। नाना जीव प्रति अंतर नहीं होगा।

टी. (i) जगत् में जितने परमाणु हैं, वे सब औदारिकादि पन से परिभोग कराए, वह पुद्गलपरावर्त काल। यह औदारिक, वैक्रिय, तैजस, भाषा, प्राणापान, मन, कर्म के भेद से ७ प्रकार का है। अर्ध शब्द समप्रतिभाग अर्थ में है, उपगत: अर्धं इति उपार्ध:, अर्ध के पास गया हुआ अर्थात् अर्ध से कुछ न्यून।

भा. भाव- औपशमिकादि में से किन भाव में होता है? कहते हैं- औदयिक और पारिणामिक छोड़कर तीन भावों में सम्यग्दर्शन होता है।

भा. अल्पबहुत्व- तीनों भावों में वर्तित सम्यग्दर्शन की तुल्य संख्या पन है या अल्पबहुत्व है? कहते हैं- सबसे थोड़ा औपशमिक सम्यग्दर्शन है। क्षायिक(ii) सम्यग्दर्शन उससे असंख्य गुण है। क्षायोपशमिक उससे भी असंख्य गुण है। सम्यग्दृष्टि तो अनंत गुण है।

टी. (i) यहाँ श्रेणिकादि छद्मस्थ की अपेक्षा लेना।

DATE ___/___/___

भा. इस प्रकार सभी भावों का नामादि द्वारा न्यास करके प्रमाणादि द्वारा अभिगम (ज्ञान) करना चाहिए। सम्यग्दर्शन कहा गया। ज्ञान कहेंगे-

सू. मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् 1-9॥

अ. मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल ये ज्ञान हैं।

भा. मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, केवलज्ञान इस प्रकार यह मूल विधान (भेद) से 5 प्रकार का ज्ञान है। इसके प्रभेद तो आगे कहेंगे।

A.

(i) जैसे सूत्र 1-1 में एकव. का ग्रहण समस्त अर्थ बताने के लिए कहा था इसलिए क्या यहाँ भी 5 पाँचों मिलाकर ही ज्ञान है? नहीं, किंतु 'ज्ञानं वक्ष्यामः' ऐसी प्रतिज्ञा एकव. होने से सूत्र में एकव. कहा और भाष्य में 5 अलग बताए।

(ii) मतिज्ञान- मतिश्चसा ज्ञानं च इति मतिज्ञान। इन्द्रिय और अनिन्द्रिय के निमित्त से उत्पन्न ~~मति~~ मति के साथ समानाधिकरण वाला ज्ञान। चक्षुरादि इन्द्रिय से जो अनक्षर उपलब्धि, वह मतिज्ञान।

(iii) श्रुतज्ञान- शब्द सुनते हुए, बोलते हुए अथवा पुस्तकादि में लिखे हुए को चक्षु से देखते हुए अथवा घ्राणादि इंद्रियों द्वारा अक्षर को प्राप्त करते हुए जो ज्ञान वह श्रुतज्ञान।

(iv) अवधिज्ञान- अव शब्द अधो अर्थ में, नीचे के विस्तृत विषय वाला अनुत्तर-औपपातिकादि का जो ज्ञान अथवा अवधि=मर्यादा- अमूर्तद्रव्य छोड़कर मूर्तद्रव्य में ही बंधन वाला ज्ञान, अवधिज्ञान। यह चारों गति में, इंद्रिय निरपेक्ष, विशिष्ट क्षयोपशम के निमित्त वाला, पुद्गल परिच्छेदी ज्ञान है।

(v) मनःपर्यायज्ञान- मन 2 प्र. (a) द्रव्य मन- मनोवर्गणा (b) भावमन- उस वर्गणा को जीव ग्रहण कर मनरूप, विचाररूप परिणमन करे। यह ज्ञान भावमन रूप वर्गणा को ग्रहण करता है तथा वर्गणा के आकार से कौन सा द्रव्य सोचा, वह अनुमान करता है।
[एक नय की अपेक्षा से द्रव्यमन=वर्गणा, भावमन=जीव के अध्यवसाय, इस भाव मन को यहाँ नहीं लेना क्योंकि अध्यवसाय तो अमूर्त है।]

(vi) केवलज्ञान- केवल यानि सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थ का ज्ञान अथवा केवल यानि एक, जिसके कोई प्रभेद नहीं।

DATE __/__/13

सू. तत् प्रमाणे 1-10॥

अ. यह ज्ञान दो प्रमाण स्वरूप है।

भा. यह पाँचों प्रकार का ज्ञान दो प्रमाण स्वरूप है - परोक्ष और प्रत्यक्ष। (तत् = एतत्)

टी. (i) परैः इन्द्रियैः उक्षा-सम्बन्धः यस्य ज्ञानस्य तत् परोक्षं।

(ii) इन्द्रियादिनिरपेक्षं आत्मनः एव उपजायते तत् प्रत्यक्षम्।

सू. आद्ये परोक्षम् 1-11॥

अ. पहले दो ज्ञान परोक्ष हैं।

भा. आदि में होने वाला भाग। सूत्र के क्रम की प्रमाणता से प्रथम और द्वितीय ज्ञान को सूत्रकार शासित करते हैं (निर्दिष्ट करते हैं)। वह इस प्रकार - मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं। कैसे? निमित्त (i) की अपेक्षा होने से। मतिज्ञान अपाय (ii) और सद्भूतता से होता है। वह मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (iii) के निमित्त वाला है इस प्रकार कहेंगे। मतिज्ञान पूर्वक होने से और पर (iv) के उपदेश से उत्पन्न होने के कारण श्रुतज्ञान परोक्ष है (v)।

टी. (i) प्र. निमित्त की अपेक्षा रूप हेतु अनैकान्तिक है, क्योंकि आंतर निमित्त की अपेक्षा अवधि ज्ञान को, मनःपर्यय ज्ञान को भी आंतर क्षयोपशम की अपेक्षा और समस्तावरणकर्म क्षय रूप निमित्त की अपेक्षा केवलज्ञान को है? उ. यहाँ सविशेष हेतु लेना है। वह सविशेष हेतु आगे कहते हैं अपायसद्भूतत्वादि।

(ii) मतिज्ञान के अवग्रहादि भेद में अपाय प्रमाण है, अवग्रह-ईहा अनिश्चित होने से प्रमाण नहीं है।

(iii) अनिन्द्रिय यानि मन और ओघज्ञान। पीछे चलते हुए सर्प को देखना, लतादि का नीचे की खिसकना वि. ओघज्ञान है।

(iv) पर यानि तीर्थंकरादि, उनके उपदेश से प्रगट होने वाला।

(v) ये ज्ञान निश्चय से परोक्ष हैं किन्तु व्यवहार से विषय प्रत्यक्ष होने से प्रत्यक्ष भी कहे जाते हैं, अवधि आदि ३ ज्ञान एकांत से प्रत्यक्ष हैं।

DATE __/__/____

सू. प्रत्यक्षमन्यत् 1-12॥

अ. अन्य ज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

भा. मति और श्रुतज्ञान से जो अन्य प्रकार का ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। कैसे? मतीन्द्रिय होने के कारण। ज्ञात किए जाएँ या यथावत् निश्चित किए जाएँ ~~भी~~ अर्थ जिनके द्वारा, वे प्रमाण। यहाँ[(i)] कहते हैं- यहाँ यह अवधारित (निश्चित) है- दो ही प्रमाण हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष।

वि.

(i) प्र. प्रमाणानि ऐसा बहुवचन क्यों किया? क्या प्रमाण दो से अधिक हैं? इसका उत्तर- दो ही हैं। यहाँ मति आदि 5 होने से बहुवचन है।

भा. अनुमान[(i)], उपमान[(ii)], आगम[(iii)], अर्थापत्ति[(iv)], संभव[(v)], अभाव[(vi)] भी प्रमाण हैं इस प्रकार कुछ मानते हैं। वह कैसे इस प्रकार हैं? (टीका में इतत् का अर्थ इत्येवं किया है।)

वि.

(i) अनुमान = पक्ष धर्म अन्वय व्यतिरेक से उत्पन्न ज्ञान।

(ii) उपमान = प्रसिद्ध साधर्म्य से साध्य-साधन स्वरूप ज्ञान।

(iii) आगम = आप्तोपदेश आगम। इसके अनुसार होने वाला ज्ञान।

(iv) अर्थापत्ति = 2 प्रकार। ⓐ शब्दार्थापत्ति- देवदत्त दिन में नहीं खाता अर्थात् रात में खाता है। ⓑ अर्थार्थापत्ति- नीला देखते हुए व्यक्ति को जो कोई भी इंद्रिय

(v) संभव = प्रस्थ में कुडव है, इस प्रस्थ नामक आधार में कुडव आधेय संभव है इस युक्ति संभव प्रमाण।

(vi) अभाव = जिस विषय में प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अप्रवृत्ति है, वह अभाव। तद्विषयक ज्ञान भी अभाव।

भा. यहाँ कहते हैं- ये सभी प्रमाण इंद्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष[(i)] रूप निमित्त होने से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में अन्तर्भूत हैं। और दूसरा- वे अप्रमाण ही हैं। कैसे? मिथ्यादर्शन[(ii)] का परिग्रह होने से और विपरीत[(iii)] उपदेश होने से।

(i) प्र. अनुमानादि में सन्निकर्ष कैसे होता है? उ. अनुमान चक्षु आदि इंद्रिय से धूमादि का सन्निकर्ष होने पर ही संभव है। इसी प्रकार उपमान गवयादि का, आगम श्रोत्रेन्द्रिय, मन या आप्तवचन का, अर्थापत्ति भी शब्द और जीत्वादि रूप का, संभव प्रस्थ को देखकर, अभाव भी मन से कल्पना या अनुमान द्वारा सन्निकर्ष

DATE __/__/15

होने पर संभव है।

(ii) एक नय का आश्रय करने से मिथ्या दर्शन।

(iii) एक नय के आश्रय से नानाधर्म वाली सत् वस्तु को एक धर्म स्वरूप विपरीत कहना।

भा. मिथ्या दृष्टि का मति-श्रुत- अवधि ज्ञान निश्चय से अज्ञान ही है, इस प्रकार कहा जाएगा। ~~अन्य नय की अपेक्षा से~~ नयों के भेद से जिस प्रकार मति-श्रुत के विकल्प (भेद) से उत्पन्न होने वाले प्रमाण होते हैं, उस प्रकार आगे कहेंगे। (अन्तर = भेद)

टी. (i) यदि वे अप्रमाण ही हैं तो मति-श्रुत में अन्तर्भूत कैसे होते हैं? उ. नय के भेदसे।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है- मत्यादि ज्ञानों को उद्देश कर आपके द्वारा कहा गया था कि उन्हें विधान और लक्षण से आगे विस्तार पूर्वक कहेंगे। वह कहो। यहाँ कहते हैं

टी. (i) विधान यानि भेद। लक्षण यानि असाधारण चिह्न।

(ii) लक्षण का विचार सत्य होने से आगे सूत्र में मतिज्ञान का लक्षण कहते हैं अथवा मतिज्ञान का लक्षण प्रसिद्ध होने से नहीं कहते किन्तु लक्षण 2 प्रकार का है- ⓐ तत्स्थ = अग्नि में उष्णता जैसे; ⓑ अतत्स्थ = पानी का हंसादि जैसे। तो यहाँ मतिज्ञान का लक्षण तत्स्थ नहीं है, ज्ञान से भिन्न है, ऐसा इस सूत्र में कहते हैं-

सू. मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् 1-13॥

स. मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता, अभिनिबोध इस प्रकार एकार्थक शब्द हैं।

भा. मतिज्ञान, स्मृतिज्ञान, संज्ञा ज्ञान, चिंता ज्ञान, अभिनिबोध ज्ञान इस प्रकार एकार्थक शब्द हैं। ('आभिनिबोधिक)

(i) इंद्रिय-अनिन्द्रिय के निमित्त वाला, वर्तमान काल में विषय का ज्ञान करने वाला।

(ii) इंद्रियों द्वारा ज्ञात विषय का पुनः स्मरण, अतीत वस्तु के आलंबन वाला।

(iii) इंद्रियों द्वारा पूर्व में अनुभूत विषय को देखकर 'यह वही है, जिसे मैंने देखा था' इस प्रकार का ज्ञान।

(iv) आगामी वस्तु की इस प्रकार निष्पत्ति होगी, अन्यथा नहीं होगी, इस प्रकार का चिंता ज्ञान

(v) जो विषय का ज्ञान अभिमुख है और सभी प्रकार से निश्चित है, वह।

DATE ___/___/___

सू. तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् 1-14॥

अ. वह मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय के निमित्त वाला है।

भा. वह मतिज्ञान दो प्रकार का है - इन्द्रिय निमित्त[i] और अनिन्द्रिय निमित्त वाला।

टी. (i) विषय, इन्द्रियादि बाह्य निमित्त, पारमार्थिक निमित्त मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम।

भा. उसमें इन्द्रिय निमित्त वाला ज्ञान स्पर्शनादि ५ इंद्रियों का[ii] स्व विषयों में ही होता है। अनिन्द्रिय निमित्त वाला मन की वृत्ति और[iii] ओघज्ञान स्वरूप है।

टी. (i) सामान्य अप्रविभक्त रूप ज्ञान, मतिज्ञान का क्षयोपशम ही निमित्त है।

सू. अवग्रहेहापायधारणाः 1-15॥

अ. अवग्रह, ईहा, अपाय, धारणा ये मतिज्ञान के भेद हैं।

भा. यह मतिज्ञान दोनों निमित्त वाला भी प्रत्येक के ४ प्रकार वाला है। वह इस प्रकार - अवग्रह, ईहा, अपाय, धारणा।

उसमें इन्द्रियों द्वारा स्वयं के विषयों का[i] अव्यक्त आलोचन-अवधारण अवग्रह होता है। अवग्रह, ग्रह, ग्रहण, आलोचन, अवधारण इस प्रकार एकार्थक शब्द हैं।

टी. (i) आलोचन = दर्शन

भा. अवग्रह होने के बाद ईहा होती है (अवगृहीतम्)। विषय रूप अर्थ के[ii] एक देश से शेष भेद विशेष की ओर जाना, वह ईहा है। अथवा[iii] निश्चय विशेष की जिज्ञासा ईहा है। ईहा, ऊहा, तर्क, परीक्षा, विचारणा, जिज्ञासा ये एकार्थक शब्द हैं।

टी. (i) इस पद क्रम दिखाया गया है।

(ii) स्पर्श रूप एक देश का निर्णय होने पर कोमल/कठोर स्पर्श रूप भेद विशेष को जानना।

(iii) यह ईहा संशय नहीं है क्योंकि संशय अनेक अर्थों के अवलम्बन वाला, ऊर्ध्व सामान्य को देखने वाला 'अयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इसमें एक का भी निर्णय करने में समर्थ नहीं है। जबकि ईहा तिर्यग् सामान्य को देखने वाला, सद् विशेष को ग्रहण करने वाला और असद् विशेष को छोड़ने वाला है।

भा. विषय अवगृहीत होने पर[i] सम्यग् अथवा असम्यग् ईहा होने पर[ii] गुण और दोष की

DATE __/__/17

विचारणा से अध्यवसाय का स्वरूप जो निर्णय (अपनोद), वही अपाय। अपाय, अपगम, अपनोद, अपव्याध, अपेत, अपगत, अपविद्ध, अपनुत्त इस प्रकार एकार्थक हैं।

टी. (i) कोमलस्पर्श होने पर 'अयं मृणालस्पर्शः' इस निर्णय के अभिमुख ईहा सम्यग्, वाकी असम्यग्।

(ii) कोमलस्पर्श के साधारण धर्म गुण और जो धर्म इसमें संभव नहीं हैं वे दोष।

(iii) अपनोद = दूर करने वाला। जो अध्यवसाय वहाँ (विषय में) असन्निहित धर्मों को दूर करे, वैसा अध्यवसाय। अर्थात् सभी दोष दूर होने पर जो निर्णय हो, वह।

भा. धारणा- स्व-स्व विषय की प्रतिपत्ति, मति का अवस्थान और अवधारण।

धारणा, प्रतिपत्ति, अवधारण, अवस्थान, निश्चय, अवगम, अवबोध इस प्रकार एकार्थक शब्द हैं।

(i) धारणा के तीन भेद- अविच्युति, वासना, स्मृति।

(ii) यहाँ धारणा के पहले भेद को कहते हैं। विषय का निर्णय करने के बाद, जब तक अन्य जगह उपयोग न जाए, उसी अर्थ में रहे तब अविच्युति = प्रतिपत्ति।

(iii) यहाँ दूसरा भेद कहते हैं। अन्यत्र उपयोग जाने पर भी लब्धिरूप मति का अवस्थान यानि वह याद रहना, वही वासना अथवा अवस्थान कहा जाता है।

(iv) यहाँ तीसरा भेद कहते हैं। कालान्तर में पूर्व में अनुभूत विषय का आलंबन लेकर 'मेरे द्वारा यह पूर्व में अनुभवा गया' इस प्रकार का ज्ञान जगा हो, वह स्मृति या अवधारण।

(v) अविच्युति = प्रतिपत्ति = निश्चय।

(vi) वासना = अवगम = अवस्थान।

(vii) अवबोध = अवधारण = स्मृति।

सू. बहुबहुविधाक्षिप्रानिश्रितासन्दिग्धध्रुवाणां सेतराणाम् 1-16॥

अ. प्रतिपक्ष सहित ऐसे बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, असंदिग्ध, ध्रुव, इन 6 अर्थों (विषयों) के अवग्रहादि 5 विभाग होते हैं।

भा. प्रतिपक्ष सहित ऐसे इन 6 में प्रत्येक अर्थ (विषय) को अवग्रहादि 4 मतिज्ञान के 5 विभाग होते हैं।

DATE ___/___/___

भा. बहुत विषयों का अवग्रह (ii) करता है, अल्प (iii) विषयों का अवग्रह करता है।

टी. (i) शय्या में बैठता पुरुष जब स्त्री, पुष्प, वस्त्र, चंदनादि बहुत स्पर्शों को भेद से जानता

(ii) पु. अवग्रह तो एक समय का कहा गया है, तो एक समय में इतना अवग्रह कैसे (है)?

उ. अवग्रह २ पु. का है। (a) नैश्चयिक अवग्रह एक समय का (b) व्यावहारिक अवग्रह। विषय का सान्निकर्ष होने के बाद 'अयं स्पर्श इतास्पर्श' इस प्रकार का नैश्चयिक अवग्रह। फिर अपाय होता है - 'अयं स्पर्श:'। आगामी भेद की अपेक्षा यह सामान्य होने से इसे अवग्रह स्वरूप उपचरित किया जाता है। फिर ईहा के बाद अपाय। इस प्रकार अंत में, जहाँ कोई ईहा न हो, उसे अपाय कहा जाता है। बाकी सभी व्यावहारिक अवग्रह कहे जाते हैं। यह बहुत भेद व्यावहारिक की अपेक्षा से है।

(iii) बहुत विषय होने पर भी क्षयोपशम-विचित्रता से कोई एक विषय को ग्रहण करे

भा. बहुत (i) प्रकार से अवग्रह करे, एक (ii) प्रकार से अवग्रह करे। जल्दी अवग्रह करे, देर से अवग्रह है। निश्चित (iii) यानि संकेत से अवग्रह करे, अनिश्चित (iv) यानि संकेत बिना ग्रहण करे।

टी. (i) उन स्त्री आदि विषयों में प्रत्येक को शीत, स्निग्ध, मृदु, कठिनादि स्वरूप ग्रहण करे।

(ii) उन विषयों में 'यह शीत है या स्निग्ध है या मृदु है' कोई एक ही ग्रहण करे।

(iii) विषय को ग्रहण करते हुए 'मेरे द्वारा यह पूर्व में अनुभूत है' इस प्रकार अनुमान से ग्रहण करे।

(iv) जब अनुमानादि कोई भी हेतु-संकेत बिना ग्रहण करे।

भा. असंदिग्ध (i) यानि निश्चित (ii) विषय को अवग्रह करे। संदिग्ध यानि अनिश्चित (iii) अवग्रह करे। ध्रुव (iv) अवग्रह करे, अध्रुव (v) अवग्रह करे। इसी प्रकार ईहादि का भी जानना।

टी. (i) संदिग्ध की जगह उक्त और अनुक्त भी पाठान्तर है। यह श्रोत्रेन्द्रिय संबंधी ही है। कही हुई बात को अक्षरात्मक अवग्रह करे, अनक्षरात्मक भी इस कल्पना से अवग्रह करे।

(ii) निश्चित यानि सकल संशयादि दोष से रहित, यह स्त्री ही है, यह पुरुष ही है इत्यादि

(iii) अनिश्चित यानि संशय वाला अवग्रह हो, तब।

(iv) ध्रुव यानि सर्वदा, हमेशा, नित्य। जब-जब उस स्पर्श का योग हो तब वह अवग्रह

DATE __/__/19

करे ही, अर्थात् उपयोग होने पर जब विषय का योग हो तब अवश्य अवग्रह करे।
(v) उपयोग होने पर भी विषय का कभी उस प्रकार से ग्रहण करे या न करे।

सू. अर्थस्य 1-17॥
अ. अवग्रहादि अर्थ के होते हैं।
भा. अवग्रहादि मतिज्ञान के भेद अर्थ के होते हैं।
टी. (i) प्र. यदि अवग्रहादि विषय को ग्रहण करने वाले हैं तो क्या छद्मस्थ को द्रव्य का ज्ञान नहीं होता? उ. स्पर्शादि द्रव्य के पर्याय हैं। अभेददृष्टि से पर्याय के ग्रहण द्रव्य और द्रव्यग्रहण से पर्याय का ग्रहण हो ही जाता है।
* निश्चय से छद्मस्थ को इंद्रियों द्वारा द्रव्य का ज्ञान नहीं होता किन्तु वे स्पर्शादि गुणों को ग्रहण कर, उससे द्रव्य का अनुमान करते हैं।

सू. व्यञ्जनस्यावग्रहः 1-18॥
अ. व्यञ्जन का अवग्रह ही होता है।
भा. (i) व्यञ्जन का अवग्रह ही होता है, ईहादि नहीं। इस प्रकार अवग्रह दो (ii) प्रकार का है - व्यञ्जन का और अर्थ का। ईहादि तो अर्थ के ही होते हैं।
टी. (i) व्यञ्जन = उपकरण स्वरूप स्पर्शनादि इन्द्रियों और स्पर्शादि आकार से परिणत पुद्गल द्रव्यों का परस्पर संश्लेष (सन्निकर्ष)।
(ii) व्यञ्जनावग्रह = स्पर्शादि आकार से परिणत पुद्गलों का परिच्छेदक, ~~सामान्य~~ अव्यक्त ज्ञान करने वाला। अर्थावग्रह = इससे कुछ विशुद्ध, निश्चिततर सामान्य ज्ञान।

सू. न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् 1-19॥
अ. चक्षु इन्द्रिय और मन से व्यञ्जनावग्रह नहीं होता।
भा. (i) चक्षु और नोइन्द्रिय द्वारा व्यञ्जनावग्रह नहीं होता, शेष 4 इंद्रियों द्वारा होता है। इस प्रकार यह मतिज्ञान (ii) 24 प्र. का, (iii) 48 प्र. का, (iv) 24 प्र. का, (v) 168 प्र. का और (vi) 336 प्र. का होता है।
टी. (i) जो भी पदार्थ चक्षु से दिख रहे हैं, वे उपकरण इन्द्रिय रूप चक्षु के ~~संश्लेष~~ संश्लेष होकर

DATE __/__/____

नहीं दिखते क्योंकि चक्षु शरीरस्थ है और वे पदार्थ उनके योग्य देश में स्थित हैं। इस प्रकार चक्षु अप्राप्तविषयग्राही या अप्राप्यकारि है। ~~इसके नर्क (a)~~ इसी प्रकार मन भी अप्राप्यकारि है।

(ii) इंद्रिय निमित्त और अनिन्द्रिय निमित्त।

(iii) अवग्रह, ईहा, अपाय, धारणा।

(iv) स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन - 6 × अर्थावग्रहादि 4 = 24
चक्षु, मन सिवाय 4 × 1 व्यंजनावग्रह = 4
28

(v) पूर्वोक्त 28 भेद × 6 बहु आदि भेद = 168

(vi) पूर्वोक्त 28 भेद × 12 सेतर बहु आदि भेद = 336

सू. श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् 1-20॥

अ. श्रुत ज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। वह दो भेद वाला है, जिनके क्रमशः अनेक और 12 भेद हैं।

भा. श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। श्रुत, आप्तवचन, आगम, उपदेश, ऐतिह्य, आम्नाय, प्रवचन, जिनवचन इस प्रकार एकार्थक शब्द हैं।

भा. वह दो प्रकार का है - अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। ~~वह अंगबाह्य~~ अनेक प्रकार का है और 12 प्र. का अनुक्रम से है। अंगबाह्य अनेक प्रकार का है। वह इस प्रकार- सामायिक, चतुर्विंशति स्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, कायव्युत्सर्ग, प्रत्याख्यान, दशवैकालिक, उत्तराध्याय, दशा, कल्प, व्यवहार, निशीथ, ऋषिभाषित इत्यादि

भा. अंग प्रविष्ट 12 प्र. का है। वह इस प्रकार- आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातधर्मकथा, उपासक अध्ययनदशा, अन्तकृत्दशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्न व्याकरण, विपाकसूत्र, दृष्टिपात।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है - मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में क्या विशेष (भेद) है? यहाँ कहते हैं - मतिज्ञान उत्पन्न और अविनष्ट अर्थ को ग्रहण करने वाला तथा वर्तमानकाल के विषय वाला है। श्रुतज्ञान तो त्रिकाल विषय वाला है, उत्पन्न, नष्ट और अनुत्पन्न (आगामी) अर्थ को ग्रहण करने वाला है।

DATE / / 21

भा. यहाँ शिष्य कहता है - मति और श्रुत का भेद हम ग्रहण करते हैं। अब श्रुतज्ञान के दो प्रकार - अनेक और 12 प्रकार इस प्रकार भेद क्यों किया ?

टी. (i) सभी द्रव्यश्रुत भावश्रुत का निमित्त है, इस प्रकार कहा जा सकता है तो श्रुतज्ञान के दो आदि भेद क्यों किए ?

भा. यहाँ कहते हैं - वक्ता के भेद से द्विविधता कही गई। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, परमऋषि ऐसे अर्हन्त भगवन्तों द्वारा उस प्रकार के स्वभाव से तथा प्रवचन की प्रतिष्ठा कराने स्वरूप फल वाले परम शुभ ऐसे तीर्थंकर नाम कर्म के अनुभाव से जो कहा गया है; अतिशय वाले, उत्तम और अतिशय ऐसी वाणी-बुद्धि से संपन्न, भगवान् के शिष्य गणधरों द्वारा जो रचा गया, वह अंगप्रविष्ट।

गणधर के बाद हुए, अत्यंत विशुद्ध आगम वाले, परम प्रकृष्ट वाणी(i)-मति-बुद्धि-शक्ति वाले आचार्यों द्वारा काल की- संघयण और आयु के दोष से अल्प शक्ति वाले शिष्यों के अनुग्रह के लिए जो कहा गया, वह अंगबाह्य।

सर्वज्ञ प्रणीत होने से और ज्ञेय की अनन्तता होने से श्रुतज्ञान मतिज्ञान से बड़े विषय वाला है। उसका बड़ा विषय होने से उन-उन अर्थों को आश्रित कर प्रकरण की समाप्ति की अपेक्षा वाला अंग-उपांग का भिन्नपन है। तथा दूसरा - सुख पूर्वक ग्रहण - विज्ञान - अपोह (निश्चय) और प्रयोग(ii) के लिए यह भेद है।

टी. (i) वाणी = विवक्षितार्थप्रतिपादिका, सकलदोषरहिता मतिः, बुद्धिः चतुर्विधा, शक्तिः वादलब्ध्यादि।

(ii) प्रयोग = प्रत्युपेक्षणादि के काल में व्यापार।

भा. अन्यथा अनिबद्ध(ii) अंगोपांग द्वारा समुद्र को तैरने जैसे दुरध्यवसान होता। इस कारण से पूर्व, वस्तु, प्राभृत, प्राभृतप्राभृत, अध्ययन, उद्देश, व्याख्यान किए गए।

टी. (i) भावार्थ - अन्यथा यानि इस प्रकार के भेद से रचना के अभाव में। जैसे समुद्र को देखकर पुरुष को दुरध्यवसान होता है कि मैं नहीं तैर सकूँगा वैसे ही श्रुतज्ञान को देखकर शिष्य को दुरध्यवसान होता, जिससे उसका रसभंग हो जाता।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है - मति-श्रुत का तुल्य विषय 'द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु 1-27' इस प्रकार आप कहने वाले हो। इसलिए वे दोनों एक ही हो ? यहाँ कहते हैं - यह कहा गया है कि मतिज्ञान वर्तमान काल विषयक है, श्रुतज्ञान तो त्रिकाल विषयक और अधिक विशद है। और इसी दूसरी बात - मतिज्ञान इन्द्रिय-अनिन्द्रिय

DATE __/__/____

के निमित्त वाला है और आत्मा का जानने का स्वभाव होने से पारिणामिक है, श्रुतज्ञान तो मति पूर्वक होता है और आप्त के उपदेश से होता है।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है- श्रुतज्ञान कहा गया। अब अवधिज्ञान क्या होता है? यहाँ कहते हैं-

सू. द्विविधोऽवधिः 1-21॥

उ. अवधिज्ञान दो प्रकार का है।

भा. अवधिज्ञान के दो भे.- भवप्रत्यय और क्षयोपशम के निमित्त वाला।

टी. (i) मुख्यतः तो क्षयोपशम ही कारण है किन्तु क्षयोपशम के निमित्त को यहाँ कहा गया है।

सू. तत्र भवप्रत्ययो नारकदेवानाम् 1-22॥

उ. उनमें भव प्रत्ययिक अवधिज्ञान नारक और देवों को होता है।

भा. नारक और देवों को स्व-स्व अनुसार भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है। भवप्रत्यय यानि भव के हेतु वाला, भव के निमित्त वाला। उन्हें (i) भवोत्पत्ति ही उसका (अवधिज्ञान) का हेतु होती है, (ii) पक्षियों को आकाशगमन जैसे, शिक्षा या तप हेतु नहीं होते।

टी. (i) भवोत्पत्ति असाधारण कारण होने से ग्रहण किया है

(ii) पक्षियों को आकाश गमन में भव ही हेतु है।

सू. यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् 1-23॥

उ. जिस प्रकार कहे हुए निमित्त वाला अवधि ज्ञान शेष को 6 भेद वाला है।

भा. यथोक्त निमित्त यानि क्षयोपशम का निमित्त। क्षयोपशम के निमित्त वाला यह अवधिज्ञान 6 प्रकार का है। शेष यानि नारक-देवों से शेष अर्थात् तिर्यंच (i) योनि से उत्पन्न और मनुष्यों को।

टी. (i) गर्भज पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों का ग्रहण करना।

DATE __/__/23

भा. अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से 6 प्र. का होता है। वह इस प्रकार- अनानुगामिक, आनुगामिक, हीयमान, वर्धमान, अनवस्थित, अवस्थित।

भा. इनमें अनानुगामिक - जिस क्षेत्र में रहे हुए व्यक्ति को उत्पन्न होता है, वहाँ से निकल हुए का ज्ञान प्रतिपतित हो जाता है, प्रश्न को आदेश (उत्तर) करने वाले पुरुष के ज्ञान की तरह।

(i) भावार्थ - नैमित्तिक पुरुष प्रश्नों का जवाब देने के लिए किसी देश में ही समर्थ है।

भा. आनुगामिक - जिस किसी क्षेत्र में उत्पन्न ज्ञान अन्य क्षेत्र में गए हुए का भी नष्ट नहीं होता, सूर्य के प्रकाश की तरह और घड़े के लाल रंग की तरह।

भा. हीयमान - जो ज्ञान असंख्य द्वीप, समुद्र, पृथ्वी, विमानों में अथवा तिर्यग्, ऊर्ध्व या नीचे उत्पन्न हुआ था, क्रमशः संक्षिप्त होता हुआ वह अंगुल के असंख्यवें भाग तक गिरता है अथवा खत्म ही हो जाता है; जिस अग्निशिखा में ईंधन डालना बंद कर दिया है, उसकी तरह।

वर्धमान - जो ज्ञान अंगुल के असंख्यवें भागादि में उत्पन्न होकर सर्व लोक तक बढ़ता है; ऊपर रही और नीचे रही एरण्डी की लकड़ी के घर्षण से उत्पन्न अग्नि में द्वारा ग्रहण किए हुए सूखे लकड़ी में वृद्धि को प्राप्त करते हुए अग्नि के समूह जैसे।

भा. अनवस्थित - कभी घटता है, कभी बढ़ता है और बढ़ता है, घटता है। गिर जाता है और उत्पन्न होता है। इस प्रकार समुद्र की लहरों की तरह बार-बार होता है।

अवस्थित - जितने क्षेत्र में उत्पन्न हुआ, उससे केवल ज्ञान की प्राप्ति तक गिरता नहीं है अथवा भव के क्षय तक गिरता नहीं है। अथवा अन्य जाति (जन्म) में भी स्थिर रहता है; लिंग (i) जैसे।

(i) पुरुषवेदादि लिंग अन्य जन्म में भी साथ में जाते हैं, वैसे।

भा. अवधिज्ञान कहा गया। मनः पर्यायज्ञान कहेंगे।

सू. ऋजुविपुलमती मनःपर्यायः 1-24॥

अ. ऋजु मति और विपुल मति मनः पर्याय ज्ञान है।

भा. मनः पर्यायज्ञान दो प्र. का है - ऋजुमति मनः पर्यायज्ञान और विपुल मति मनः पर्यायज्ञान।

DATE ___/___/_____

टी. (i) ऋजुमति सामान्य से मनोवर्गणा को जानता है। जैसे- 'घड़ा' इसके द्वारा विचारा गया।
(ii) विपुलमति विशेष को जानता है। जैसे- मिट्टी का, लाल रंग का वि. घड़ा विचारा गया।
भा. यहाँ शिष्य पूछता है- इन दोनों में क्या भेद है? यहाँ कहते हैं-

सू. विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः 1-25॥
उ. विशुद्धि और अप्रतिपात से उनका भेद है।
भा. इन दोनों का भेद विशुद्धिकृत और प्रतिपातकृत है। वह इस प्रकार- ऋजुमति मनः पर्याय ज्ञान से विपुलमति मनः पर्याय ज्ञान अधिक विशुद्ध है। और दूसरा हेतु- ऋजुमति मनः पर्याय ज्ञान फिर से गिर भी जाता है, विपुलमति मनः पर्याय ज्ञान तो नहीं गिरता है।
प्र. अब अवधि और मनः पर्याय ज्ञान में क्या भेद है? यहाँ कहते हैं-

सू. विशुद्धि क्षेत्र स्वामि विषयेभ्यो ऽवधि मनः पर्यायय्योः 1-26॥
उ. अवधि- मनः पर्याय में विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामि और विषय से भेद है।
भा. इन अवधि और मनः पर्याय ज्ञान का भेद विशुद्धिकृत(i), क्षेत्रकृत(ii), स्वामिकृत(iii) और विषयकृत(iv) है।
टी. (i) विशुद्धि - ज्यादा पर्यायों के परिज्ञान का कारण।
(ii) क्षेत्र - आकाश
(iii) स्वामी - ज्ञान को उत्पन्न करने वाले।
(iv) विषय - ज्ञान से गम्य पदार्थ।
भा. मनः पर्याय ज्ञान अवधि ज्ञान से अधिक विशुद्ध है। जितने रूपी द्रव्य अवधिज्ञानी जानता है, मनोगत इन द्रव्यों को मनः पर्यायज्ञानी विशुद्धतर जानता है। और इन दोनों में क्षेत्रकृत भेद है। अवधिज्ञान अंगुल के असंख्यवें भागादि में उत्पन्न होकर सर्वलोक तक होता है, मनः पर्याय ज्ञान तो मनुष्यक्षेत्र में ही होता है, अन्य क्षेत्र में नहीं। और दूसरा- दूसरा-
इन दोनों में स्वामिकृत भेद है। अवधिज्ञान संयत, असंयत को अथवा

DATE __/__/25

सर्व गति में होता है, मनः पर्यायज्ञान तो संयत मनुष्य को ही होता है, अन्य को नहीं। और दूसरा-
इन दोनों में विषयकृत भेद है। अवधिज्ञान का विषय रूपी द्रव्यों में, असर्व पर्यायों में है। मनः पर्यायज्ञान का विषय उसके अनन्तवें भाग में है।

टी. (i) अवधिज्ञान जघन्य से उपर्याप्त जानता है- रूप, रस, गंध, स्पर्श।
(ii) तद् = अवधिज्ञान से।

भा. यहाँ शिष्य कहता है- मनःपर्यायज्ञान कहा गया। अब केवलज्ञान क्या होता है?
यहाँ कहते हैं- केवलज्ञान दसवें अध्याय में कहा जाएगा - 'मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्' (10-1) इस प्रकार।
यहाँ शिष्य कहता है- इन मतिज्ञानादि ज्ञानों में किसका कौनसा विषय है?
यहाँ कहते हैं-

सू. मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु 1-27॥
अ. मति-श्रुतज्ञान का विषय सर्व द्रव्यों में- असर्व पर्यायों में है।
भा. मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय निबंध (व्यापार) सभी द्रव्यों में, किन्तु असर्व पर्यायों में है। उन दोनों द्वारा सभी द्रव्य (मतिज्ञानी या श्रुतज्ञानी) जानते हैं किन्तु सर्व पर्यायों से नहीं न जानते।

टी. (i) मतिज्ञानी जब श्रुतज्ञान से धर्मादि द्रव्यों को जानकर, उनका चिंतन करता है, तब वह मात्र मतिज्ञान का विषय होता है, श्रुत का नहीं।

सू. रूपिष्ववधेः 1-28॥
अ. अवधिज्ञान का विषय निबन्ध रूपी द्रव्यों में है।
भा. अवधिज्ञान का विषय निबंध रूपी द्रव्यों में ही है, असर्वपर्यायों में। सुविशुद्ध अवधिज्ञान से भी रूपी द्रव्य ही अवधिज्ञानी जानता है, उन्हें भी सर्व पर्यायों से नहीं जानता।

टी. (i) परमावधिज्ञान इसलोक में लोक प्रमाण असंख्य खंडों को जानता है।

DATE __/__/____

सू. तदनन्तभागो मनः पर्यायस्य 1-29॥

उ. मनःपर्याय का विषय निबंध उसके अनन्तवें भाग में है।

भा. जिन रूपी द्रव्यों को अवधिज्ञानी जानता है, उससे अनन्तवें भाग में मनः पर्याय का विषय निबंध (व्यापार) होता है। मनः पर्यायज्ञानी अवधिज्ञान के विषय का अनन्तवा भाग जानते हैं। मनुष्यक्षेत्र में रहे, मन के अंदर वर्तते विचार में प्रविष्ट रूपी द्रव्यों को विशुद्धतर जानते हैं।

सू. सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य 1-30॥

उ. केवलज्ञान का विषय निबंध सभी द्रव्य, सभी पर्यायों में है।

भा. केवलज्ञान का विषय निबंध सभी द्रव्यों और सभी पर्यायों में होता है। वह ज्ञान सभी भावों को ग्रहण करने वाला और संपूर्ण त्रोक-अत्रोक विषयक है। इससे पर (प्रधान) कोई ज्ञान नहीं है। केवलज्ञान के विषय से पर अन्य कोई ज्ञेय नहीं है। केवल, परिपूर्ण, समग्र, असाधारण, निरपेक्ष, विशुद्ध; सर्व भावों का ज्ञापक, त्रोकात्रोक विषयक, अनंत(ii) पर्याय वाला यह ज्ञान है।

टि. (i) ज्ञेय की अनंत पर्याय होने से उपचार से ज्ञान की भी अनंत पर्याय।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है-इन मतिज्ञानादि में से एक जीव में एक साथ कितने होते हैं? यहाँ कहते हैं-

सू. एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः 1-31॥

उ. एक जीव में एक साथ एकादि ज्ञान विकल्प से 4 तक हो सकते हैं।

भा. इन मत्यादि ज्ञानों में आदि एकादि ज्ञान एक साथ एक जीव में चार तक हो सकते हैं। वह इस प्रकार- किसी जीव में मत्यादि में से एक(i) ही होता है। किसी जीव में दो(ii) होते हैं। किसी जीव में 3(iii) होते हैं। किसी जीव में 4(iv) होते हैं।

टि. (i) जिस जीव द्वारा निसर्गसम्यग्दर्शन प्राप्त किया गया, उसे एक मतिज्ञान ही होता है, श्रुत नहीं क्योंकि उसे प्राप्त कर सामायिकादि श्रुत नहीं पढ़ता।

(ii) सम्यग्दर्शन से युक्त जीव 12 अंग पढ़े।

(iii) जिस जीव को मति-श्रुत ज्ञान के साथ अवधिज्ञान प्रगटे।

DATE __/__/27

(iv) तीर्थंकर की तरह चारित्री जीव को उसके साथ असंख्येय मनःपर्यव ज्ञान भी होता है।

भा. श्रुतज्ञान का तो मतिज्ञान के साथ नित्य सहभाव है क्योंकि श्रुत मतिपूर्वक होता है। जिसे श्रुतज्ञान है, उसे मतिज्ञान अवश्य है। जिसे मतिज्ञान है, उसे श्रुतज्ञान हो भी सकता है अथवा नहीं भी।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है- क्या केवलज्ञान का पूर्व के मतिज्ञानादि के साथ सहभाव है या नहीं? यहाँ कहते हैं- कितने आचार्य कहते हैं - अभाव नहीं है किन्तु केवल-ज्ञान(तद्) से अभिभूत होने के कारण (पूर्व के 4 ज्ञान) अकिंचित्कर हो जाते हैं, इंद्रिय जैसे। अथवा जैसे बादल बिना के आकाश में सूर्य उगने पर अधिक तेज होने के कारण सूर्य से अभिभूत हुए अग्नि-मणि-चन्द्र-नक्षत्र- आदि अन्य तेज प्रकाशन करने में अकिंचित्कर होते हैं, वैसे।

टी. (i) केवली भगवन्त चक्षुआदि इंद्रिय होने पर भी विषयग्रहण के प्रति व्यापार नहीं करते क्योंकि केवलज्ञान से उन्हें प्रत्यक्ष ही है।

भा. कुछ आचार्य कहते हैं- मतिज्ञानी अपाय और सद्द्रव्यता से होता है, श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है, अवधि और मनःपर्यायज्ञान रूपीद्रव्य विषयक है, इसलिए ये मति आदि ज्ञान केवली को नहीं होते।

टी. (ii) भावार्थ- अपाय और सद्द्रव्य केवली द्वारा संपूर्ण नष्ट कर दिए गए हैं इसलिए मतिज्ञान नहीं होता, मतिज्ञान के अभाव में श्रुत नहीं होता, केवली का विषय तो समस्त लोकालोक है इसलिए अवधि और मनःपर्यय भी नहीं होते।

भा. और दूसरा हेतु- मतिज्ञानादि चार में उपयोग पर्याय से (क्रम से) होता है, एक साथ नहीं। संपूर्ण ज्ञान-दर्शन वाले केवली भगवंत का उपयोग एकसाथ सभी भाव के ग्राहक तथा निरपेक्ष ऐसे केवलज्ञान और केवलदर्शन में अनुसमय होता है।

टी. (i) जब मतिज्ञान में उपयोग होता है, तब श्रुत में नहीं इत्यादि।

(ii) एक समय ज्ञानोपयोग, एक समय दर्शनोपयोग। (क्रम उपयोग के साक्षी पाठ बहुत मिलते हैं, किन्तु एक ही युगपत् उपयोग के पाठ नहीं मिलते- टीकाकार)

भा. और दूसरा - पूर्व के 4 ज्ञान तो क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले हैं, केवलज्ञान तो क्षय से ही उत्पन्न होता है। इसलिए केवली को शेष ज्ञान नहीं होते।

DATE __/__/____

सू. मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च 1-32॥

अ. मति-श्रुत- अवधि ज्ञान हैं और विपर्यय भी होते हैं।

भा. मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान विपर्यय (अज्ञान) भी होते हैं। ज्ञान का विपर्यय अज्ञान होता है। यहाँ शिष्य पूछता है- वही ज्ञान अथवा वही अज्ञान, यह तो छाया- आतप और शीत- उष्ण जैसे अत्यन्त विरुद्ध है। यहाँ कहते हैं- इनका मिथ्यादर्शन के परिग्रह से विपरीतग्राहक पन होता है। इसलिए अज्ञान होते हैं। वह इस प्रकार - मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभंग ज्ञान। अवधि का विपरीत विभंग कहा जाता है।

यहाँ शिष्य पूछता है- आपके द्वारा कहा गया कि सम्यग्दर्शन से परिगृहीत मत्यादि ज्ञान होते हैं अन्यथा अज्ञान। मिथ्यादृष्टि भव्य और अभव्य जीव इन्द्रिय के निमित्त वाले स्पर्शादि को अविपरीत ग्रहण करते हैं और स्पर्श को स्पर्श, रस को रस इस प्रकार बताते हैं, इसी प्रकार शेष विषयों को भी। तो यह (अज्ञान) कैसे होता है? यहाँ कहते हैं- इन्हें (मिथ्यात्वी को) यह ज्ञान विपरीत ही होता है। (कैसे? -)

सू. सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् 1-33॥

अ. सत् और असत् के अविशेष से पागल की तरह स्वयं की मर्जी के हिसाब से ज्ञान करने से, वह अज्ञान है।

भा. कर्म के उदय से उपहत इन्द्रिय और मति वाला पागल जैसे विपरीत ग्रहण करने वाला बनता है। वह घोड़े को गाय बोलता है और गाय को घोड़ा कहता है। इस प्रकार लोष्ट को सुवर्ण, सुवर्ण को लोष्ट कहता है। कभी लोष्ट को लोष्ट और सुवर्ण को सुवर्ण कहता है। इस प्रकार (लोष्ट-सुवर्ण) के अविशेष से लोष्ट को सुवर्ण और सुवर्ण को लोष्ट बोलते उसे अवश्य अज्ञान ही होता है। उसी तरह मिथ्या-दर्शन से उपहत इन्द्रिय और मति वाले जीव को मति-श्रुत-अवधि भी अज्ञान होता है।

भा. ज्ञान कहा गया। चारित्र नवमें अध्याय में कहेंगे। दोनों प्रमाण कहे गए। नयों को कहते हैं। वह इस प्रकार-

DATE __/__/29

सू. नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः 1-34॥
उ. नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द नय हैं।
भा. नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द इस प्रकार ये 5 नय हैं।

सू. आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ 1-35॥
उ. प्रथम और शब्द नय क्रमशः दो और तीन भेद वाले हैं।
भा. आद्य यानि सूत्र में क्रम की प्रमाणता से नैगम को कहते हैं। वह 2 भेद वाला है- देशपरिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी। शब्द नय 3 भेद वाला है - साम्प्रत, समभिरूढ, एवम्भूत। यहाँ शिष्य पूछते हैं- इनका लक्षण क्या है? यहाँ कहते हैं- निगम यानि जनपदों में जो कहे हुए शब्द हैं, उनके जो अर्थ हैं, उन शब्द और अर्थों का परिज्ञान वह नैगम। वह नैगम नय देशग्राही और समग्रग्राही 2 प्रकार का है। (सामान्य और विशेष ग्राही)
(i) अर्थों का सर्वदेश और एकदेश का ग्रहण, वह संग्रह नय।
टी. भावार्थ-
(i) नैगम नय से अभिमत जो सामान्य और विशेष हैं, उन्हें इकट्ठा कर संग्रह नय मात्र सामान्य को ही स्थापित करता है।
भा. लौकिक के व्यवहार के समान, प्रायः उपचार स्वरूप तथा विस्तृत अर्थ वाला व्यवहार नय है।
टी. (i) Eg- घड़ा झरता है, रस्ता जाता है।
भा. वर्तमान के विद्यमान अर्थों का कथन और परिज्ञान ऋजुसूत्र नय है।
यथार्थ पदार्थ का कथन शब्द नय है।
(i) नामादि निक्षेपों में पूर्व में प्रसिद्ध ऐसे शब्द से अर्थ में प्रत्यय (ज्ञान), वह साम्प्रत।
टी. (i) भावार्थ- प्रतिविशिष्ट ऐसे वर्तमान पर्यायों में प्राप्त नामादि निक्षेपों में जो अर्थ वाचकतया प्रसिद्ध है, भाव निक्षेप को कहने वाले उस शब्द से भावरूप अर्थ में जो अध्यवसाय होता है, वह ऋजुसूत्र नय।
भा. पदार्थ विद्यमान होने पर शब्दों का असंक्रम वाला समभिरूढ है।
व्यञ्जन (शब्द) और अर्थ में जो संघटन करे, वह एवम्भूत नय।
यहाँ शिष्य पूछता है- आपके द्वारा नैगमादि नय कहे गए। उनमें नय कौन सा पदार्थ है। यहाँ कहते हैं- नय ज्ञापक, कारक, साधक, निर्वर्तक, निर्भासक, उपलंभक, व्यंजक इस

DATE __/__/____

प्रकार एकार्थक शब्द हैं। जो जीवादि पदार्थों को ले जाए (सामान्यादि रूप से अर्थ प्रकाशे), प्राप्त कराए, आत्मा को विज्ञान कराए, सिद्धि के उपाय स्वरूप विज्ञप्ति उत्पन्न करने से साधक, उत्पन्न करे, वस्तु के अंश का ज्ञान कराने से निर्भासक, पहचान कराने से उपलंभक, वस्तु को प्रगट करने से व्यञ्जक, इस प्रकार नय हैं)

भा. यहाँ शिष्य पूछता है-क्या ये अन्य दर्शन वाले वादी हैं या बुद्धि के भेद से अयथार्थ का निरूपण करनेवाले (चोदक) के पक्ष को ग्रहण करने वाले स्वतंत्र ही हैं?

यहाँ कहते हैं- ये अन्य दर्शनी नहीं है, तथा मतिभेद से उत्पन्न स्वतंत्र पक्ष भी नहीं है, ये तो ज्ञेय ऐसे अर्थ के अलग-अलग अध्यवसाय हैं। वह इस प्रकार- 'घट' इस प्रकार कहे जाने पर जो द्रव्यविशेष ऊँचा, कुंडल और गोल मोख वाला, दीर्घ-लंबी परिधि वाला, गोल गरदन वाला, नीचे से गोल, इस प्रकार की चेष्टा (गोल) से बना हुआ और जलादि को लाने और धारण करने में समर्थ, इस प्रकार के उत्तरगुण के निर्वर्तन से बना हुआ है, उस एक विशेष वाले पदार्थ में अथवा इस प्रकार वाले सभी पदार्थों में सामान्य से परिज्ञान, नैगम नय है।

भा. नामादि निक्षेप से विशेषित, वर्तमान-भूतकाल या अनागत काल के बहुत या एक घड़े संप्रत्यय यानि सामान्य ज्ञान, वह संग्रह नय।

उनमें ही लौकिक परीक्षक (पर्यायवाचक) द्वारा ग्राह्य, या उपचार से गम्य ऐसे स्थूल अर्थों में संप्रत्यय, वह व्यवहार नय।

उनमें ही वर्तमान काल में विद्यमान पदार्थों में संप्रत्यय, ऋजुसूत्र नय।

भा. उन वर्तमान कालिक पदार्थों में, जो नामादि चारों से निक्षिप्त में से किसी को ग्रहण करने वाले, घड़ों (घड़ा) जिनका संकेत पूर्व में प्रसिद्ध, ऐसे घड़ों में संप्रत्यय वह साम्प्रत शब्द नय।

उन ही साम्प्रत पदार्थों में वितर्कध्यान की तरह अध्यवसाय का असंक्रम समभिरूढ नय है।

उन ही पदार्थों का व्यञ्जन और अर्थ की परस्पर अपेक्षा पूर्वक अर्थ को ग्रहण करना एवम्भूत नय है।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है- इस प्रकार यहाँ एक ही अर्थ में अध्यवसाय की भिन्नता होने से विरोध का प्रसंग है? यहाँ कहते हैं- जैसे सभी वस्तु सामान्य से सत्

DATE ___/___/31

होने के कारण एक है, सभी जीव-अजीवात्मक होने से दो है, सभी द्रव्य-गुण-पर्याय में समाविष्ट होने से ३ है, सभी चार प्रकार के दर्शन का विषय होने से चार प्रकार की है, सभी आस्तिकाय में आविष्ट होने से ५ है, सभी ६ द्रव्य में समाविष्ट होने से ६ है। ऐसे ये विरोध नहीं है और अन्य सद्धवसाय स्थान है, वैसे ही नय भी।

और दूसरा हेतु- जैसे मतिज्ञानादि ५ ज्ञानों द्वारा धर्मादि अस्तिकायों में से कोई एक अर्थ अलग-अलग ग्राह्य/ग्रहण किया जाता है, पर्याय की विशुद्धि के विशेष से उत्कर्ष से ज्ञान होता है, और ये अलग-अलग ज्ञान विरोध स्वरूप नहीं है, उसी तरह नयवाद है। अथवा

जैसे प्रत्यक्ष- अनुमान- उपमान- आप्तवचन ~~द्वय~~ प्रमाण द्वारा स्वविषय के नियम (मर्यादा) से एक अर्थ जाना जाता है, वे भी विरोधस्वरूप नहीं है, उनके जैसे नयवाद है।

भा. कहा जाता है - देशी शब्द और अर्थों के एक या अनेक अर्थ प्रगट करने ~~स्वरूप~~ की अपेक्षा वाला, देश-समग्र ग्राही, व्यवहारी नैगम नय जानना।

नय के भेद को जानने वाला जो ज्ञान सामान्य में, सामान्यविशेष में या विशेष में संगृहीत वचन है, उसे संग्रह नय में नियत जाने।

समुदाय, व्यक्ति, आकृति, सत्ता, संज्ञा आदि के निश्चय की अपेक्षा वाला, लोकोपचार से नियत, विस्तृत ऐसा व्यवहार नय जानना।

वर्तमान कालीय के विषय को ग्रहण करने वाला संक्षेप से ऋजुसूत्र नय जानना।

विशेषित ज्ञान वाले यथार्थ शब्द वाले को शब्द नय जानना।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है- इस 'जीव, नोजीव, अजीव, नोअजीव' इस प्रकार बोलने पर किस नय से कौनसा अर्थ प्रतीत होता है? यहाँ कहते हैं- 'जीव' इस प्रकार बोलने पर नैगम-संग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्र-साम्प्रत-समभिरूढ नयों द्वारा पाँचों गति में से कोई भी जीव प्रतीत किया जाता है। क्यों? ये नय जीव के प्रति औपशमिकादि युक्त भाव (अर्थ) को ग्रहण करने वाले हैं। 'नोजीव' बोलने पर अजीव द्रव्य अथवा जीव के देश-प्रदेश, 'अजीव' बोलने पर अजीव द्रव्य ही, 'नोअजीव' बोलने पर जीव अथवा जीव के देश-प्रदेश। एवंभूत नय द्वारा तो 'जीव' इस प्रकार बोलने पर प्रवस्थ जीव प्रतीत किया जाता है। क्यों? यह नय जीव के प्रति औदयिक भाव ही ग्रहण करने वाला है। जीवति इति जीवः प्राणिति स्म प्राणान् वा धारयति इति प्राणी। क्व जीवन

DATE ___/___/___

सिद्ध में विद्यमान नहीं है, इसलिए भवस्थ ही जीव है। नोजीव बोलने पर अजीव द्रव्य अथवा सिद्ध। अजीव बोलने पर अजीव द्रव्य हो। नोअजीव बोलने पर भवस्थ जीव हो। इस नय का समग्र अर्थ ग्राहीपन होने के कारण इस नय द्वारा देश-प्रदेश ग्रहण नहीं किए जाते।

इस प्रकार दो जीव-बहु जीव इस प्रकार द्वित्व या बहुत्व बोलने पर भी सर्वसंग्रह नय में तो जीव और नोजीव ही होते हैं। अजीव, नोअजीव, दो जीव, दो नोजीव, दो अजीव, दो नोअजीव इस प्रकार एकत्व या द्वित्व बोलने पर भी शून्य है। क्यों? क्योंकि यह (संग्रह) नय ~~संख्या~~ जीवों का संख्या से अनन्तपन होने पर भी बहुत्व ही इच्छता है, इसलिए यथार्थ ग्राही है। शेष नय तो जाति की अपेक्षा से एक में बहुवचन और बहुत में भी बहुवचन, इस प्रकार सर्व वचनों द्वारा आकारित पदार्थ के ग्राही हैं। इस प्रकार सर्वभावों में नयवाद का ज्ञान करना।

प्रा. यहाँ शिष्य पूछता है- अब विपर्यय सहित ऐसे पाँचों ज्ञान में से कौन सा नय किस ज्ञान को स्वीकारता है? यहाँ कहते हैं- नैगमादि तीन नय सभी आठों ज्ञान को स्वीकारते हैं, ऋजुसूत्र नय मतिज्ञान और मति अज्ञान को छोड़कर शेष 6 को स्वीकारता है। यहाँ शिष्य पूछता है- विपर्यय सहित मति को क्यों नहीं स्वीकारता? यहाँ कहते हैं- विपर्ययसहितश्रुतज्ञान का उपग्रह होने के कारण। शब्दनय तो श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दो को ही स्वीकारता है। यहाँ शिष्य पूछता है- अन्य को क्यों नहीं स्वीकारता? यहाँ कहते हैं- मति-अवधि-मनःपर्यय ज्ञान श्रुत को ही उपग्रह करने वाले होने से और सभी जीवों का चेतना और ज्ञस्वभाव होने से। इस (शब्द) नय के मत से कोई भी जीव मिथ्यादृष्टि और अज्ञ नहीं है, इसलिए विपर्यय नहीं स्वीकारे। इस कारण से प्रत्यक्ष-अनुमान-उपमान और आप्त वचन की प्रमाणता स्वीकारता है।

क्षा. कहते हैं- (अध्याय का उपसंहार)

एकार्थपद (पर्यायवाची) और अनेकार्थपद (परोक्ष प्रमाण आदि की व्युत्पत्ति) तथा विधान (नामस्थापनादि) और इष्ट (निर्देश, स्वामित्वादि) को संपूर्ण जानकर नयों द्वारा स्थापन कर तत्त्व (जीवादि) परीक्षा करने योग्य है। 1

आदि से तीन नय विपर्यास सहित सभी ज्ञान को स्वीकारते हैं। सम्यग्दृष्टि को ज्ञान

DATE / / 33

होता है, मिथ्यादृष्टि को विपर्यास होता है। 2

~~मति ज्ञान का~~ श्रुत ज्ञान को उपग्रह करने से मतिज्ञान का (श्रुत से) अनन्य पन (एकत्व) होने के कारण ऋजुसूत्र नय 6 को स्वीकारता है। शब्द नय तो श्रुत और केवलज्ञान को ही स्वीकारता है, अन्य को नहीं क्योंकि अन्य सभी श्रुत के ही अंग हैं। 3

~~समभिरूढ के मत से~~ यह नय मिथ्यादृष्टि और अज्ञान को नहीं स्वीकारता। इस नय के मत से कोई अज्ञ नहीं है। जीव स्वभाव से मिथ्यादृष्टि नहीं है और अज्ञ भी नहीं है। 4

इस प्रकार कहीं विरुद्ध जैसे लगने वाले किन्तु विशुद्ध और लौकिक विषय से अतीत ऐसे विविध प्रकार के नयवाद तत्त्वज्ञान के जानने योग्य हैं। 5

इति श्रीतत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसङ्ग्रहे प्रथमोऽध्यायः।

द्वितीयोऽध्यायः

प्र. यहाँ शिष्य पूछता है - आपके द्वारा कहा गया कि जीवादि तत्त्व हैं। इनमें जीव कौन है अथवा जीव का लक्षण कैसा है? यहाँ कहते हैं -

सू. औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च 2-1

अ. औपशमिक, क्षायिक, मिश्र(क्षायोपशमिक), ~~औदयिक और पारिणामिक~~ भाव जीव के स्वतत्त्व हैं। औदयिक और पारिणामिक भी भाव हैं।

भा. औपशमिक,(i) क्षायिक,(ii) क्षायोपशमिक,(iii) औदयिक,(iv) पारिणामिक(v) इस प्रकार ये 5 भाव जीव के स्वतत्त्व हैं।

(i) कर्म के उदय और क्षय बिना की अवस्था, वह उपशम। उपशम है प्रयोजन जिसका अथवा उपशम द्वारा बना हुआ परिणाम, औपशमिक।

(ii) कर्मों के आत्यंतिक नाश की अवस्था, वह क्षय। क्षय है प्रयोजन जिसका अथवा क्षय द्वारा बना परिणाम, क्षायिक।

(iii) उदयावलिका में प्रविष्ट कर्म क्षय और शेष (सत्तागत) कर्म उदय और क्षय बिना की अवस्था वाला हो, वह क्षयोपशम (मिश्र) भाव।

प. क्षायोपशमिक और औपशमिक, दोनों भावों में उदित कर्म क्षीण और अनुदित कर्म उपशांत

DATE ___/___/_____

होता है, तो अंतर क्या? उ. क्षयोपशम में प्रदेश की अपेक्षा से कर्म का वेदन होता है किन्तु उससे आत्मगुण का विघात नहीं होता क्योंकि प्रदेशोदय में जीव विपाक का वेदन नहीं करता। औपशमिक भाव में तो प्रदेशोदय भी नहीं होता।

(iv) स्वतत्त्व यानि ये भाव जीव/आत्मा के खुद के स्वरूप होते हैं। किन्तु ये भाव जीव के लक्षण नहीं हैं क्योंकि (a) ये भाव जीव में आरोपित हैं (कर्मों द्वारा) (b) ये भाव सभी जीवों में नहीं घटते। अतः जीव का लक्षण 'उपयोगो लक्षणं 2-8' में कहा जाएगा।

प्र. औदयिक भाव आत्मा के स्वरूप कैसे हो सकते हैं क्योंकि कर्म तो जड़ है, आत्मा चेतन है? उ. ये भाव आत्मा के स्वरूप हैं किन्तु लक्षण नहीं, उपलक्षण हैं। जैसे धूम अग्नि से उत्पन्न होता है, स्वयं अग्निस्वरूप नहीं है, लक्षण भी नहीं है किन्तु उपलक्षण है।

(v) सूत्र में समास करने और नहीं करने के कारण - क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव के मिश्रण से क्षायोपशमिक भाव बनता है, इसलिए इन दोनों का समास किया। औपशमिक और क्षायिक की अपेक्षा मिश्र भाव में जीव अधिक हैं, इसलिए मिश्र पद अलग रखा। पहले तीन भाव सिर्फ जीव के ही हैं, अंतिम 2 भाव जीव-अजीव दोनों में साधारण हैं, इसलिए वे दो भाव अलग रखे।

सू. द्वि-नवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् 2-2॥

उ. 5 भावों के क्रमशः 2, 9, 18, 21, 3 भेद हैं।

भा. ये औपशमिकादि 5 भाव 2, 9, 18, 21 और 3 भेद वाले हैं। वह इस प्रकार- औपशमिक दो भेद वाला है। क्षायिक 9 भेद वाला है। क्षायोपशमिक 18 भेदवाला है। औदयिक 21 भेद वाला है। पारिणामिक 3 भेद वाला है। यथाक्रम यानि जिस सूत्रों के क्रम से आगे कहेंगे।

सू. सम्यक्त्व-चारित्रे 2-3॥

भा. सम्यक्त्व और चारित्र, दो औपशमिक भाव हैं।

भा. सम्यक्त्व (i) और चारित्र (ii), दो औपशमिक (iii) भाव हैं।

DATE __/__/25

दे. (i) तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वम्।

(ii) सदसत्क्रियाप्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणं चारित्रम्।

(iii) भावार्थ- सम्यक्त्व और चारित्र तो क्षायिक या क्षायोपशमिक भी होते हैं किन्तु औपशमिक भाव दो ही होते हैं।

सू. ज्ञान-दर्शन-दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणि च 2-4॥

अ. (i)ज्ञान, दर्शन, (ii)दान, (iii)लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य और (च=) सम्यक्त्व, चारित्र, ये 9 क्षायिक भाव हैं।

भा. सूत्रार्थ जैसा ही।

दे. (i) प्र. सिद्धत्व भी क्षायिक भाव है, उसका यहाँ ग्रहण क्यों नहीं किया? उ. यहाँ कर्म के एकदेश के अत्यंतनाश से प्रगट भावों का ग्रहण किया है, सिद्धत्व तो सभी 8 कर्मों के क्षय से प्रगट होता है।

(ii) क्षायिक दान- एक तृण के अग्रभाग के माध्यम से भी अर्थियों को यथेच्छ दान दे सकते हैं और वह दान कोई रोक भी सकता।

(iii) क्षायिक लाभ- धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के कोई भी या समस्त साधन की प्राप्ति की शक्ति।

सू. ज्ञानाज्ञान-दर्शन-दानादिलब्धयश्चतुस्त्रि-त्रि-पञ्चभेदा यथाक्रमं सम्यक्त्व--चारित्र-संयमासंयमाश्च 2-5॥

अ. ज्ञान-अज्ञान-दर्शन-दानादि लब्धियाँ क्रमशः 4, 3, 3 और 5 भेद वाली हैं और सम्यक्त्व, चारित्र, संयमासंयम, इस प्रकार 18 प्रकार का क्षायोपशमिक भाव है।

भा. (i)ज्ञान 4 प्र.- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान। अज्ञान 3 प्र.- मति अज्ञान, श्रुताज्ञान, विभंगज्ञान। दर्शन 3 प्र.- चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन, अवधिदर्शन। लब्धि 5 प्र.- दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि, उपभोगलब्धि, वीर्यलब्धि। सम्यक्त्व, चारित्र, (ii)संयमासंयम इस प्रकार ये 18 क्षायोपशमिक भाव हैं।

दे. (i) मतिज्ञानावरणीयादि 4 कर्मों के सर्वोपघाती और देशोपघाती स्पर्धक होते हैं। उनमें सभी सर्वघाती स्पर्धक का क्षय होने पर और समय-समय विशुद्धि की अपेक्षा पूर्वक देशघाती स्पर्धकों का अनंत भाग क्षय होने पर और उदयांत होने पर समयादि के व्यवधान

DATE ___/___/___

से जीव ज्ञानी होता है।

(ii) संयमासंयम= संकल्पकिये हुए प्राणातिपातादि से निवृत्ति और आरंभ से होनेवाले प्राणातिपातादि से अनिवृत्ति= 12 व्र. का श्रावकधर्म।

सू. गति-कषाय-लिंग-मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धत्वलेश्याश्-चतुश्-चतुस्त्र्येकै-कैकैकषड्भेदाः 2-6॥

अ. (i) गति, कषाय, लिंग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयतत्त्व, असिद्धत्व और (ii) लेश्या के क्रमशः 4, 4, 3, 1, 1, 1, 1, 6 भेद हैं)

टी. (i) कर्मों में तो औदयिक भाव वाले बहुत होते हैं, उनका यहाँ ग्रहण क्यों नहीं किया? निद्रापंचक, दोनों वेदनीय, मोहनीय में हास्यादि षट्क, 4 व्र. का आयु, नामकर्म संपूर्ण (केवल गति ही ग्रहण की है), दोनों गोत्र, ये सभी औदयिक भाव हैं, इनका समावेश कैसे नहीं किया? उ. अज्ञान के ग्रहण से निद्रापंचक आगया क्योंकि अज्ञान ज्ञान-दर्शनावरण-दर्शनमोहनीय के उदय से होता है। गति ग्रहण से नाम कर्म के शेष भेद-गोत्र-वेदनीय-आयुष्य कर्म लिए क्योंकि गति इन कर्मों के बिना नहीं होती। लिंग ग्रहण से हास्यषट्क ग्रहण किया अथवा कषाय से हास्यषट्क ग्रहण किया क्योंकि हास्यादि कषाय के सहायक हैं।

(ii) व्र. कर्म के 122 भेद प्रसिद्ध हैं। उनमें लेश्या तो है नहीं। फिर लेश्या को कैसे लिया? उ. नामकर्म में मनःपर्याप्ति आती है। पर्याप्ति एक करण विशेष है। मनोवर्गणा के पुद्गल ग्रहण किए हुए विचारने पर, वे पुद्गल करण के साथ मनोयोग कहे जाते हैं। मनोयोग का परिणाम लेश्या है। वे लेश्या कर्म के पेटा भेद में है।

भा. गति 4 व्र.- नारक, तैर्यग् योनि, मानुष, देव। कषाय 4 व्र.- क्रोधी, मानी, मायी, लोभी (जीव का स्वतत्त्व बताने क्रोधी प्रयोग, क्रोध नहीं)। लिंग- 3 व्र. स्त्री. पु. नपुं। मिथ्यादर्शन एक व्र. यानि मिथ्यादृष्टि। अज्ञान एक भेद वाला यानि अज्ञानी। (ii) असंयतत्व एक भेद वाला है, असंयत यानि अविरत। असिद्धत्व एक भेद वाला है, यानि असिद्ध। एक भेद वाला अर्थात् एक प्रकार वाला।

टी. (i) संज्वलन सिवाय के 12 कषाय के उदय से होने वाला।

भा. (ii) लेश्याएँ 6 भेद - कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजो लेश्या, पद्म लेश्या,

DATE __/__/ 37

शुक्ललेश्या। ये 21 औदयिक भाव हैं।

दी (i) लेश्या 2 प्र. - द्रव्य लेश्या = कृष्णादि वर्ण। भाव लेश्या = कृष्णादि वर्ण के सहारे उत्पन्न हुए परिणाम, कर्म बंध की स्थिति के विधाता।

सू. जीव-भव्याभव्यत्वादीनि च 2-7॥

अ. जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व पारिणामिक भाव हैं।

भा. जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व इस प्रकार ये 3 पारिणामिक भाव हैं। (ii) आदिग्रहण किसलिए है? यहाँ कहते हैं - अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, गुणवत्त्व, असर्वगतत्व (आकाश सिवाय), अनादिकर्मसन्तानबद्धत्व, प्रदेशवत्त्व (परमाणु सिवाय), अरूपत्व (पुद्गल सिवाय), नित्यत्व ~~इस प्रकार~~ इत्यादि अनादिपारिणामिक भाव जीव के होते हैं।

दी (i) प्र. द्विनवाद्या... 2-2 सूत्र में ~~इन~~ भावों के 53 भेद कहे। यदि भाव 53 ही हो तो आदि शब्द का ग्रहण निरर्थक है, यदि भाव 53 से ज्यादा हो तो वह सूत्र 2-2 निरर्थक है।
उ. इस सूत्र में जीव के पारिणामिक भाव ही ग्रहण किए हैं, इसलिए 53 संख्या बराबर है। जो भाव अजीव के हैं, उनके ग्रहण के लिए आदि शब्द रखा है।

भा. इस प्रकार के पारिणामिक भाव (अस्तित्वादि) धर्मादि के साथ समान हैं, इस प्रकार 'आदि' पद के ग्रहण से सूचित किया है। जो भाव जीव के ही विशेषक हैं (असाधारण हैं), वे स्वशब्द से कहे गए। इस प्रकार 53 भेद वाले ये 5 (ii) भाव जीव के स्वतत्त्व हैं और अस्तित्वादि भी जीव के स्वतत्त्व हैं।

दी (i) सिद्धों में क्षायिक और पारिणामिक भाव, औपशमिक सिवाय 4 नारक और तिर्यंचों में, देव-मनुष्यों में 5 भाव होते हैं।

सू. उपयोगो लक्षणम् 2-8॥

अ. उपयोग जीव का लक्षण है।

भा. सूत्रार्थ जैसा ही।

सू. स द्विविधोऽष्ट-चतुर्भेदः 2-9॥

अ. वह उपयोग 2 भेद वाला है, उनके क्रमशः 8 और 4 भेद हैं।

DATE __/__/____

भा. वह उपयोग दो प्रकार का है - साकार और अनाकार। अर्थात् ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। वह पुनः क्रमशः 8 और 4 भेद वाला है। ज्ञानोपयोग 8 प्रकार का है - मतिज्ञानोपयोग, श्रुतज्ञानोपयोग, अवधिज्ञानोपयोग, मनःपर्ययज्ञानोपयोग, केवलज्ञानोपयोग, मति अज्ञानोपयोग, श्रुताज्ञानोपयोग, विभंगज्ञानोपयोग। दर्शनोपयोग 4 प्रकार का है। वह इस प्रकार - चक्षुदर्शनोपयोग, अचक्षुदर्शनोपयोग, अवधिदर्शनोपयोग, केवलदर्शनोपयोग।"

टी. (i) प्र. विग्रहगति में जीव को इंद्रिय या मन नहीं होता। अतः उसे मतिज्ञान नहीं होता। मति के अभाव में श्रुतज्ञान भी नहीं होता। इसलिए वहाँ ज्ञानोपयोग या दर्शनोपयोग कैसे संभव है। वहाँ तो एकांत निर्विकल्प उपयोग मानना पड़ेगा (ज्ञान और दर्शन के अलावा तीसरा उपयोग)। उ. ज्ञान और दर्शन उपयोग सिवाय तीसरा कोई उपयोग नहीं होता। वहाँ भी जीव को ज्ञान और दर्शन का उपयोग ही होता है। उसके कारण (a) आगम में कहा है कि जातिस्मरण ज्ञानवाले भगवान् अप्रतिपाती ऐसे उज्ञान से युक्त ही देवलोक से गर्भ में अवतरे थे।' (आवश्यक निर्युक्ति) (b) भगवती सूत्र 8वां शतक 2 उद्देश 318 सूत्र - हे भगवान्! अपर्याप्त जीव ज्ञानी होते हैं या अज्ञानी? उ. हे गौतम! अपर्याप्त जीव में 3 ज्ञान या 3 अज्ञान विकल्प से होते हैं। (c) विग्रहगति में द्रव्येन्द्रिय नहीं होती किन्तु भावेंद्रिय होती है।

सू. संसारिणो मुक्ताश्च 2-10॥

भा. जीव संसारी और मुक्त दो प्रकार के हैं।

भा. वे जीव संक्षेप से दो प्रकार के होते हैं - संसारी और मुक्त। और अन्य -

सू. समनस्कामनस्काः 2-11॥

भा. जीव समनस्क और अमनस्क दो प्रकार के हैं।

भा. (i) संक्षेप से वही जीव दो प्र. के हैं - (ii) समनस्क और अमनस्क। (उन्हें आगे कहेंगे)।

टी. (i) सूत्र में समास का निर्देश होने से संसारी जीव ही के ही ये भेद लेना।

(ii) मन 2 प्र. द्रव्य = मनोवर्गणा के ग्रहण किए करणविशेष के साथ। भाव = आत्मा के अध्यवसाय या उपयोग रूप। यहाँ द्रव्य मन वाले ही समनस्क लेना।

DATE __/__/ 39

सू. संसारिणस्त्रसस्थावराः 2-12॥
ह. संसारी जीव के त्रस और स्थावर दो भेद हैं।
भा. संसारी जीव दो प्रकार के होते हैं - त्रस और स्थावर। उनमें - (आगे सूत्र के लिए)
टी (i) संसारी जीव यहाँ से छठें अध्याय के अंत तक अधिकृत जानना।

सू. पृथिव्यब्वनस्पतयः स्थावराः 2-13॥
ह. पृथ्वी, अप् और वनस्पति स्थावर जीव हैं।
भा. पृथ्वीकाय, अप्काय, वनस्पतिकाय इस प्रकार ये 3 प्रकार के स्थावर जीव हैं। इनमें पृथ्वीकाय अनेक प्रकार के हैं, शुद्ध पृथ्वी-शर्करा-वालुका आदि। अप्काय अनेक प्रकार के हैं, हिमादि। वनस्पतिकाय शैवलादि अनेक प्रकार के हैं।

सू. तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः 2-14॥
ह. तेजस्, वायु और द्वीन्द्रियादि त्रस हैं।
भा. अंगारादि के जीव तेजस्काय हैं। उत्कलिकादि वायुकाय हैं। बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय इस प्रकार ये त्रस जीव हैं। संसारी त्रस (ii) और स्थावर हैं इस प्रकार कहने पर, यह कहा गया कि मुक्त जीव त्रस और स्थावर नहीं होते।
टी (i) बादर तेऽकाय मात्र मनुष्य क्षेत्र में।
(ii) त्रसत्व 2 प्र. ⓐ क्रिया से - अन्य देश की प्राप्ति ⓑ लब्धि से - त्रस नामकर्म के उदय से। तेज वायु को क्रिया से त्रसत्व, लब्धि से नहीं।

सू. पञ्चेन्द्रियाणि 2-15॥
ह. इंद्रियाँ 5 हैं।
भा. इन्द्रियाँ पाँच होती हैं। आरंभ (सूत्र) नियम के लिए और ८ आदि के प्रतिषेध के लिए है। इन्द्र का लिंग. इन्द्रदृष्ट, इन्द्रसृष्ट, इन्द्रजुष्ट, इन्द्रदत्त इस प्रकार का अ. पा. 2-5-93 सूत्र से इन्द्रिय शब्द होता है। इन्द्र जीव है, सभी द्रव्यों में ऐश्वर्य का योग होने से अथवा विषयों में परम ऐश्वर्य का योग होने से। इस जीव का लिंग

DATE ___/___/___

(चिह्न), वह इन्द्रिय। पदार्थ का ज्ञान होने से, अर्थ ग्रहण में प्रवृत्त होने से, दर्शन लब्धि प्राप्त होने से, दान के हेतु रूप होने से और प्राप्त पदार्थ का सेवन करने से जीव का वह लिंग है।

सू. द्विविधानि 2-16॥
उ. इंद्रिय 2 प्र. की होती है।
भा. इंद्रिय 2 प्रकार की होती है - द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय।
वि. (i) द्रव्यात्मक = द्रव्येन्द्रिय। आत्मपरिणतिरूप = भावेन्द्रिय।

सू. निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् 2-17॥
उ. निर्वृत्ति और उपकरण द्रव्येन्द्रिय है।
भा. उन में निर्वृत्ति इन्द्रिय और उपकरण इन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय दो प्रकार की है।
(i) निर्वृत्ति यानि अंगोपांग नाम कर्म से निर्मित इन्द्रिय के द्वार। यह निर्वृत्ति कर्म विशेष से संस्कारित शरीर के अनेक प्रदेश स्वरूप है अर्थात् (ii) निर्माण नाम कर्म और (iii) अंगोपांग नाम कर्म के निमित्त वाली है, (iv) मूल (v) गुण की रचना वाली है।
वि. (i) भावार्थ - भावेन्द्रिय के द्वार रूप जो बाह्य आकार (पुद्गलात्मक)।
(ii) कर्णशष्कुली आदि अवयव के आकार विशेष की रचना में निपुण, बढ़ई की जैसा।
(iii) जिस कर्म के उदय से सिर - उंगली - पैर आदि अंगोपांग बने।
(iv) निर्वृत्ति इंद्रिय के 2 प्र. - (a) बाह्य - जो आकार बाहर से दिख रहे हैं, वे। (b) आंतर - जो बाह्य इंद्रिय के अंदर विषय को ग्रहण करने वाली अभ्यंतर इंद्रिय है।
→ स्पर्शेंद्रिय - इसमें बाह्य - आंतर भेद नहीं है। शरीर व्यापी होने से स्व-स्व शरीर के आकार वाली है। असंख्य भेद।
→ रसनेन्द्रिय - उस्तरे के आकार वाली।
→ घ्राण - ताड़वृक्ष के पुष्प के पत्ते और मोर के पीछे पर रहे आँख के आकार वाली।
→ चक्षु - मसूर के दाल के आकार वाली।
→ श्रोत्र - कदंब के फूल के आकार वाली।

DATE __/__/41

(iv) मूलगुण प्रति जो प्राकृतिक रचना हो, वह। उत्तरगुण - कान चेदना, आँख में कांजल, नाक में नथनी, जीभ की औषधादि से चिकित्सा करना, सुगंधित द्रव्यादि से स्पर्श (चमड़ी) की निर्मलता करना।

भा. (i) बाह्य और अभ्यन्तर उपकरण इन्द्रिय निवर्तित इन्द्रिय की (ii) अनुपघात और (iii) अनुग्रह से उपकारी है।

टी. (i) बाह्य और अभ्यन्तर निर्वृत्ति इन्द्रिय में (पुद्गल में) विषय को ग्रहण करने की शक्ति, वह उपकरण इन्द्रिय।

(ii) निर्वृत्ति इंद्रिय होने पर भी उपघात से शक्ति स्वरूप उपकरणेन्द्रिय नष्ट होने पर विषय ग्रहण नहीं किया जाता।

(iii) वह शक्ति स्वरूप उपकरणेन्द्रिय विषय ग्रहण करने में निर्वृत्ति इन्द्रिय पर अनुग्रह करती है।

सू. लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् 2-18॥

अ. लब्धि और उपयोग भावेन्द्रिय है।

भा. (i) लब्धि और उपयोग भावेन्द्रिय है। गति-जाति आदि नाम कर्म से उत्पन्न, तदावरणीय (मतिज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय) कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न और इंद्रिय के आश्रित कर्म के उदय से बनी लब्धि जीव को होती है।

टी. (i) लब्धि = इन्द्रिय आवरण कर्म का क्षयोपशम। उपयोग = स्व विषय का व्यापार।

भा. वह लब्धि पाँच प्रकार की है। वह इस प्रकार - स्पर्शन इन्द्रिय लब्धि, रसन इन्द्रिय लब्धि, घ्राणेन्द्रिय लब्धि, चक्षुरिन्द्रिय लब्धि, श्रोत्रेन्द्रिय लब्धि।

सू. उपयोगः स्पर्शादिषु 2-19॥

अ. उपयोग स्पर्शादि के विषय में होता है।

भा. (i) उपयोग अर्थात् मतिज्ञान का उपयोग स्पर्शादि विषयक होता है।

टी. (i) यहाँ मतिज्ञान लिखने से अन्य ज्ञान के उपयोग का व्युदास किया क्योंकि अतीन्द्रिय अवधिज्ञानादि का उपयोग स्पर्शादि में नहीं होता।

भा. यहाँ कहा गया कि 'उपयोगो लक्षणम् 2-8'। (i) उपयोग = (ii) प्रणिधान = (iii) आयोग = (iv) तद्भाव =

DATE ___/___/___

परिणाम(v)।

टी. (i) उपयोग रूप चेतना 2 प्र. @ संविज्ञानलक्षणा = घटादि की उपलब्धि, ज्ञानस्वरूप। (b) अनुभवनलक्षणा = सुख दुःखादि संवेदन।

(ii) प्रणिधान = एकाग्र मनोदशा। भावार्थ- स्पष्ट ऐसा मतिज्ञानोपयोग मन के व्यापार और द्रव्येन्द्रियादि की अपेक्षावाला है। अवधिज्ञानादि निरपेक्ष है।

(iii) आयोग = इंद्रियाँ स्वमर्यादा से स्पर्शादि के बोधरूप ज्ञान।

(iv) तद्भाव = स्पर्शेन्द्रियादि द्वारा जन्य ज्ञान।

(v) परिणाम = तद्भाव जैसा ही।

भा. इन ५ प्रकार की इंद्रियों में निर्वृत्ति इन्द्रिय होने पर उपकरण और उपयोग होते हैं तथा (i) लब्धि होने पर निर्वृत्ति-उपकरण-उपयोग होते हैं। निर्वृत्ति आदि में से किसी एक के अभाव में भी विषय का आलोचन नहीं होता।

टी. (i) लब्धि इन्द्रिय जिस जीव को होती है, उसे ही बाह्य-अभ्यंतर आकार का निर्माण आदि होता है।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है- आपके द्वारा 'पञ्चेन्द्रियाणि' 2-15 कहा गया। तो वे इन्द्रियाँ कौन सी हैं? यहाँ कहते हैं-

सू. स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्राणि 2-20॥

स. स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र ये इंद्रियाँ हैं।

भा. स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र इस प्रकार ये ५ इंद्रियाँ हैं।

सू. स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दास्तेषामर्थाः 2-21॥

स. स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द उन इंद्रियों के अर्थ हैं।

भा. इन इन्द्रियों के ये (i) स्पर्शादि (ii) अर्थ क्रमशः होते हैं। (iii)

टी. (i) इंद्रियों के विषय की उत्कृष्ट मर्यादा-

@ चक्षु- साधिक एक लाख योजन तक अभास्वर रूप को ग्रहण करती है। पुष्करार्ध द्वीप में रहा पुरुष साधिक 2 लाख योजन दूर रहे सूर्य को उगते समय सबसे बड़े दिन (कर्क संक्रांति) देखता है। (भास्वर)

DATE __/__/43

(b)(c) स्पर्श, रस, घ्राण इन्द्रिय 9 योजन दूर से आते स्पर्श, रस और गंध को ग्रहण करती है।
(e) श्रोत्र- 12 योजन दूर से आते शब्द ग्रहण करता है।
विषय क्षेत्र की जघन्य मर्यादा- चक्षु अंगुल का संख्यात वां भाग, शेष में अंगुल का असंख्यात वां भाग। (सभी माप में आत्मांगुल प्रमाण लेना)

(ii) यहाँ विषय शब्द छोड़कर अर्थ शब्द का ग्रहण यह बताने के लिए किया है कि द्रव्य और गुण वस्तुतः एक ही हैं, भिन्न नहीं हैं। उनका भेद इन्द्रिय के भेद से होता है। जैसे एक ही मोदक को स्पर्श, रसादि इंद्रियों से ग्रहण करने पर गुण और द्रव्य में भेद ज्ञान होता है, किन्तु वह भेद परनिमित्तक है।

(iii) चक्षु और मन उपघात तथा अनुग्रह शून्य हैं क्योंकि जल देखने या अग्नि देखने से चक्षु या मन गीले या जल नहीं जाते। जबकि अग्नि के स्पर्श से स्पर्शेंद्रिय का उपघात और चंदन से अनुग्रह दिखता है, इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों में जानना।

सू. श्रुतमनिन्द्रियस्य 2-22॥
स. श्रुत अनिन्द्रिय का अर्थ है।
भा. श्रुतज्ञान (i) 2 प्रकार का है। वे 2 प्र. क्रमशः अनेक और 12 प्र. के हैं। यह श्रुतज्ञान नोइन्द्रिय (ii) का अर्थ है।
टी. (i) ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न, द्रव्यश्रुत को अनुसरने वाला, तत्वार्थ के बोध स्वरूप जो भावश्रुत है अथवा अर्थावग्रह (इंद्रियों का नहीं, मन का) के बाद मतिज्ञान ही श्रुतज्ञान रूप हो जाता है, वह भावश्रुत मन का ही विषय है। यहाँ 2भेद आदि से विशिष्ट भावश्रुत लेना क्योंकि सामान्य श्रुत तो एकेन्द्रियादि को भी होता है।

(ii) मन 2 प्र. - द्रव्यमन = शरीर के प्रमाण वाला। भाव मन = आत्मा स्वयं, आत्मा भी शरीर में व्याप्त होकर रहता है। जिस समय जिस इन्द्रिय का परिणाम हो, उस समय उस इन्द्रिय के व्यापार अनुसार द्रव्यमन का आलंबन लेकर भावमन सोचता है और विषय का बोध करता है। शब्द भी द्रव्यश्रुत है, उसे उत्पन्न बोध भावश्रुत है। जैसे 'धर्मास्तिकाय' सुनते ही या पढ़ते ही मन तुरंत गतिसहायक, लोकाकाश व्यापी, नित्य, अखंड ऐसे द्रव्य को पूर्वसंकेत से जानता है, वह भाव श्रुत।

DATE / /

सू. वाय्वन्तानामेकम् 2-23॥
अ. वायुकाय तक के जीवों को एक ही इन्द्रिय होती है।
भा. यहाँ शिष्य पूछता है - आपके द्वारा कहा गया कि पृथिवी-अप्-वनस्पति-तेजो-वायु-द्वीन्द्रियादि नौ जीवनिकाय हैं और इन्द्रियाँ 5 हैं। तो किसको कौन सी इन्द्रिय है? → सूत्र 2-23।
भा. यहाँ कहते हैं - वायु तक के पृथ्वी आदि जीव निकायों को एक ही इन्द्रिय होती है। सूत्र के क्रम के प्रामाण्य से पहली स्पर्शनेन्द्रिय ही होती है।

सू. कृमि-पिपीलिका-भ्रमर-मनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि 2-24॥
अ. कृमि-कुन्थु-चींटी-भ्रमर-मनुष्यादि को एक-एक से वृद्ध इन्द्रियाँ होती हैं।
भा. कृमि आदि, चींटी आदि, भ्रमरादि, मनुष्यादि को क्रमशः एक-एक से वृद्ध इन्द्रियाँ होती हैं। वह इस प्रकार -
उपपादिक, नूपुरक, गण्डूपद, शंख, सीप, शंबूका, जलूका आदि कृम्यादि जीवों को पृथ्वी आदि एकेन्द्रियों से एक से वृद्ध ऐसी स्पर्शन और रसनेन्द्रिय होती है। द्वीन्द्रियों से भी (ततः) एक से वृद्ध ऐसी स्पर्श-रसन-घ्राणेन्द्रिय 3 - चींटी-रोहिणिका, उपचिका, कुंथवा, तुंबुरुक, त्रपुस, बीज, कर्पासास्थिका, शतपदी, उत्पतक, तृणपत्र, काष्ठहारक आदि को होती है। त्रैइन्द्रियों से भी एक से वृद्ध 4 इन्द्रियाँ स्पर्श, रसन, घ्राण, चक्षु भ्रमर, वटर, सारंग, मक्षिका, पुत्तिका, डांस, मच्छर, केकड़ा, जन्धावर्त, कीट, पतंग आदि को होती है। और शेष तिर्यंचयोनि में उत्पन्न मत्स्य, उरग, भुजंग, पक्षी चतुष्पद और सभी नारक - मनुष्य - देवों को पांच इन्द्रियाँ होती है।
भा. यहाँ शिष्य पूछता है - आपके कहा गया कि जीव 2 प्र. के हैं समनस्क और अमनस्क। उनमें समनस्क कौन से हैं? यहाँ कहते हैं -

सू.
सू. संज्ञिनः समनस्काः 2-25॥
अ. संज्ञी जीव मन सहित होते हैं।
भा. संप्रधारण संज्ञा में संज्ञी जीव समनस्क होते हैं। सभी नारक और देव तथा गर्भज

DATE __/__/45

मनुष्य और ~~तिर्यंच~~ कुर्पक तिर्यंच संज्ञी हैं। ईहा और अपोह से युक्त गुण-दोष की विचारणा स्वरूप संप्रधारण संज्ञा होती है। इस संज्ञा की अपेक्षा से संज्ञी जीव यहाँ विवक्षित हैं। अन्यथा आहार-भय-मैथुन-परिग्रह संज्ञाओं द्वारा सभी जीव संज्ञी होते हैं।

(ii) गर्भज तिर्यंच।

सू. विग्रहगतौ कर्मयोगः 2-26॥

अ. विग्रहगति में कार्मण शरीर का व्यापार होता है।

ब्रा. विग्रहगति को प्राप्त जीव को कर्मकृत योग ही होता है। अर्थात् कार्मण शरीर का योग ही होता है। अन्य जगह तो कहे अनुसार काय, वचन और मनोयोग होता है।

ई. (i) जीवों का संसरण 2 प्र. ⓐ देशांतर की प्राप्ति = यह शरीर छोड़कर अन्यत्र जाकर नए शरीर में उत्पन्न हो ⓑ भवांतर प्राप्ति = मृत्यु पाकर उसी शरीर में कृम्यादि रूप उत्पन्न हो। इसमें जीव की अंतराल गति 2 प्र. ⓐ ऋजुगति = यहाँ पूर्वभव के शरीर संबंधी योग ही होते हैं ⓑ वक्रगति या विग्रहगति = यहाँ मात्र कार्मण काययोग ही होता है।

(ii) 15 योग- मन और वचन के 4-4 → सत्य, असत्य, सत्यासत्य, असत्यामृषा।
काय के 8 → औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रिय, वैक्रिय मिश्र, आहारक, आहारक मिश्र, कार्मण।
15 योग को जीवों में बताते हैं → मनोयोग। और 4 - संज्ञी मिथ्यात्व से 12 गुणस्थान तक।
2 और 3 - " " से 11 " ।
वचनयोग। और 4 - संज्ञी मिथ्यात्व से 12 गुण. तक।
4 - बेइन्द्रिय " से 12 " ।
2 और 3 - संज्ञी मिथ्यात्व से 11 गुण. तक।
काय योग- औदारिक - ऋजु विग्रहगति, मनुष्य और तिर्यंच गति में।
वैक्रिय - ऋजु विग्रहगति, " , तिर्यंच, देव, नारक।
आहारक - प्रमत्त और अप्रमत्त संयत।
औ. वै. मिश्र - अपर्याप्त अवस्था में रहे नारकादि जीव, जिन्हें अगले जन्म में औदारिक या वै. शरीर ग्रहण करना हो उन्हें कार्मण मिश्र औ./वै.।

DATE ___/___/___

आहारक मिश्र - जिन्हें आ. शरीर बनाना हो।
कार्मण - विग्रहगति में 1 - 11 (3 सिवाय) गुण. में, केवली समुद्घात में 3, 4, 5 समय।

(iii) प्र. कार्मण शरीर में तो उपभोग कैसे नहीं होता क्योंकि 'निरुपभोगं अन्त्यम् 2-45' आगे कहोगे? उ. 2-45 सूत्र में सुख दुःख का विशेष उपभोग, विशेष कर्म का बंध - उदय - निर्जरा रूप उपभोग का निषेध है किंतु सामान्य उपभोग का निषेध नहीं है। भवांतर में संक्रांति होना या कार्मणकाय योग प्रत्ययिक कर्म बंध होने से जैसा सामान्य उपभोग तो चालू रहता है। अथवा वहाँ अभिव्यक्त उपभोग नहीं होता, अनभिव्यक्त उपभोग तो चालू ही रहता है।

सू. अनुश्रेणि गतिः 2-27॥
अ. गति आकाश की श्रेणि के हिसाब से होती है।
भा. जीवों और पुद्गलों की सभी गति आकाश प्रदेश की श्रेणि अनुसार होती है, विश्रेणि नहीं होती है इस प्रकार गति का नियम है।

सू. अविग्रहा जीवस्य 2-28॥
स. जीव की गति विग्रह बिना होती है।
भा. सिद्ध होते जीव की गति अवश्य विग्रह (वक्रता) रहित होती है।

सू. विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः 2-29॥ और (च=) अविग्रहा
स. संसारी जीव की गति 4 से पहले तक अर्थात् 3 विग्रह वाली होती है।
भा. अन्य जन्म के संक्रमण में संसारी जीव की गति जन्मक्षेत्र के वश से तिर्यंच तिर्च्छी, ऊपर या नीचे 4 तक के विग्रह वाली या अविग्रह वाली होती है अर्थात् जिनकी जीवों की गति विग्रह वाली होती है, उनके 4 तक अर्थात् 3 विग्रह होते हैं। अविग्रहा, एकविग्रहा, द्विविग्रहा, त्रिविग्रहा इस प्रकार उत्कृष्ट से 4 समय वाली, ये 4 प्र. की गति होती है। इसके आगे प्रतिघात का अभाव होने से और विग्रह के निमित्त का अभाव होने से गति संभव नहीं है।(iii)

(iv) प्र. जीव अविग्रह गति में एक समय ही क्यों लेता है? उ. क्योंकि विग्रह बिना की गति

DATE __/__/47

(i) गति होने का कारण ① प्रयोग - स्वप्रयोग और परप्रयोग
② परिणाम - विस्रसा

में जीव को कोई प्रतिघात नहीं होता। इसलिए वह स्वभाव से ही एक समय में अवश्य पहुँच जाता है।

(ii) प्र. जीव 3 से ज्यादा विग्रह क्यों नहीं करता? उ. क्योंकि जीव को विग्रह के निमित्त का अभाव है अर्थात् उत्पन्न होने के क्षेत्र के वश से ही वह उससे अधिक विग्रह नहीं करता।

(iii) जीव को भी 5 समय वाली वक्रगति संभव है परंतु उस गति से कोई जीव उत्पन्न नहीं होने से यहाँ उसका ग्रहण नहीं किया।

भा. विग्रह यानि वक्र है। विग्रह, वक्रगति, अन्य श्रेणि में संक्रमण इस प्रकार एकार्थक शब्द हैं। पुद्गलों की गति का भी ऐसा ही नियम है। शरीरी जीवों (भवस्थ), ~~जीवों~~ ~~(विग्रहगति में) भव~~ की गति भी विग्रह वाली और अविग्रह वाली होती है, प्रयोग (10) ↑ और परिणाम के वश से किन्तु उनमें विग्रह का नियम नहीं है। (अर्थात् 3 से ज्यादा विग्रह नहीं होते, ऐसा नियम नहीं है।) (च शब्द से पुद्गल और जीव का समुच्चय)

भा. यहाँ कहते हैं - अब विग्रह का परिमाण क्या है? यहाँ कहते हैं - क्षेत्र से तो वैकल्पिक है, काल से तो -

सू. एकसमयो विग्रहः 2-30॥

उ. विग्रह एक समय वाला होता है।

भा. विग्रह एक समय वाला होता है। लोक के अंत तक भी अविग्रह गति एक समय से होती है। एक विग्रह वाली गति दो समय से, दो विग्रह वाली गति 3 समय से, त्रिविग्रहा गति 4 समय से, इस प्रकार यहाँ भंगों की प्ररूपणा करना चाहिए।

सू. एकं द्वौ वाऽनाहारकः 2-31॥

उ. विग्रहमति में जीव एक या दो समय अनाहारक होता है।

भा. विग्रहगति को प्राप्त जीव (i) एक अथवा दो समय अनाहारक होता है। शेष काल में हर समय (ii) आहार करता है। (iii) एक अथवा दो समय अनाहारक क्यों होता है, बहुत समय नहीं। यहाँ भंगों की प्ररूपणा करना।

(i) अविग्रहा गति या एक विग्रह गति में जीव आहारक। त्रिविग्रह गति में जीव वाला (समय तथा

DATE __/__/____

त्रिविग्रहा गति में बीच के 2 समय जीव अनाहारक।

(ii) आहार- 3 प्र. (a) ~~ओज~~ ओज आहार- जैसे उकपते घी में डाली हुई पुड़ी सभी ओर से घी को ग्रहण करती है वैसे यह जीव जन्म के प्रथम समय से अंतर्मुहूर्त तक अपर्याप्त अवस्था में कार्मण शरीर से सभी आत्मप्रदेशो द्वारा पुद्गल ग्रहण करता है। (b) लोम आहार- पर्याप्त अवस्था से लेकर जीवन पर्यंत त्वचा से पुद्गल ग्रहण। (c) प्रक्षेप (कवल) आहार- मुख से कवल बापरना। यहाँ जीव को 3 प्र. के आहार का निषेध है।
कार्मण पुद्गलों का ग्रहण आहार रूप नहीं है, यहाँ औदारिक और वैक्रिय शरीर के पोषण का हेतु आहार विवक्षित है। अंतर्गति में भी योग और कषाय से सर्व आत्म प्रदेशों से कर्म पुद्गल का ग्रहण चालू ही है।

(iii) पूर्व शरीर का त्याग और अपर शरीर के ग्रहण के कार्य के साथ अंतर्गति के प्रथम और अन्त्य समय का अभेद है इसलिए वहाँ जीव अन-उन शरीर के संबंध से आहारक ही होता है।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है- अब यह बताइो कि इस प्रकार भव का क्षय होने पर विग्रह या अविग्रह गति से गया हुआ जीव किस प्रकार जन्मता है? यहाँ कहते हैं- स्वकर्म के वश से उपपातक्षेत्र को प्राप्त वह जीव शरीर के लिए पुद्गल ग्रहण करता है।
'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते 8-2', तथा 'काय-वाङ्-मनः-प्राणापानाः पुद्गलानामुपकारः 5-19', 'नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् 8-25' इस प्रकार कहेंगे। वह जन्म है और वह 3 प्र. का है, वह इस प्रकार -

सू. सम्मूर्च्छन-गर्भोपपाता जन्म 2-32॥
अ. संमूर्च्छन, गर्भ, उपपात जन्म है।
भा. संमूर्च्छन, गर्भ, उपपात इस प्रकार यह 3 प्र. का जन्म है।

सू. सचित्त-शीत-संवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद् योनयः 2-33॥
अ. इतर से सहित ऐसी सचित्त, शीत, संवृत ~~और मिश्र~~ और प्रत्येक की मिश्र जन्म की योनियाँ हैं।
भा. संसार में जीवों के इस तीन प्रकार के जन्म की प्रतिपक्ष सहित और प्रत्येक की मिश्र

DATE ___/___/49

ये सचित्तादि योनियाँ हैं। वह इस प्रकार- सचित्त, अचित्त, सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण, शीतोष्ण, संवृत, विवृत, संवृतविवृत। उनमें देव-नारकों की योनि सचित्त, गर्भजन्म वालों की मिश्र, अन्यों की तीनों प्रकार की योनि है।

दे (i) देव- देवशय्या पर बिछाए हुए वस्त्र और उसके ऊपर रहे देवदूष्य वस्त्र के बीच में देव उत्पन्न होता है, वह दोनों वस्त्र अचित्त होते हैं।

नारक- नरक में वज्रमय भूमि में वज्र की बनी कुंभी में नारक का जन्म होता है।

(ii) मनुष्य की योनि- में रुधिर के साथ शुक्र के कण मिश्र होने से जीव उत्पन्न होता है। वे कण कभी सचित्त या कभी मिश्र होते हैं। अन्य कहते हैं- रुधिर सचित्त और शुक्र अचित्त। अन्य कहते हैं- दोनों अचित्त किन्तु योनि प्रदेश सचित्त।

(iii) अन्य से संमूर्च्छन जीव लेना है। ex. गाय के शरीर में कृमि हो तो सचित्त योनि, लकड़ी में कीड़े उत्पन्न हो तो अचित्त योनि तथा घाव में उत्पन्न होने वाले कीड़े की मिश्र योनि।

गा. गर्भजन्म वाले और देवों की योनि शीतोष्ण, तेजस्काय की उष्ण, अन्यों की तीनों प्रकार की योनि होती है।

दे (i) नारक की योनि मिश्र कैसे? उ. यहाँ साधारणतया पृथ्वी और इसी नरक में शीतोष्ण योनि कही है किंतु दोनों स्वभाव एक ही योनि में नहीं होते।

गा. नारक- एकेंद्रिय और देवों की योनि संवृत, गर्भजन्मवालों की मिश्र और अन्यों की विवृत योनि होती है।

सू. जरायुअण्ड-पोतजानां गर्भः 2-34॥

हि. जरायुज, अंडज और पोतज का जन्म गर्भ होता है।

गा. मनुष्य, गाय, भैंस, बकरा, भेड़, घोड़ा, गधा, ऊँट, हिरण, चमरी गाय, वराह, रोझ, सिंह, बाघ, रींछ (ऋक्ष), दीप, श्वान, सियार, बिलाव आदि जरायुजों का; सर्प, गोह, गिरगिट (कृकलास), छिपकली (गृहकोकिलिका), मछली, कछुआ, नक्र - शिशुमार (मगरमच्छ की जातियाँ) आदि अंडज का; रोम की पंख वाले हंस, बाज, लेता, गीध, बाज (श्येन), कबूतर (पारापत), कौआ, मोर, मण्डुक, बतख (वत्याक) आदि का; मेंढक (शल्लक), हाथी, कुत्ते से मारा जाता प्राणी (श्वावित्), बेर पक्षी (लावक), खरगोश, मैना (शारिका) नेवला, चूहे आदि पोतज का; चर्म के पंख वाले चमगादड़, बत्तख, भारंड विरालादि पक्षियों का जन्म गर्भ होता है।

DATE ___/___/___

सू. नारक-देवानामुपपातः 2-35॥
अ. नारक और देवों का जन्म उपपात होता है।
भा. सूत्रार्थ जैसा ही

सू. शेषाणां सम्मूर्च्छनम् 2-36॥
अ. शेष जीवों का जन्म संमूर्च्छन होता है।
भा. जरायुज, अण्डज, पोतज, नारक और देवों से शेष जीवों का संमूर्च्छन जन्म होता है। यहाँ (जन्म के अधिकार में) दोनों का अवधारण होता है। जरायु आदि का ही गर्भ जन्म होता है, जरायु आदि का गर्भ जन्म ही होता है। नारक-देवों का ही उपपात होता है, नारक देवों का उपपात जन्म ही होता है। शेष जीवों का ही संमूर्च्छिम जन्म होता है, शेष जीवों का संमूर्च्छिम जन्म ही होता है।
प्र. (i) प्र. जरायु आदि का गर्भ जन्म ही कहाँ, संमूर्च्छिम भी होता है? उ. संमूर्च्छिम मनुष्य जरायु में उत्पन्न नहीं होते, इसी प्रकार अन्य जीवों में जानना।

सू. औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि 2-37॥
अ. औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण शरीर हैं।
भा. औदारिक(i), वैक्रिय(ii), आहारक(iii), तैजस(iv), कार्मण(v) इस प्रकार ये संसारी जीवों के 5 शरीर(vi) होते हैं।
प्र. (i) औदारिक - उदार यानि स्थूल और असार द्रव्य से बना औदारिक शरीर।
(ii) वैक्रिय - विकार (बहुत रूप करना) और करण (एक जैसे बहुत रूप करना), इस प्रकार विक्रिया से बना वैक्रिय शरीर।
(iii) आहारक - विशेष प्रयोजन के लिए बना, शुभ, शुक्ल, विशुद्ध, अंतर्मुहूर्त की स्थितिवाला।
(iv) तैजस - तेजोगुण से युक्त वर्गणा से बना शरीर। उष्ण गुण वाला। जब जीव को तपादि उत्तर गुण से लब्धि उत्पन्न होती है तब वह श्राप या अनुग्रह में समर्थ होता है। जिन्हें लब्धि नहीं है, उन जीवों में यह मात्र पाचन का कार्य करता है।
(v) कार्मण - ~~कर्म के~~ कर्म ही कार्मण शरीर।
(vi) ~~कुल 5 ही~~ लोक पुद्गल की अनेक वर्गणा होती है। एक परमाणु की एक वर्गणा। द्वयणुक की

DATE ___/___/ 51

दूसरी, त्रयणुक की तीसरी... इस प्रकार संख्यात प्रदेश वाले स्कंधों की संख्यात वर्गणा। असंख्यात प्रदेश वालों की असंख्यात और अनंत प्रदेश वाले स्कंधों की अनंत वर्गणा। ये सभी वर्गणा ग्रहण अयोग्य हैं। इनके बाद अनंत प्रदेश वाली अनंत औदारिक वर्गणा औदारिक शरीर योग्य। फिर अनंती वर्गणा औदारिक अयोग्य। इस प्रकार औदारिक वैक्रिय आहारक तैजस भाषा श्वासोच्छ्वास मन और कार्मण की योग्य-अयोग्य वर्गणा समझना।

सू. तेषां परं परं सूक्ष्मम् 2-38॥
अ. उन शरीरों में उत्तर-उत्तर शरीर सूक्ष्म होता है।
भा. उन औदारिकादि शरीरों में बाद-बाद वाला शरीर सूक्ष्म जानना। वह इस प्रकार- औदारिक से वैक्रिय सूक्ष्म है, वैक्रिय से आहारक, आहारक से तैजस, तैजस से कार्मण सूक्ष्म होता है।

सू. प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् 2-39॥
अ. तैजस से पूर्व के शरीर प्रदेश से असंख्य गुण वाले होते हैं।
भा. तैजस शरीर से पहले उन शरीरों में बाद वाले ही प्रदेशों की अपेक्षा से असंख्यात गुण है। औदारिक शरीर के प्रदेशों से वैक्रिय शरीर के प्रदेश असंख्य गुण है, वैक्रिय शरीर के प्रदेशों से आहारक शरीर के प्रदेश असंख्य गुना है।
टी. (1) प्रदेश का अर्थ यहाँ पर अनंत परमाणु वाले स्कंध करना।

सू. अनन्तगुणे परे 2-40॥
अ. पीछे के दो शरीर प्रदेश से अनंतगुण वाले हैं।
भा. अंतिम दो शरीर तैजस और कार्मण पूर्व-पूर्व के शरीर से प्रदेश की अपेक्षा अनंत गुण होते हैं। आहारक से तैजस शरीर प्रदेश से अनंतगुण होता है। तैजस से कार्मण अनंतगुण होता है।

DATE ___/___/___

सू. अप्रतिघाते 2-41॥
अ. तैजस और कार्मण शरीर प्रतिघात रहित हैं।
भा. ये तैजस और कार्मण दो शरीर लोकान्त से अन्य, सभी जगह प्रतिघात रहित होते हैं।

सू. अनादिसम्बन्धे च 2-42॥
अ. तैजस और कार्मण शरीर जीव के साथ अनादि संबंध वाले हैं।
भा. इन तैजस और कार्मण शरीर के साथ जीव का संबंध अनादि है।(i)
टी. (i) च शब्द द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक नय को बताते हैं। द्रव्यास्तिक नय प्रवाह से ये अनादि हैं किन्तु पर्याय से आदिमान् है क्योंकि पुद्गल बदलते रहते हैं।

सू. सर्वस्य 2-43॥
अ. ये दोनों शरीर सभी जीवों को होते हैं।
भा. ये तैजस और कार्मण शरीर सभी संसारी जीव को होते हैं। कुछ(i) आचार्य तो नयवाद की अपेक्षा से कहते हैं- कार्मण ही एक अनादि संबंध वाला है, इसलिए एक कार्मण के साथ ही जीव का अनादि संबंध है। तैजस तो लब्धि अपेक्षा वाला होता है और वह तैजस लब्धि सभी जीवों को नहीं होती, किसी को ही होती है। कोप और प्रसाद के निमित्त वाले शाप और अनुग्रह के प्रति तेज द्रव्य और शीत किरणों का निसर्ग (बाहर निकालना) करने वाला तैजस शरीर है। तथा औदारिकादि शरीरों में प्राणि, अग्नि और ज्योतिष् देवों के विमान की तरह भ्राजिष्णु प्रभा के समुदाय की कांति (छाया) का निवर्तक तैजस शरीर है।
टी. (i) कुछ आचार्य तैजस शरीर को मात्र लब्धि रूप ही स्वीकारते हैं। भोजन के पाचन में वे कार्मण शरीर की शक्ति को मानते हैं।

सू. तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्या चतुर्भ्यः 2-44॥
अ. वह दो शरीर की आदि वाले शरीर एक साथ एक जीव को 4 तक विकल्प से होते हैं।

DATE / / 53

आ: वे दो शरीर हैं आदि में जिसके-तदादीनि। संसार में होने वाले अथवा संसार तक होने के स्वभाव वाले ऐसे तैजस और कार्मण शरीर को आदि में कर शेष शरीर एक जीव को एक साथ 4 तक विकल्प से होते हैं। वह इस प्रकार-(i) तैजस और कार्मण शरीर होते हैं (ii) अथवा तैजस-कार्मण-औदारिक होते हैं (iii) अथवा तैजस-कार्मण-वैक्रिय शरीर होते हैं (iv) अथवा तैजस-कार्मण-औदारिक-वैक्रिय शरीर होते हैं (v) अथवा तैजस-कार्मण-औदारिक-आहारक शरीर होते हैं।

वि: (i) विग्रह गति में।
(ii) भवस्थ जीव को)
(iii) देव और नारक को।
(iv) वैक्रिय लब्धि वाले तिर्यंच और मनुष्य को एक साथ 4 शरीर संभव है।
(v) अनुत्पन्न वैक्रिय लब्धि वाले 14 पूर्वधर को एक साथ 4 शरीर।

आ: (vi) अथवा सिर्फ कार्मण शरीर ही हो (vii) अथवा कार्मण औदारिक दो शरीर होते हैं (viii) अथवा कार्मण-वैक्रिय शरीर होते हैं (ix) अथवा कार्मण-औदारिक-वैक्रिय होते हैं (x) अथवा कार्मण-औदारिक-आहारक शरीर होते हैं (xi) अथवा कार्मण-तैजस-औदारिक-वैक्रिय शरीर होते हैं (xii) अथवा कार्मण-तैजस-औदारिक शरीर होते हैं।

वि: (vi)-(xii) तक के भांगे अन्य आचार्य के मत से जानना, जो तैजस शरीर को मात्र लब्धि प्रत्ययिक ही मानते हैं।

आ: कभी भी 5 शरीर एक साथ नहीं होते। वैक्रिय और आहारक अथवा तैजस (लब्धि) और आहारक शरीर भी एक साथ नहीं होते क्योंकि इनके स्वामी का विशेष है, इस प्रकार आगे कहा जाएगा।

वि: (i) ये दोनों लब्धि एक व्यक्ति में हो सकती है किन्तु दोनों लब्धि का उपयोग कभी एकसाथ नहीं कर सकते। क्योंकि आहारक शरीर बनाने वाले 14 पूर्वधर प्रमत्त होते हैं, शरीर बनाने के बाद वे अवश्य अप्रमत्त होते हैं तथा अप्रमत्त अवस्था में तो वैक्रिय या तैजस लब्धि का उपयोग नहीं कर सकते।

सू: निरुपभोगमन्त्यम् 2-45।
अ: अंतिम शरीर उपभोग से रहित होता है।

DATE ___/___/___

भा. अन्त्य अर्थात् सूत्रक्रम के प्रामाण्य से कार्मण शरीर को कहते हैं। वह उपभोग रहित होता है। उसके द्वारा सुख-दुःख भोगे नहीं जाते, उसके द्वारा कर्म नहीं बाँधे जाते, कर्म का फल भी नहीं भोगा जाता, निर्जरा भी नहीं की जाती। शेष शरीर उपभोग सहित हैं। क्योंकि उनके द्वारा सुख-दुःख का उपभोग किया जाता है, कर्म बाँधे जाते हैं और विपाक अनुभव किया जाता, निर्जरा भी की जाती है, इसलिए सोपभोग हैं।

वि. (i) औदारिक-वैक्रिय शरीर में सुख-दुःख का उपभोग और कर्म बंध-वेदन-निर्जरा स्पष्ट है। आहारक शरीर में सुख-दुःख का उपभोग होता है किन्तु वे 14 पूर्वधर अप्रमत्त होने से विषयों में आसक्त नहीं होते; अप्रमत्त होने से विशिष्ट कर्मबंध, ~~वेदन~~ नहीं होता, वेदन और निर्जरा होती है। तैजस शरीर तात्त्विक स्वरूप होने दूसरे पर कोप या अनुग्रह से सुख-दुःख होता है, इसलिए कर्म बंध-वेदन-निर्जरा भी होती है; सहज तैजस शरीर में पाचन से पुष्टि आदि सुख, दुःख होता है, विशिष्ट कर्मबंध-वेदन-निर्जरा नहीं होते।

सू. गर्भ-सम्मूर्च्छनजमाद्यम् 2-46॥

अ. पहला शरीर गर्भ और संमूर्च्छन जन्म से उत्पन्न होने वाला है।

प्रा. यहाँ शिष्य पूछता है- संमूर्च्छनादि 3 जन्मों में इन 5 शरीरों का कौन-सा जन्म कहाँ होता है? यहाँ कहते हैं- सूत्र 2-46।

भा. आद्य यानि सूत्रक्रम की प्रमाणता से औदारिक शरीर को कहते हैं। वह गर्भ में या संमूर्च्छन में उत्पन्न होता है।

वि. (i) जघन्य- अंगुल का असंख्यातवां भाग। उत्कृष्ट- 1000 योजन।

सू. वैक्रियमौपपातिकम् 2-47॥

अ. वैक्रिय शरीर औपपातिक होता है।

भा. वैक्रिय शरीर उपपात जन्म वाला औपपातिक होता है तथा नारक और देवों को होता है।

वि. (i) वैक्रिय शरीर 2 प्र. - ⓐ भवधारक- जघन्य अंगुल का असंख्यातवां भाग, उत्कृष्ट 500 धनुष।

DATE __/__/55

⑥ उत्तरवैक्रिय- जघन्य संगुल का संख्यातवा भाग, उत्कृष्ट 100000 योजन।

सू. लब्धिप्रत्ययं च 2-48॥

अ. वैक्रिय शरीर लब्धि प्रत्ययिक भी होता है।

भा. वैक्रिय शरीर लब्धि प्रत्यय वाला भी होता है तथा तिर्यंच[i] और मनुष्यों को होता है।

टी. (i) तिर्यंच-मनुष्य गर्भज को तप अनुष्ठान से। और संमूर्च्छिम में वायुकाय को।

सू. शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव 2-49॥

अ. शुभ, विशुद्ध और अव्याघात वाला आहारक शरीर 14 पूर्वधर को ही होता है।

भा. शुभ यानि शुभ द्रव्य से बना, शुभ[i] परिणाम वाला। विशुद्ध यानि विशुद्ध[ii] द्रव्य से बना अर्थात् असावद्य। अव्याघाती अर्थात् आहारक शरीर किसी का हनन नहीं करता और किसी के द्वारा हनन नहीं किया जाता।

टी. (i) शुभ वर्ण-गंध-रस-स्पर्श वाला, चतुरस्र संस्थान वाला।

(ii) स्फटिक जैसा स्वच्छ, सभी वस्तु के प्रतिबिम्ब के आधार समान। असावद्य यानि जिससे कोई सावद्य प्रवृत्ति न हो।

भा. विशिष्ट और अत्यन्त सूक्ष्म ऐसे कोई अर्थ में संदेह को प्राप्त 14 पूर्वधर[i] ही उसका निश्चय जानने के लिए अन्य क्षेत्र में रहे अरिहंत भगवंत के चरण समीप में औदारिक शरीर द्वारा अशक्य गमन जानकर लब्धि प्रत्ययिक ही व उस आहारक[ii] शरीर को उत्पन्न करते हैं। तथा भगवान् को पूछकर छिन्न संशय वाले पुनः आकर अन्तर्मुहूर्त में विसर्जन करते हैं।

टी. 14 पूर्वधर 2 प्र.- ⓐ भिन्न अक्षर वाले- जो अलग-अलग कारिका के एक-एक अक्षर को श्रुतज्ञान से जान सके। इन्हें कभी कोई संशय नहीं होता। जिससे ये कभी भी आहारक लब्धि का उपयोग नहीं करते। ये श्रुतकेवली कहे जाते हैं। ⓑ अभिन्न अक्षर वाले- जिन्हें समग्र श्रुतार्थ नहीं मिला हो, वे अवीतराग होते हैं। ये ही आहारक शरीर बनाते हैं।

(ii) जघन्य से कुछ न्यून 1 हाथ। उत्कृष्ट- 1 हाथ।

भा. तैजस[i] शरीर[ii] भी लब्धि प्रत्ययिक होता है। कार्मण[iii] शरीर इन शरीरों का कारण = आश्रय होता है। वह कर्म से ही होता है, इस प्रकार बंध में आगे कहा जायगा। कर्म ही

DATE ___/___/___

कार्मण शरीर का और अन्य शरीरों का कारण है, सूर्य प्रकाश की तरह। जैसे सूर्य स्वयं प्रकाशित करता और अन्य द्रव्यों को प्रकाशित करता है, उसका अन्य कोई प्रकाशक नहीं है; उसी प्रकार कार्मण शरीर स्वयं का और अन्य शरीरों का कारण है।

(iii) आठवां अध्याय।

(ii) सहज तैजस शरीर सभी जीवों को होता है। लब्धि तैजस किसी-किसी को ही होता है।

(i) प्र. यहाँ शिष्य पूछता है कि औदारिकादि शरीर बताए तो तैजस-कार्मण शरीर किसे होते हैं? वह भी कहो। इसके जवाब में यह भाष्य है।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है - औदारिकादि इन शरीर संज्ञाओं के पदों का क्या अर्थ है? यहाँ कहते हैं → उद्गतार = उत्कृष्ट कांतिवाला, वह उदार, उत्कटार = सबसे अधिक प्रमाण वाला उदार, अथवा जो हर क्षण नई अवस्था को प्राप्त करे (उद्गम), वह उदार। यह शरीर उपादान से (शुक्र-शोणित के ग्रहण से ही) हर समय नई-नई अवस्थाओं को प्राप्त करता है, बढ़ता है, जीर्ण होता है, शीर्ण होता है, परिणमित होता है, इसलिए उदार) उदार ही औदारिक है, अन्य कोई शरीर ऐसे नहीं है। अथवा जो जो उद्गम निरतिशय(i) है, (निरतिशय) ग्राह्य, छेद्य, भेद्य, दाह्य, हरण करने योग्य है इस प्रकार उदार होने से औदारिक कहा जाता है, अन्य कोई शरीर ऐसा नहीं है। अथवा उदार यानि स्थूल। जो स्थूल है, उद्गत (बहुत प्रमाण वाला) है, पुष्ट है, वृहत् है, बड़ा है, वही उदार ही औदारिक है। शेष शरीर ऐसे नहीं है। उनके लिए तो 'परं परं सूक्ष्मम् 2-38' कहा गया।

(i) भावार्थ - यह औदारिक शरीर ही इन्द्रियों से ग्राह्य है, कुल्हाड़ी वि. से छेद्य है, बाणादि से भेद्य है, आग या सूर्य से दाह्य है, महावायु के वेग से हरण किया जाता है। अन्य कोई शरीर ऐसा नहीं होता।

भा. वैक्रिय यानि विक्रिया(i), विकार(ii), विक्रांति(iii), विकरण(iv) इस प्रकार एकार्थक शब्द है। यह अनेक प्रकार से किया जाता है। एक होकर अनेक होता। अनेक होकर एक होता है। छोटा होकर बड़ा होता है, बड़ा होकर छोटा होता है। एक आकृति वाला होकर अनेक आकृति वाला होता है, अनेक आकृति वाला होकर एक आकृति वाला होता है। दृश्य होकर अदृश्य होता है। अदृश्य होकर दृश्य होता है। भूमिचर होकर खेचर होता है,

DATE ___/___/57

खेचर होकर भूमिचर होता है। प्रतिघात वाला होकर अप्रतिघाति होता है, अप्रतिघाति होकर प्रतिघाति होता है। इन भावों को एक साथ अनुभव करता है। शेष शरीर इस प्रकार नहीं है। विक्रिया में होता है, विक्रिया में उत्पन्न होता है, विक्रिया में निर्माण करने वाला अथवा विक्रिया ही वैक्रिय होती है।[v]

टी: (i) विविधा विशेषा वा क्रिया विक्रिया, तस्यां भवं वैक्रियम्।

(ii) प्रकृतेः अन्यत्वं विकारः।

(iii) विचित्राकृतिः विकृतिः।

(iv) विविधं क्रियते विकरणम्।

(v) भगवती सूत्र उश. 53. सू. 161 – वैक्रिय लब्धि वाले मुनि वैक्रिय समुद्घात से स्त्रीरूप विकुर्वन कर तिर्यग्लोक के असंख्य द्वीप-समुद्रों को अनेक स्त्रीरूपों से भरने में समर्थ हैं किंतु ऐसे भावितात्मा कभी ऐसा करते नहीं, करेंगे नहीं और किया भी नहीं।

भा. आहारक – जो आहरण[i] किया जाए वह आहार्य। आहारक शरीर अन्तर्मुहूर्त की स्थिति वाला है, इस प्रकार शेष शरीर नहीं।

टी: (i) किसी प्रयोजन को पूरा करने के लिए जो ग्रहण किया जाए। यहाँ 3 प्रयोजन हैं – ⓐ संशय का निराकरण ⓑ अर्थ का ग्रहण ⓒ समवसरण की ऋद्धि देखना।

भा. तेजस् का विकार, तैजस। तेजो मय, तेजः स्वरूप वाला, शाप और अनुग्रह के प्रयोजन वाला तैजस शरीर है। इस प्रकार शेष शरीर नहीं हैं। कर्म का विकार, कर्मात्मक, कर्ममय, कार्मण शरीर है। इस प्रकार अन्य शरीर नहीं हैं। इन सर्व विशेषों से ही शरीरों का भिन्नपन सिद्ध होता है। और दूसरा – कारण से, स्वामी[i] से, प्रयोजन[ii] से, प्रमाण से, प्रदेश[iii] की संख्या से, अवगाहन[iv] से, स्थिति से, अल्पबहुत्व[vi] से इस प्रकार इन 9 विशेषों से शरीरों की भिन्नता सिद्ध है।

टी: (i) विषयकृत भेद – ⓐ औदारिक – विद्याधर का नंदीश्वर द्वीप तक, जंघा चारण का रुचकद्वीप (तिर्च्छा), पांडुक वन तक (ऊर्ध्व)। ⓑ वैक्रिय – असंख्य द्वीप समुद्र ⓒ आहारक – महाविदेह क्षेत्र तक ⓓ तैजस-कार्मण – सर्वलोक।

(ii) प्रयोजनकृत भेद – ⓐ औदारिक – धर्म, अधर्म, सुख, दुःख, केवलज्ञान प्राप्ति आदि। ⓑ वैक्रिय – स्थूल, सूक्ष्म, एकत्व, भोमचर, क्षितिगति आदि अनेक लक्षण वाली विभूति। ⓒ आहारक – सूक्ष्म, व्यवहित (परोक्ष) और दूरवर्ती अर्थ की व्यवस्थिति (जानना) ⓓ तैजस –

DATE __/__/__

आहारपाचन, शाप-अनुग्रह का प्रदान-सामर्थ्य (क्रमशः) ④ कार्मण-भवान्तर गति।

(iii) सूत्र 2-39, 2-40 में कहे अनुसार।

(iv) प्रमाण में शरीर की जघन्य और उत्कृष्ट लंबाई लेना। अवगाहन क्षेत्र में आकाश प्रदेश लेना।

(v) अल्पबहुत्वकृत- आहारक शरीर सबसे अल्प, वैक्रिय शरीर असंख्य गुना, औदारिक शरीर असंख्य गुना (यह असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी के समयों को समान लेना) तैजस-कार्मण शरीर अनंत गुणा।

प्र. आहारक शरीर सबसे अल्प अथवा न भी हो, ऐसा क्यों? उ. क्योंकि उसका अंतर जघन्य 1 समय, उत्कृष्ट 6 मास है। संख्या में जघन्य से 1, उत्कृष्ट से 9000 तक एक साथ होते हैं।

प्र. तिर्यंच अनंत होते हैं तो औदारिक शरीर असंख्य क्यों? उ. क्योंकि साधारण जीव में अनंत जीवों का एक शरीर होता है।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है- इन 4 संसारगति में लिंग का क्या नियम है? यहाँ कहते हैं- जीव के औदयिक भावों में कहा गया - लिंग 3 प्र. का ही है स्त्री. पुं. नपुं (2-6)। तथा चारित्र मोह में नोकषायवेदनीय कर्म में 3 प्र. का वेद ही कहा जाएगा - स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसक वेद (8-10)। इसलिए 3 प्र. का ही लिंग है। उसमें -

सू. नारक-सम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि 2-50॥

अ. नारक और संमूर्च्छिम जीव नपुंसक होते हैं।

भा. नारक और सभी संमूर्च्छिम जीव नपुंसक ही होते हैं, स्त्री नहीं, पुरुष नहीं। उन्हें ~~चारित्रमोहनीय~~ रूप नोकषाय वेदनीय रूप चारित्रमोहनीय के आश्रय वाले 3 वेदों में अशुभ गति नाम कर्म की अपेक्षा वाला, पूर्व में बांधा हुआ, निकाचित किया हुआ और उदय में हुआ एक नपुंसकवेदनीय ही होता है, अन्य दो नहीं।

सू. न देवाः 2-51॥

अ. देव नपुंसक नहीं होते।

भा. चारों निकाय के देव नपुंसक नहीं होते, स्त्री और पुरुष होते हैं। उन्हें शुभ गति नाम

DATE ___/___/ 59

कर्म की अपेक्षा वाले स्त्री और पुंवेदनीय से पूर्व में बांधे हुए, निकाचित किए हुए, उदय को प्राप्त हुए दो ही होते हैं, अन्य नहीं। पारिशेष न्याय से यह जाना जाता है कि जरायु, अण्डज, पोतज तीनों वेद वाले होते हैं- स्त्री, पुं, नपुं।

द्वि. (ii) भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्, सौधर्म-ईशान देवलोक में पुरुष-स्त्री दोनों। उसके ऊपर पुरुष ही।

भा. चतुर्गति रूप संसार में आयुष्य की स्थिति व्यवस्थित है या अकाल मृत्यु भी है?

यहाँ कहते हैं- आयु दो प्र. के (i) अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय। अनपवर्तनीय (ii) पुनः दो प्र.- सोपक्रम और निरुपक्रम। अपवर्तनीय (iii) तो अवश्य सोपक्रम ही होता है।

द्वि. (i) आयुष्य बंध- मिश्र गुणस्थानक सिवाय मिथ्यात्व से लेकर अप्रमत्त (7) गुणस्थानक तक जीव आयुष्य का बंध करता है। नारक-देव- असंख्य वर्ष के आयुष्य वाले मनुष्य और तिर्यंच 6 मास आयु बाकी हो तब अवश्य आयुष्य का बंध करते हैं। शेष जीव तीसरा भाग बाकी होने पर, तब नौवां भाग बाकी होने पर अथवा 27वां भाग बाकी होने पर आयुष्य बांधते हैं।

(ii) अपवर्तन अथवा अनपवर्तन का कारण- जो कर्म मंदकक्षा के परिणाम से बंधा है वह अपवर्तनीय। जो तीव्र परिणाम से बंधा है, वह अनपवर्तनीय।

अपवर्तनीय = पूर्व जन्म में बाँधी स्थिति को विशिष्ट अध्यवसानादि से अल्प करना।

अनपवर्तनीय = जितनी स्थिति बाँधी हो उसे संपूर्ण भोगना।

(iii) उपक्रम = आयुष्य को नजदीक लाने के या अल्प करने के कारण।

सोपक्रम अनप. = जिस आयुष्य में उपक्रम होने पर भी कम न हो।

निरुपक्रम अनप. = जो आयुष्य उपक्रम बिना ही संपूर्ण होने वाला है।

(iv) अपवर्तनीय आयुष्य विशिष्ट उपक्रम से अल्प होता है इसलिए वह अवश्य सोपक्रम।

प्र. कौन अपवर्तनीय और कौन अनपवर्तनीय आयु वाला है?

सू. औपपातिक-चरमदेहोत्तमपुरुषासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः 2-52॥

अ. औपपातिक, चरम देह वाले, उत्तम पुरुष, असंख्य वर्ष के आयुष्य वाले जीव अनपवर्त्य आयुष्य वाले होते हैं।

भा. औपपातिक, चरम देह वाले, उत्तमपुरुष, असंख्य वर्ष की आयु वाले इस प्रकार ये जीव

DATE / /

अनपवर्त्य आयुष्य वाले होते हैं। उनमें औपपातिक नारक और देव हैं, इस प्रकार कहा गया (2-35)। चरमदेह वाले मनुष्य ही होते हैं, अन्य नहीं। चरम देह वाले अर्थात् अन्त्य देह वाले, जो उसी शरीर से सिद्ध होते हैं। उत्तम पुरुष - तीर्थंकर, चक्रवर्ती, अर्धचक्रवर्ती। असंख्य वर्ष के आयुष्य वाले मनुष्य और तिर्यंच होते हैं। देवकुरु सहित उत्तरकुरु क्षेत्रों में, अंतर द्वीप सहित अकर्मभूमियों में और कर्मभूमियों में सुषमासुषमा (1 आरे) में, सुषमा (2 आरे) में, सुषमदुष्षमा (3 आरे) में असंख्यवर्ष के आयुष्य वाले मनुष्य होते हैं। यहीं और बाह्य द्वीप-समुद्रों में असंख्यवर्ष के आयुष्य वाले तिर्यंच होते हैं। औपपातिक और असंख्य वर्ष आयुष्य वाले निरुपक्रम अनप. आयु वाले होते हैं। चरम देह वाले सोपक्रम और निरुपक्रम अनप. आयु वाले होते हैं। इन औपपातिक - चरम देह - असंख्य वर्ष के आयु वालों से शेष मनुष्य और तिर्यंच सोपक्रम और निरुपक्रम, अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय आयुष्य होता है। उनमें जो अपवर्तनीय आयुष्य वाले हैं, इन्हें विष, शस्त्र, कांटा, अग्नि, पानी, सर्प, खाए हुए भोजन का अजीर्ण, बिजली गिरना, फाँसी, शिकारी पशु, वज्र, आँधी। भूकंप आदि और भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदि उपक्रमों द्वारा आयुष्य की अपवर्तना की जाती है।

अपवर्तन = कर्म की स्थिति अंतर्मुहूर्त बाकी रहे तब तक जल्दी से कर्म के फल को भोगना। अपवर्तन का निमित्त उपक्रम कहा जाता है।

यहाँ शिष्य पूछता है - यदि कर्म का अपवर्तन किया जाता है तो कर्म नहीं वेदने से कृतनाश दोष होता है। यदि सापुष्य कर्म होता है मरता है तो अकृत अभ्यागम दोष होता है क्योंकि आयु होने पर भी मरता है, जिससे आयु कर्म निष्फल होता है। यह अनिष्ट है। और आयुष्य तो एक भव की स्थिति वाला है, (इस जन्म का शेष आयु अन्य जन्म में नहीं भोगने से) वह जात्यन्तरानुबंधि नहीं है। इसलिए आयुष्य का अपवर्तन नहीं होता।

दे. (i) भावार्थ - यदि आयुष्य कर्म भोगे बिना ही अपवर्तित होता है तो कृतनाश क्योंकि जो कर्म सत्ता में विद्यमान था, उसका नाश होगया। यदि ऐसा की आयु कर्म शेष होने पर ही मर गया तो 2 दोष ⓐ अकृतागम - आयु कर्म होने पर भी अकृत मरण का आगम और आयु कर्म निष्फल। ⓑ जात्यंतरानुबंधि - आयु कर्म

DATE __/__/61

इस भव का कभी अगले भव में नहीं भोगा जाता किंतु यदि आयु कर्म शेष रहने पर ही मर गया तो शेष आयु कर्म अगले भव में भोगने का प्रसंग।

आ. यहाँ कहते हैं - कर्म के कृतनाश, अकृत आगम और निष्फलता नहीं होती। आयु कर्म का जात्यन्तरानुबंध भी नहीं होता। किंतु यथोक्त उपक्रमों द्वारा समिहत जीव को संपूर्ण रूप से उदय में आया हुआ आयुष्य कर्म जल्दी भोगा जाता है, उसे अपवर्तन कहते हैं, इकट्ठा किया हुआ घास की राशि के दहन जैसे। जैसे एक एक अवयव के क्रम से जलती इकट्ठी सूखी घास की राशि बहुत देर से जलती है, ~~उसी समी~~ शिथिल और बिखरी हुई इकट्ठी की हुई तथा सभी ओर से एक साथ जलती उसी राशि का दाह, पवन के उपक्रम जैसे अभिहत उसी राशि का दाह जल्दी होता है, उसी तरह (आयुष्य कर्म में जानना)। अथवा जैसे गणितज्ञाचार्य प्रक्रिया (करण) के लाघव के लिए गुणकार और भागाकार से राशि को छेद से ही अपवर्तित करते हैं, उससे संख्यात अर्थ का अभाव नहीं होता; वैसे ही उपक्रम से अभिहत, मरण(ii) समुद्घात के दुःख से पीड़ित जीव कर्म के निमित्त वाले, अनाभोग(iii) के योग पूर्वक करण विशेष को उत्पन्न कर फल के उपभोग का लाघव करने के लिए कर्म की अपवर्तना करते हैं किंतु कर्म के फल का अभाव नहीं होता।

ई. उ) गुण और भाग बहुत लंबी प्रक्रिया होने से गणिताचार्य प्रक्रिया छोटी करने के लिए छेद (cancellation) करते हैं)

(ii) मरण समुद्घात की अवस्था - जीव को स्वयं के शरीर में से आत्मप्रदेशों का खिंचाव होता है, जीव मूर्च्छित होता है, जीव अत्यंत अव्यक्त बोध वाला और बाह्य चेष्टा शून्य होता है।

(iii) यह करण अनाभोग से होता है, जैसे भोजन का पाचन वैसे।

आ. और दूसरा - अथवा जैसे पानी से गीला, इकट्ठा किया सफेद कपड़ा देर से सूखता है, और वही विस्तारित किया हुआ, सूर्यकिरण और वायु से हत (फैला हुआ) हुआ जल्दी सूख जाता है। वह संहृत होने पर नए पानी का आगम नहीं होता और फैलाने पर पूरा पानी नहीं सूखा, ऐसा भी नहीं है; उसी तरह यथोक्त निमित्त वाले अपवर्तन से कर्म के फल का उपभोग जल्दी होता है। किन्तु कृतनाश, अकृत आगम और निष्फलता नहीं होती। इति श्रीतत्त्वार्थाधिगमे अर्हत्प्रवचनसङ्ग्रहे द्वितीयोऽध्यायः।

तृतीयोऽध्यायः

भा. यहाँ शिष्य पूछता है - आपके द्वारा कहा गया - नारक गतिं का आश्रय कर जीव को औदयिक भाव होता है। तथा जन्मों में 'नारकदेवानामुपपातः 2-35' कहा। आगे स्थिति में 'नारकाणां च द्वितीयादिषु 4-43', आस्रवों में 'बह्वारम्भ-परिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः 6-16' कहा जाएगा। उसमें नारक कौन है अथवा कहाँ है? यहाँ कहते हैं - नरकेषु भवा नारकाः, नरक में उत्पन्न होने वाले जीव नारक कहे जाते हैं। उनमें नरक की प्रसिद्धि के लिए यह कहा जाता है -

सू. रत्नशर्कराबालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाश-प्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः पृथुतराः 3-1॥

अ. घनोदधि, घनवात, तनवात, आकाश पर रही हुई, नीचे-नीचे अधिक चौड़ी रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुका प्रभा, पंकप्रभा, धूम प्रभा, तमः प्रभा, महातमःप्रभा नाम भूमि (पृथ्वी) हैं।

भा. रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुका प्रभा, पंक प्रभा, धूम प्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा इस प्रकार ये भूमियाँ घनोदधि, घनवात, तनवात पर प्रतिष्ठित एक-एक के नीचे-नीचे नीचे होती हैं।

टि. (1) वज्रादि रत्नों की प्रधानता वाली रत्नप्रभा। प्रभा शब्द स्वभाववाचक है। रत्नमय, रत्न के स्वभाव वाली। इसी प्रकार अन्य नामों में जानना।

भा. रत्नप्रभा के नीचे शर्कराप्रभा, शर्कराप्रभा के नीचे बालुकाप्रभा, इस प्रकार शेष। 'अम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा' इस प्रकार सिद्ध होने पर 'घन' का ग्रहण किया गया, उससे यह अर्थ जानना कि पृथ्वी के नीचे जल घन ही है, वायु तो घन और तनु दोनों हैं। तो इस प्रकार खर[i] पृथ्वी पंक पर प्रतिष्ठित है, पंक घनोदधि के वलय पर प्रतिष्ठित है, घनोदधि[ii] वलय घनवात के वलय पर प्रतिष्ठित है, घनवातवलय तनुवात के वलय पर प्रतिष्ठित है, इसके बाद महा अंधकार[iii] रूप आकाश है। और पृथ्वी से लेकर तनुवात के वलय तक सब आकाश में रहा है और आकाश स्वयं में रहा है। कहा गया है कि अवगाहनमाकाशस्य।

टि. (2) रत्नप्रभा पृथ्वी के तीन कांड हैं - पहला खरपृथ्वी कांड 16000 योजन, दूसरा पंकबहुल कांड

(iii) दो पृथ्वी के बीच के आकारा में घन घोर अंधेरा होता है। वहाँ आकाश ही गहा अंधकार रूप भासित होता है, इसलिए आकाश को महातमोभूत कहा है। DATE __/__/63

84000 योजन, तीसरा जल बहुल कांड 80000 योजन। इस प्रकार कुल 180000 यो. रत्न प्रभा पृथ्वी चौड़ी है। उसकी नीचे घनोदधिवलय है। यहाँ भाष्यकार भ्र. ने जल बहुल कांड और घनोदधि वलय को अलग नहीं कहा है (शेष पृथ्वी एक समान ही जानना)।

(ii) सभी पृथ्वी के नीचे घनोदधि, घनवात और तनुवात की जाड़ाई (बीच में) मध्य में एक ही है - घनोदधि 20000 यो. घनवात - असंख्य हजार यो, तनुवात- असंख्य कोटाकोटि यो। यह जाड़ाई घटते-घटते निम्न होती है -(छेवे अंत में)

पृथ्वी	छेड़े पर घनोदधि	घनवात	तनवात	पृथ्वी- अलोक का अंतर
1	6 यो.	$4\frac{1}{2}$ यो.	1 यो. 2 गा.	12 यो.
2	6 यो. $1\frac{1}{3}$ गा.	$4\frac{3}{4}$	1 यो. $2\frac{1}{3}$ गा.	12 यो. $2\frac{2}{3}$ गा.
3	6 यो. $2\frac{2}{3}$ गा.	5	1 यो. $2\frac{2}{3}$ गा.	13 यो. $1\frac{1}{3}$ गा.
4	7 यो.	$5\frac{1}{4}$	1 यो. 3 गा.	14 यो.
5	7 यो. $1\frac{1}{3}$ गा.	$5\frac{1}{2}$	1 यो. $3\frac{1}{3}$ गा.	14 यो. $2\frac{2}{3}$ गा.
6	7 यो. $2\frac{2}{3}$ गा.	$5\frac{3}{4}$	1 यो. $3\frac{2}{3}$ गा.	15 यो. $1\frac{1}{3}$ गा.
7	8 यो.	6	2 यो.	16 यो.

येह पृथ्वी अंत में अलोक को नहीं छूती है, इसलिए पृथ्वी- अलोक का अंतर बताया है। 7वीं पृथ्वी के 16 यो. नीचे अलोक है।

(iii) भ्र. इसलिए इस क्रम से लोकानुभाव से स्थित, असंख्य कोटा कोटी योजन ~~लम्बी~~, विस्तृत रत्नप्रभादि 7 भूमि हैं। 'सप्त' का ग्रहण नियम के लिए किया है। रत्नप्रभादि प्रत्येक की अनियत संख्या न हो इसलिए। और दूसरी बात- नीचे 7 ही निश्चित की जाती है, ऊपर तो एकें ही हैं, इस प्रकार कहा जाएगा।

(i) ईषत्प्राग्भारा।

भ्र. और- तन्त्रान्तरीय (बौद्ध) 'असंख्य लोक धातुओं में असंख्य पृथ्वी के प्रस्तार हैं' इस प्रकार मानते हैं, उसके प्रतिषेध के लिए 'सप्त' ग्रहण किया है।

भ्र. ये सभी पृथ्वियाँ नीचे-नीचे अधिक विस्तार वाली छत्रातिछत्र आकार में रही हैं। इनके चर्मा वंशा शैला अंजना रिष्ठा माघवा माघवी इस प्रकार क्रमशः

DATE ___/___/___

इनके नाम हैं (ii) | रत्नप्रभा घनत्व से एक लाख 80 हजार योजन की है, शेष 32, 28, 20, 18, 16, 8 हजार योजन अधिक एक लाख यो. वाली है।

टी (i) रत्नप्रभादि पृथ्वी क्रमशः एक राज, 2½ राज, 4 राज, 5 राज, 6 राज, 7 राज प्रमाण है।

(ii) रत्नप्रभादि गोत्र हैं, घर्मा आदि नाम है।

भा सभी घनोदधि 20 हजार यो, घनवात और तनुवात असंख्य यो. तथा नीचे-नीचे विशेष अधिक घन होता है।

सू तासु नरकाः 3-2॥

उ उन भूमियों में नरक हैं।

भा (i) उन रत्नप्रभादि भूमियों में ऊपर और नीचे प्रत्येक दिशा से 1-1 हजार यो. छोड़कर मध्य में नरक होती हैं।

टी (i) यह 6 पृथ्वी तक जानना | सातवीं पृथ्वी में 52,500 योजन ऊपर-नीचे छोड़कर बीच के 3000 यो. में नरक होती है।

भा उष्ट्रिका आदि संस्थान वाले, वज्र के तल वाले, सीमन्तक (i) नरकावास से उपक्रान्त (iii), रौरव अच्युत रौद्र हाहारव पातन शोचन तापन क्रन्दन वित्रपन वेदन भेदन खरापर कालपिंजर इत्यादि अशुभनाम वाले, काल महाकाल रौरव महारौरव अप्रतिष्ठान पर्यन्त नरकावास हैं।

टी (i) भावार्थ- प्रथम नरक की प्रथम प्रतर में सीमन्तक नामक इन्द्र नरकावास है। उसकी अवधि का स्थापन कर सभी नरकावास समझाए जाते हैं।

(ii) नरकावास के दो प्रकार- ⓐ आवलिका प्रविष्ट- दिशा या विदिशा में रहे नरकावास ⓑ प्रकीर्णक- छूटे-छिटपुट नरकावास | हर नरक की प्रत्येक प्रतर के बीच में गोलाकार इन्द्रक नरकावास होता है | दिशा-विदिशा में त्रिकोण-चौरस-गोल इस क्रम से नरकावास होते हैं।

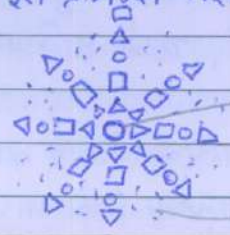

DATE / / 65

पहली नरक में सीमंतक नामक पहली पुतर में सीमंतक इन्द्रक नरकावास है। यहाँ ४ दिशाओं में ४९-४९ आवलिका प्रविष्ट और विदिशाओं में ४८-४८ आ. प्र. नरकावास हैं। इन नरकावासों की संख्या प्रत्येक पुतर में १-१ कम होती है। जिससे ७वीं पृथ्वी में ~~अप्रतिष्ठान इन्द्रक~~ ऐसा होता है -

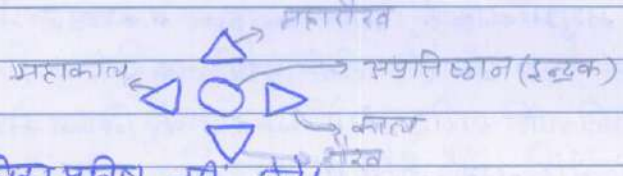

विदिशा में आवलिका प्रविष्ट नहीं होते।

iii. रत्नप्रभा में नरकों की 13 पुतर हैं। शेष पृथ्वी में २-२ न्यून हैं। रत्नप्रभा में नरकावासों की 30 लाख संख्या है। शेषों में 25, 15, 10, 3, लाख, १ लाख में १ कम नरकावास हैं, इस प्रकार छठी पृथ्वी तक। सातवीं में तो ५ ही महा नरक हैं।

~~शर्करा~~ प्र नाम	पुतर	आवलिका प्रविष्ट नरक	प्रकीर्णक नरक
रत्नप्रभा	13	४४३३	2995567
शर्करा प्रभा	11	2695	2497305
वालुका प्रभा	9	1485	1498515
पंक प्रभा	7	707	999293
धूम प्रभा	5	265	299735
तमः प्रभा	3	63	99932
महातमः प्रभा	1	5	—

ii) रत्न प्रभा से तमः प्रभा तक कुछ नरकावास संख्यात हजार यो. के हैं। सातवीं नरक में अप्रतिष्ठान इंद्रक नरकावास आयाम-विष्कम्भ और परिधि से जम्बूद्वीप समान है। कालादि ५ नरकावास संख्यात हजार यो. के हैं। सभी नरकावास 3000 यो. ऊँचे होते हैं- नीचे का 1000 यो. पृथ्वी का पीठ, बीच में 1000 यो. चौड़े ऊपर 1000 यो. संकरे। ये भी वज्र की दीवाल वाले और सदा हमेशा अंधकार मय होते हैं।

* नारकों की उप. वेदना - (a) क्षेत्र प्रत्यय सू. 3-3 (b) परस्परोदीरित 3-4 (c) असुरकृत - 3-5

DATE ___/___/___

सू. ~~सेसु~~ नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः 3-3॥

अ. उन नरकों में नित्य अशुभतर लेश्या, परिणाम, देह, वेदन और विक्रिया वाले नारक होते हैं।

भा. वे नरकें भूमि के क्रम से नीचे-नीचे निर्मणि से अधिक-अधिक अशुभ हैं। रत्नप्रभा में अशुभ नरक हैं, उससे अशुभतर शर्कराप्रभा में, उससे भी अशुभतर वालुकाप्रभा में, इस प्रकार सातवीं पृथ्वी तक जानना।

भा. नित्य ग्रहण- गति जाति शरीर अंगोपांग कर्म के नियम से ये लेश्यादि भाव नरक गति में और नरक जाति में निरन्तरता से भव क्षय के उद्वर्तन तक होते हैं, कभी भी आँख के पलक मात्र के लिए भी नहीं होते अथवा शुभ होते हैं, ऐसा नहीं है इसलिए नित्य कहे जाते हैं।

भा. अब अशुभतरलेश्या- रत्नप्रभा में कापोत लेश्या, शर्कराप्रभा में उससे अधिक तीव्रसंक्लेश के अध्यवसान वाली कापोत लेश्या, वालुकाप्रभा में उससे अधिक तीव्र संक्लेश के अध्यवसान वाली कापोत और नील लेश्या, पंकप्रभा में उससे अधिक तीव्रसंक्लेश के अध्यवसान वाली नील लेश्या, धूमप्रभा में उससे अधिक तीव्र संक्लेश के अध्यवसान वाली नील और कृष्ण लेश्या, तमःप्रभा में उससे अधिक तीव्र संक्लेश वाली कृष्ण लेश्या, महातमःप्रभा में उससे अधिक तीव्र संक्लेश के अध्यवसान वाली कृष्ण लेश्या होती है।

भा. अशुभतर परिणाम- बंधन, गति, संस्थान, भेद, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, शब्द नामक 10 प्रकार का अशुभ पुद्गल परिणाम नरकों में अशुभतर होता है। तिर्यग्, ऊर्ध्व और अधः सभी तरफ से अनन्त, भयानक, नित्य, उत्तप्त ऐसे अंधकार से नित्य अंधकार वाली; श्लेष्म-मूत्र-पुरीष के स्रोत, मल-रुधिर-वसा-मेद (चरबी)-पूय (पस) के अनुलेपन वाली युक्त तल वाली; श्मशान जैसे भूमि- (अपवित्र) मांस-केश-अस्थि-चर्म-दाँत-नख से आस्तीर्ण भूमियाँ हैं। श्वान, सियार, बिल्ली, नेवला, सर्प, चूहा, हाथी, घोड़ा, गाय, मनुष्य के शवों के कोठार समान अशुभतर गंध हैं (अथवा गंध वाली भूमि हैं)। हा मात:! धिग् कष्टं! अहो कष्टं! छोड़ो! दौड़ो! हे स्वामी प्रसन्न हो! तत्क्षण मत मारो। इस प्रकार त्वगातार रुदनों से, तीव्र करुण-दीन विक्लव विलापों से, आर्त

DATE __/__/67

आवाज के निनादों से, दीन-कपण-करुण ऐसी ~~माँगने~~ माँगों से, ~~आँसू~~ आंसुओं से निरुद्ध, स्थिर-गाढ़ वेदनावाले आवाजों से, संताप के उच्छ्वास और निश्वासों से रुके बिना लगातार भय स्वरूप आवाजों वाली ये भूमियाँ हैं।

प्रा. अशुभतर देह- देह यानि शरीर। अशुभ नाम कर्म के पुत्यय से अशुभ अंगोपांग, निर्माण, संस्थान, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, स्वर वाले, हुंडक संस्थान वाले, उखाड़ दिए हैं सभी पंख जिसके, ऐसे पक्षी की आकृति वाले देह/शरीर होते हैं। उनके शरीर क्रूर, करुण, बीभत्स, प्रतिभयदर्शन वाले, दुःख के भागी, अशुचि होते हैं। इससे नीचे-नीचे अधिक अशुभ होते हैं। रत्नप्रभा (i) के नारकों की शरीर (ii) की ऊँचाई 7 धनुष (iii), 3 हाथ, 6 अंगुल हैं। शेष भू पृथ्वी में दो-दो गुणा होती हैं। स्थिति जैसे ही उत्कृष्ट-जघन्य से जानना।

हि (i) रत्नप्रभा में जघन्य- अंगुल का असंख्यातवां भाग, उत्कृष्ट- 7 ध., 3 हा., 6 अं.।
पूर्व-पूर्व की नरकों का उत्कृष्ट बाद-बाद वाली नरकों का जघन्य होता है।

(ii) शरीर - दो प्र. (a) भव धारक (b) उत्तर वैक्रिय। उत्तर वैक्रिय शरीर की ऊँचाई भवधारक शरीर से दो गुना जानना।

(iii) 8 जौ का एक अंगुल, 24 अंगुल = 1 हाथ, 4 हाथ = 1 धनुष।

प्रा. नरकों में नीचे-नीचे अशुभतर वेदना होती है। वह इस प्रकार- पहली नरक में उष्ण वेदना, दूसरी में तीव्रतर उष्ण वेदना, तीसरी में तीव्रतम उष्ण वेदना, चौथी में उष्ण और शीत वेदना, पाँचवीं में शीत और उष्ण वेदना, बाद वाली 2 नरकों में शीततर और शीततम वेदना क्रमशः। वह इस प्रकार- प्रथम शरत्काल में अथवा अंतिम निदाघ में पित्त के प्रकोप से अभिभूत शरीर वाले, सभी ओर से जलती हुई अग्निराशी से घिरे हुए और तिरस्कार नहीं किया है आतप का जिसने, ऐसे व्यक्ति को बादल रहित आकाश में, मध्याह्न में, हवा न होने पर जिस प्रकार का गर्मी से उत्पन्न दुःख होता है, उससे अनन्तगुना, प्रकृष्ट कष्ट उष्ण वेदना वाली नरकों में होता है। पौष और माघ मास की रात्रि में हृदय-हाथ-चरण-नीचे वाला ~~होष~~ होंठ-दाँत को कँपा देने वाला और प्रतिसमय बढ़ने वाला ठंडा पवन होने पर बर्फ से लिप्त शरीर वाले और अग्नि-अक्षय-वस्त्र रहित व्यक्ति को जिस प्रकार का अशुभ, शीत से उत्पन्न दुःख होता है, उससे अनंतगुना प्रकृष्ट कष्ट

DATE ___/___/_____

शीत वेदना वाली नरकों में होता है। यदि उष्ण वेदना वाली नरक से नारक को उठाकर जलती ऐसी बहुत बड़ी अंगार राशि में डाल दे तो वह ~~नरक~~ मानो एकदम ठंडी, कोमल पवन वाली शीतल छाया को प्राप्त हुआ हो, इस प्रकार अनुपम सुख अनुभवता है और निद्रा को प्राप्त करता है; इस प्रकार ~~इस~~ नरक की गर्मी अधिक कष्ट वाली कहते हैं। तथा यदि शीत वेदना वाली नरक से किसी नारक को उठाकर माघ मास में रात्रि में महान् वायु होने पर खुले आकाश में बर्फ की राशि में डाल दे तो दाँत के शब्द उत्तम प्रकंप का आभास करने वाले होने पर भी वह सुख अनुभवता है और अनुपम निद्रा को प्राप्त करता है, इस प्रकार नरक का शीत दुःख अधिक कष्ट वाला कहते हैं।

भा. अशुभतर विक्रिया- नरकों में नारकों को अशुभतर विक्रियाएँ होती हैं, 'शुभ करूँगा' इस प्रकार अधिक अशुभ ही विकुर्वते हैं। और दुःख से अभिहत मन वाले दुःख के प्रतीकार को करने की इच्छा वाले वे अधिक बड़े दुःख के हेतुओं को विकुर्वते हैं।

सू. परस्परोदीरित-दुःखाः ३-५॥

अ. उन नरकों में परस्पर उदीरणा किए हुए दुःख होते हैं।

भा. नरकों में नारकों को परस्पर उदीरणा किए हुए दुःख होते हैं। क्षेत्रस्वभाव से जनित अशुभ पुद्गल परिणाम से दुःख होता है।

भा. (i) वहाँ क्षेत्रस्वभाव से जनित पुद्गलपरिणाम शीत-उष्ण-क्षुधा-पिपासादि हैं। शीत-उष्ण का व्याख्यान किया गया। क्षुधा-पिपासा को कहते हैं। अनुपरत, सूखे ईंधन के ग्रहण वाली अग्नि की तरह तीक्ष्ण ऐसी विस्तृत क्षुधा रूपी अग्नि से बार-बार अत्यंत जलते शरीर वाले नारक प्रतिसमय आहार करते हैं। वे सभी पुद्गलों को भी खा जाएँ और हमेशा नहीं मिटने वाली तीव्र प्यास से सूखे हुए कंठ-होठ-तालु और जीभ वाले नारक सभी समुद्रों का पी जाएँ तो भी तृप्ति को प्राप्त नहीं होते। उनकी क्षुधा-तृष्णा तो बढ़ती ही रहती है, इस प्रकार क्षेत्र प्रत्ययिक दुःख होते हैं।

भा. और परस्परोदीरित दुःख- कहा गया कि 'नारक-देवों को भवप्रत्ययिक अवधि

ज्ञान होता है (1-22)। नारकों में वह अवधिज्ञान अशुभ भव के हेतु वाला है और मिथ्यादर्शन के योग से विभंग(ii) ज्ञान होता है। भवदोष के उपघात से तो उन्हें यह विभंग ज्ञान दुःख का कारण ही होता है। उससे वे चारों ओर ऊपर-नीचे और तिर्च्छा दूर से ही लगातार दुःखों के हेतुओं को देखते हैं। और जैसे कौआ-उल्लू तथा सर्प-नेवला जन्म से ही वैर वाले होते हैं वैसे नारक भी परस्पर बहुवैरी होते हैं। अथवा जैसे बनए कुत्तों को देखकर कुत्ते क्रोधित होते हैं और परस्पर प्रहार करते हैं वैसे अवधि के विषय से दूर से ही परस्पर एक-दूसरे को देखकर उन नारकों को तीव्र अनुशय वाला दुष्कर अंत वाला, संसार के हेतु स्वरूप क्रोध उत्पन्न होता है। उससे पहले ही दुःख समुद्घात से पीड़ित, क्रोध रूपी अग्नि से ज्वलित मन वाले, नहीं विचारते श्वान जैसे उद्भुत भयानक वैक्रिय रूप कर पृथ्वी के परिणाम से और क्षेत्र के अनुभाव से वहीं उत्पन्न होने वाले अयः शूलादि आयुधों को ग्रहण कर हाथ-चरण-दाँतों से एक-दूसरे को मारते हैं। उससे परस्पर अभिहत हुए, विकृत अंग वाले, (पीड़ा से) तणाते, गाढ़ वेदना वाले, कत्तल खाने में (iii) पुष्ट भैंस-सूकर और ऊँट जैसे तड़पते खून के कीचड़ में भी चेष्टा करते हैं (लौटते हैं)। इत्यादि परस्परोदीरित दुःख नरकों में नारक को होते हैं।

(ii) मिथ्यादृष्टि जीवों को विभंग ज्ञान। सम्यग्दृष्टि को अवधिज्ञान। सम्यग्दृष्टि जीव पूर्व जन्म के पापों की निंदा करते हुए, पर द्वारा उत्पन्न दुःखों को सहन करते हुए आयु पूर्ण करते हैं किंतु अन्य जीवों को वेदना उत्पन्न नहीं करते।

(i) सूत्र 3-3 में कुछ क्षेत्रकृत वेदना बाकी रही थी, वही यहाँ कहते हैं।

सू. संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः 3-5॥

अ. चौथी नरक के पहले संक्लिष्ट असुरों द्वारा उदीरित दुःख वाले नारक होते हैं।

अ. चौथी नरक के पहले - अर्थात् तीन भूमियों में नारक संक्लिष्ट असुरों द्वारा उदीरित दुःख वाले होते हैं। वह इस प्रकार- अंब, अम्बरीष, श्याम, शबल, रुद्र, उपरुद्र, काल, महाकाल, असि, असिपत्रवन, कुम्भी, वालुका, वैतरणी, खरस्वर, महाघोष - मिथ्यादृष्टि, पूर्व जन्मों में संक्लिष्ट कर्म वाले, पाप में रत, आसुरी गति को प्राप्त,

DATE ___/___/_____

कर्मक्लेश से उत्पन्न करने वाले थे 15 परमाधार्मिक तत्स्वाभाव्य से नारकों को वेदनाएँ विचित्र उपपत्तियों द्वारा उत्पन्न करते हैं। वह इस प्रकार- तप्त लोह का रस पिलाना, तप्त लोह के स्तंभ का आलिंगन कराना, क्रूर शाल्मलि वृक्ष के अग्र पर चढ़ाना-उतारना, लोह के घन से घात करना, लांस और खुरपे से छीलकर क्षार वाले तप्त तैल से सेक करना, लोह के कुंभ में पकाना, कढ़ाई (अंबरीष) में सेकना, यंत्र में पीलना, लोह के त्रिशूल और शलाका से भेदना, करवत से चीरना, अंगारों से जलाना, वाहन- सुई-शाड्वल (घास) से खींचने द्वारा तथा सिंह-बाघ-दीप-कुत्ता-सियार-वृक-कोक-बिल्ली-नेवला-सर्प-कौआ-गीध-काक-उलूक-बाज आदि को खिलाने द्वारा तथा तप्तबालु में उतारना, असिपत्र वन में ले जाना, वैतरणी नदी में उतारना, परस्पर झगड़ाने आदि द्वारा दुःख उत्पन्न करते हैं।

आ. ऐसा हो किन्तु वे ऐसा क्यों करते हैं? यहाँ कहते हैं- वे पापकर्म में रति वाले होते हैं, इस प्रकार कहा गया। वह इस प्रकार- गाय-वृषभ (बैल)- महिष (भैंसा)- वराह- मेष (भेड़)- कुक्कुट (कुकड़ी)- वार्तक- लावकों को और मुष्टिमल्लों को युद्ध करते और परस्पर मारते हुए को देखते, राग-द्वेष से अभिभूत, अकुशलानुबंधीपुण्य वाले मनुष्यों को अत्यंत प्रीति उत्पन्न होती है; वैसे नारकों को वह (पीड़ा) कराते तथा परस्पर मारते हुए नारकों को देखते हुए उन असुरों को अत्यंत प्रीति उत्पन्न होती है। वे दुष्ट कंदर्प उस प्रकार के नारकों को देखकर अट्टहास करते हैं, कपड़े उड़ाते हैं, चपटी बजाते हैं, तालियाँ बजाते हैं और बड़े-बड़े सिंहनाद करते हैं। उन्हें देवपन होने पर भी और कामिक ऐसे अन्य प्रीतिकारण होने पर भी माया-निदान-मिथ्यादर्शन शल्य और तीव्र कषाय से उपहत; अनात्मोचित भावदोष, पाप प्रति बेपरवाह ऐसे अकुशलानुबंधि पुण्य कर्म का और भाव दोष को खेंचने वाले बाल तप वह फल है कि अन्य प्रीति हेतु होने पर भी अशुभ भाव ही प्रीति के हेतु बनते हैं। इस प्रकार निरंतर, अत्यंत तीव्र, अप्रीतिकर दुःख को अनुभवते, मरण को इच्छते उनका मरण अकाल में नहीं होता, उनका आयुष्य कर्म से निर्धारित होता है। कहा गया है कि 'औपपातिक-

DATE ___/___/ 71

चरमदेहोत्तमपुरुषासङ्ख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः 2-52॥ वहाँ शरण नहीं होता, अपक्रमण भी नहीं। इसलिए कर्म के वश से ही जले हुए-कटे हुए-भिन्न-छिन्न ~~ऐसे इनके~~ घाव वाले ऐसे उनके शरीर जल्दी ही भरा जाते हैं, पानी में दंडु ~~को~~ से की हुई लकीर की तरह।

सू. तेष्वेक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाः सत्तानां परा स्थितिः 3-6॥

स. उन नरकों में 1, 3, 7, 10, 17, 22 33 सागरोपम जीवों की उत्कृष्ट स्थिति है।

भा. उन नरकों में नारकों की उत्कृष्ट ~~स्थितियाँ~~ होती है। वह इस प्रकार- रत्नप्रभा में 1 सागरोपम। इस प्रकार 3 सागरोपम, 7 सा., 10 सा., 17 सा., 22 सा, 33 सा.। जघन्य स्थिति तो आगे कही जाएगी- नारकाणां च द्वितीयादिषु, दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् 4-43।45।

भा. उनमें आस्रवों में यथोक्त ऐसे नारक प्रायोग्य कर्मों से प्रथम नरक में असंज्ञी जीव उत्पन्न होते हैं। सरीसृप दो नरक में अर्थात् पहले से प्रथम और द्वितीय में। इस प्रकार पक्षी 3 में। सिंह 4 में। उरग 5 में। स्त्री 6 में। मत्स्य और मनुष्य 7 में। देव और नारक नरकों में उत्पन्न नहीं होते क्योंकि उन्हें महारंभपरिग्रहादि नरकगति के निवर्तक हेतु नहीं है। (6-16) (नरक की उपगति)

भा. नारक भी निकृष्टकर देवों में उत्पन्न नहीं होते। क्योंकि उन्हें भी सरागसंयमादि देवगति के निवर्तक हेतु नहीं है (6-20)। नारक निकृष्टकर तिर्यंच योनि और मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं। कुछ मनुष्यत्व प्राप्त कर आदि से 3 नरक से तीर्थंकरत्व भी प्राप्त करते हैं, 4 नरक से निर्वाण, 5 नरक से संयम, 6 से संयमासंयम, 7 से सम्यग्दर्शन भी प्राप्त करते हैं। (नरक की गति)

भा. (नीचे की 6 पृथ्वियों में) द्वीप, समुद्र, पर्वत, नदी, ह्रद, तडाग, सरोवर अथवा ग्राम, नगर, पत्तनादि बस्तियाँ, बादर वनस्पति, वृक्ष-तृण-गुल्मादि, द्वीन्द्रियादि, तिर्यंच, मनुष्य, पनिकाय के देवा भी नहीं है। समुद्घात, उपपात, विक्रिया, सांगतिक और नरकपाल से अन्य कोई नहीं है। उपपात से देव रत्नप्रभा में ही होते हैं, अन्य पृथ्वियों में नहीं। गति तीसरी नरक तक ही होती है।

DATE __/__/____

टी. (i) समुद्घात में रहे केवली। उपपात में नारक ही। वैक्रियऋद्धिलब्धि संपन्न। सांगतिक= पूर्वजन्म के मित्रादि। नरकपाल परमाधार्मिक।

भा. (अन्य भी लोकानुभाव कहते हैं-) जो वायु पानी को धारण करती है और पानी झरता नहीं है तथा पानी पृथ्वी को धारण करता है, पृथ्वी पानी में विलीन नहीं होती। अनादि पारिणाम वाले, नित्य सन्तति वाले उस लोक विनि-वेश का लोकस्थिति ही हेतु है।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है - आपके द्वारा कहा गया कि 'लोकाकाशेऽवगाहः 5-12' 'तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् 10-5'। उसमें लोक क्या है अथवा कितने प्रकार का है अथवा किस आकार का है? यहाँ कहते हैं - पंचास्तिकाय का समुदाय लोक है। वे अस्तिकाय स्वरूप से ~~[illegible]~~, विधान से और लक्षण से कहे गए और कहे जाएँगे। वह लोक-क्षेत्र विभाग से 3 प्र. का- अधः (i) तिर्यग्, ऊर्ध्व। धर्म और अधर्मास्तिकाय लोक की व्यवस्था के हेतु हैं। उन दोनों के अवगाहन विशेष से और लोकानुभाव के नियम से सुप्रतिष्ठक (ii) और वज्र की आकृति वाला लोक है। अधोलोक गाय के अधः स्कंध की आकृति वाला है।

टी. (i) मध्यलोक- समभूतला से 900 यो. ऊपर-नीचे।

(ii) सुप्रतिष्ठक- कपड़ों को धूपित करने का यंत्र विशेष।

भा. यह कहा गया (अधोलोक)। 'न भूमि नीचे-नीचे पृथु, छत्रातिच्छत्र संस्थान वाली है 3-1' इस प्रकार वे कही गई। तिर्यग्लोक झल्लरी की आकृति वाला है। ऊर्ध्वलोक मृदंग की आकृति वाला है। उसमें तिर्यग्लोक की घसीट के लिए यह आकृति मात्र कही जाती है।

सू. जम्बूद्वीपलवणादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः 3-7॥

अ. जम्बूद्वीप और लवणादि शुभ नाम वाले द्वीप-समुद्र हैं।

भा. जंबूद्वीपादि द्वीप और लवणादि समुद्र हैं। शुभ नाम वाले अर्थात् लोक में जितने शुभ नाम हैं, वे नाम वाले अथवा शुभ ही नाम हैं जिनके वे शुभनाम वाले। द्वीप के बाद समुद्र है, समुद्र के बाद द्वीप है। क्रमशः। वह इस प्रकार- जंबूद्वीप (नामक) द्वीप है। लवणोद समुद्र। धातकीखंड द्वीप। कालोद समुद्र।

DATE __/__/73

पुष्करवर द्वीप। पुष्करोद समुद्र। वरुणवर द्वीप। वरुणोद समुद्र। क्षीरवर द्वीप। क्षीरोद समुद्र। नंदीश्वर द्वीप। नंदीश्वरोद समुद्र। अरुणवर द्वीप। अरुणवरोद समुद्र। इस प्रकार स्वयम्भूरमण समुद्र तक असंख्य द्वीपसमुद्र जानना।

सू. द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः 3-8॥
म. वे सभी द्वीप-समुद्र दो-दो गुना विष्कंभ वाले, पूर्व-पूर्व को घेरे हुए और वलय की आकृति वाले हैं।
भा. वे सभी द्वीप-समुद्र क्रमशः शुरू से दो-दो गुना विष्कम्भ वाले, पूर्व-पूर्व को घेरने वाले और वलय की आकृति वाले जानना। वह इस प्रकार- जंबूद्वीप का विष्कंभ 1 लाख योजन कहा जाएगा (सू. 3-9)। उससे दो गुना लवणजल समुद्र का, लवणजलसमुद्र से दो गुना धातकीखंड द्वीप का, इस प्रकार स्वयंभूरमणसमुद्र तक जानना॥ पूर्वपूर्वपरिक्षेपी- सभी द्वीप-समुद्र पूर्व-पूर्व वाले को घेरने वाले जानना। जंबूद्वीप लवणसमुद्र से घिरा हुआ है। लवणसमुद्र धातकीखंड द्वीप से घिरा हुआ है। धातकीखंड द्वीप कालोद समुद्र से घिरा हुआ है। कालोद समुद्र पुष्करवर द्वीप के अर्ध भाग से घिरा हुआ है। पुष्करवर द्वीप का अर्धभाग मानुषोत्तर पर्वत से घिरा हुआ है। पुष्करवर द्वीप पुष्करवरोद समुद्र से घिरा हुआ है। इस प्रकार स्वयंभूरमण समुद्र तक जानना॥ वलयाकृति- मानुषोत्तर पर्वत के साथ वे सभी द्वीपसमुद्र वलय की आकृति वाले जानना।

सू. तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः 3-9॥
म. उन द्वीप-समुद्रों के मध्य में, मेरु पर्वतरूप नाभि वाला, 1 लाख यो. विष्कंभ वाला जंबूद्वीप है।
भा. तेषां द्वीपसमुद्राणां मध्ये इति तन्मध्ये। मेरु है नाभि पर जिसके अथवा मेरु है नाभि जिसकी, वह मेरुनाभिः। अर्थात् मेरु है जिसके मध्य में। सभी द्वीप और समुद्रों के अंदर गोल कुम्हार के चक्र की आकृति वाला 1 लाख यो. विष्कंभ वाला जंबूद्वीप है, 'वृत्त' शब्द का ग्रहण नियम के लिए है। लवणादि वलय जैसे गोल हैं, जंबूद्वीप तो पुतर जैसा गोल है इस प्रकार, जैसे जाना

DATE ___/___/___

जाता है, वैसे वलयाकृति से चौरस या त्रिकोण का भी परिक्षेप होता है, ऐसा नहीं होता।

आ. मेरु पर्वत भी सोने की थाली जैसा गोल 1000 यो. नीचे पृथ्वी तल में गड़ा हुआ, 99 हजार यो. ऊँचा, 10 हजार यो. नीचे से और 1000 यो. ऊपर से विस्तृत है। तीन कांड वाला, तीन लोक में विभक्त मूर्ति वाला वह पर्वत भद्रशाल, नंदन, सौमनस, पाण्डुक नामक 4 वन द्वारा परिवृत है। उसमें पहला कांड 1000 यो. का शुद्ध पृथ्वी, उपल (पत्थर), वज्र और शर्करा की बहुलता वाला है। 63 हजार यो. का द्वितीय कांड चांदी, जातरूप सुवर्ण और अंकस्फटिक की बहुलता वाला है। तीसरा कांड 36 हजार यो. का जांबूनद सुवर्ण की बहुलता वाला है। इसकी चूलिका वैडूर्य रत्न की बहुलता वाली, ऊँचाई से 40 यो, विष्कंभ मूल में 12 यो., मध्य में 8 यो, ऊपर 4 यो. है। (पर्वत के) मूल में वलय को घेरने वाला भद्रशाल वन है। भद्रशाल वन से 500 यो. ऊपर चढ़कर उतने ही विस्तार वाला (500 यो.) नंदन वन है। उससे 65500 (i) यो. चढ़कर 500 यो. विस्तार वाला सौमनस वन है। उससे भी 36000 यो. ऊपर 494 यो. विस्तार वाला पांडुक वन है। नंदन (ii) और सौमनस वन से 11-11 हजार यो. चढ़कर विष्कंभ की पूरा परिहानि होती है।

(i) त्रिषष्टिसहस्रसङ्ख्यापूरणस्य योजनसहस्रार्धेन युक्ता संख्या अर्धत्रिषष्टिः।

(ii) भावार्थ - नंदन और सौमनस वन के बीच में प्रत्येक 11000 यो. पर 1000 यो. विष्कंभ कम होता है। यहाँ नंदन वन के नीचे और सोमनस वन के ऊपर आचार्य द्वारा परिहानि न कही गई। यह परिहानि गणित से भी match नहीं होती। अर्थ. अनुसार मेरु पर्वत -

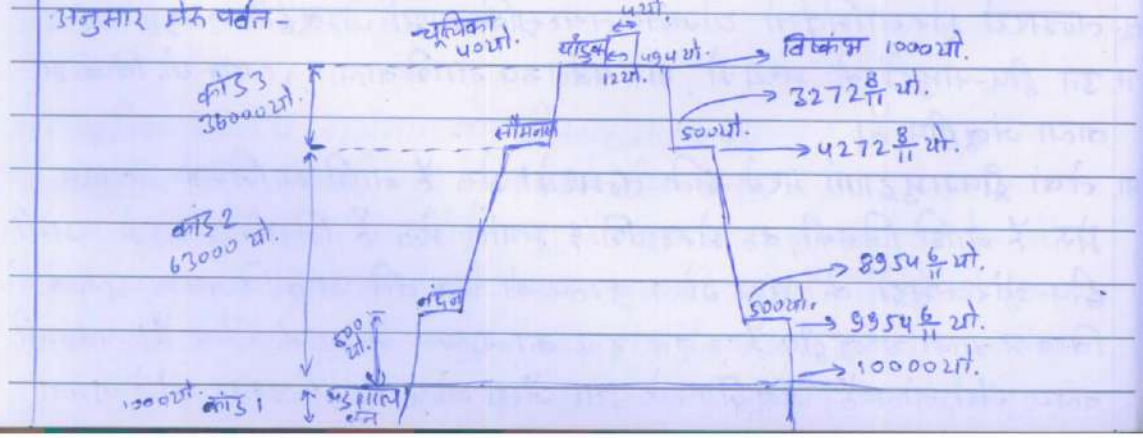

DATE / / 75

सू. तत्र भरत-हैमवत-हरि-विदेह-रम्यक-हैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि 3-10॥

भा. वहाँ भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत, ऐरावतवर्ष क्षेत्र हैं।

भा. उस जंबूद्वीप में भरत-हैमवत- हरि, विदेह, रम्यक-हैरण्यवत, ऐरावत इस प्रकार वंश (बाँस जैसे) ये क्षेत्र हैं। भरत के उत्तर में हैमवत, हैमवत के उत्तर में हरि, इस प्रकार शेष हैं। वंश, वर्ष, वास्य इस प्रकार इनके गुण से पर्याय नाम हैं।

टी. (i) बांस पर्व वाला होता है, वैसे ही पर्वभाग के विभाजन से ये (क्षेत्र) वंश हैं। वर्ष के संनिधान से वर्ष और मनुष्यादि के निवास से वास्य हैं।

भा. व्यवहार नय की अपेक्षा से सूर्य द्वारा किए दिशा के नियम से इन सभी की उत्तर दिशा में मेरु पर्वत है। लोक के मध्य में रहे आठ प्रदेश वाले, ~~रुचक~~ ~~ऐसा~~ दिशा के नियम के हेतु रूप रुचक की अपेक्षा से यथासंभव दिशा होती है।

टी. (i) जिस दिशा में सूर्य में उगे, वह पूर्व। जिस दिशा में सूर्यास्त हो वह पश्चिम।

(ii) तिर्च्छालोक के मध्य में, मेरु पर्वत के मध्य में, समतल भूमिभाग पर दो प्रतरों में ऊपर और नीचे इस प्रकार 8 रुचक प्रदेश Cube आकार में हैं। वहाँ से दिशा और विदिशाएँ चालू होती हैं। ये दिशा ~~विदिशा~~ 2 प्रदेश से शुरू होकर ~~अनंत~~ ~~प्र~~ अनंत प्रदेश तक सादि-अनंत होती हैं। इनके नाम पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर हैं। अन्य नाम क्रमशः ऐन्द्री, याम्री, वारुणी, सौम्या। विदिशा 1-1 प्रदेश की line स्वरूप है। इनके नाम - ईशानी, आग्नेयी, नैऋती, वायवी। उनके ऊपर 4 प्रदेश से विमला और नीचे के 4 प्रदेश से तमा दिशा चालू होती है।

सू. तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्-महाहिमवन्-निषध-नील-रुक्मि-शिखरिणो वर्षधरपर्वताः 3-11॥

भा. उनका (क्षेत्रों का) विभाग करने वाले पूर्व से पश्चिम दिशा तक विस्तृत हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी, शिखरी वर्षधर पर्वत हैं।

भा. उन वर्षों के विभाग करने वाले हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी, शिखरी इस प्रकार ये 6 वर्षधर पर्वत हैं। भरत और हैमवत क्षेत्र का विभाग करने वाला हिमवान् पर्वत है, हैमवत और हरिवर्ष क्षेत्र का विभाग करने वाला महाहिमवान् पर्वत है, इस

गणित= Area
बाहु =

DATE __/__/__

प्रकार शेष पर्वत हैं। उनमें भरत क्षेत्र का विष्कंभ $526\frac{6}{19}$ यो. है। वह विष्कंभ 2-2 गुना हिमवान् पर्वत, हैमवत क्षेत्रादि का विदेह तक जानना। ~~विदेह~~ बाद में विदेह से अर्ध-अर्ध हीन जानना। हिमवान् पर्वत 25 यो. जमीन में गढ़ा हुआ और 1000 यो. ऊँचा है। उससे 2 गुना महाहिमवान्। उससे 2 गुना निषध।

भरत क्षेत्र की ज्या (Chord) $14471\frac{6}{19}$ यो. है। इषु कहे हुए विष्कम्भ जितना $526\frac{6}{19}$ यो.। धनुःकाष्ठ (जीवा) (Arc) $14528\frac{11}{19}$ यो. है।

भरत क्षेत्र के मध्य में पूर्व से पश्चिम तक लंबा, दोनों तरफ समुद्र में रहा वैताढ्य पर्वत $6\frac{1}{4}$ यो. पृथ्वी में गढ़ा हुआ है, 50 यो. विस्तार से और 25 यो. ऊँचा है।

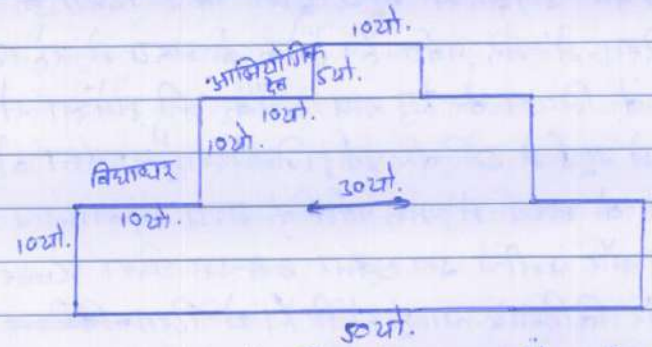

विदेह में निषध के उत्तर में और मंदर के दक्षिण में 100 कांचन पर्वत, चित्रकूट और विचित्रकूट पर्वत से शोभित देवकुरु क्षेत्र है। विष्कंभ से 11842 यो. एक है। इसी प्रकार उत्तर में (मेरु के) चित्र-विचित्रकूट से हीन और सुवर्ण के ही 2 यमक पर्वत से शोभित उत्तरकुरु क्षेत्र है।

देवकुरु क्षेत्र में 5 द्रह हैं। प्रत्येक का अंतर $8334\frac{1}{2}$ यो. है। इन द्रहों के मध्य से ही सीतोदा नदी बहती है। इन द्रहों के दोनों ओर 10-10 कांचन पर्वत हैं।

निषध पर्वत से $8334\frac{1}{2}$ यो. दूर सीतोदा नदी के पूर्व और पश्चिम किनारे पर क्रमशः चित्रकूट और विचित्रकूट पर्वत हैं। उनकी ऊँचाई 1000 यो. विष्कंभ मूल में 1000 यो. ऊपर 500 यो. है।

चित्र-विचित्र कूट जैसे ही उत्तर कुरु में 2 यमक पर्वत हैं।

विदेह क्षेत्र मंदर पर्वत-देवकुरु-उत्तरकुरु से विभाग किए हुए अन्य क्षेत्र की तरह ही होते हैं - पूर्व और पश्चिम। पूर्व में नदी-पर्वत से विभक्त, परस्पर अगम्य ऐसी 16

कृति (वर्ग) = Square अभ्यास = Multiplication इषु =
मूल = Square root ज्या = Chord धनु:काष्ठ = Arc
परिक्षेप = Circumference शोधन = ~~Division~~ Subtraction विष्कम्भ = ~~Dia~~ Diameter DATE / / 79

चक्रवर्ती विजय हैं, पश्चिम में भी इसी प्रकार 16 ही विजय हैं। ~~उनमें~~
सा. समान आयाम (लंबाई), विष्कंभ, अवगाह और ऊँचाई वाले दक्षिण और उत्तर में वैताढ्य पर्वत हैं, इसी प्रकार हिमवान् और शिखरी, महाहिमवान् और रुक्मी, निषध और नील पर्वत हैं।

प्र. धातकीखंड और पुष्करार्ध में रहे ~~4~~ चारों क्षुद्र मेरु पर्वत महामेरु पर्वत से 15000 यो. हीन ऊँचाई वाले हैं। पृथ्वी में 600 यो. हीन विष्कंभ वाले हैं। उनका प्रथम कांड महामेरु के समान है (ऊँचाई में 1000 यो.)। द्वितीय कांड 7000 यो. हीन, तृतीय कांड 8000 यो. हीन है। भद्रशाल और नंदन वन महा मेरु पर्वत जैसे ही हैं (समभूतला और 500 यो. ऊँचाई पर)। सौमनस वन 62500 यो. ऊँचाई पर 500 यो. विस्तृत ही है। वहाँ से 28000 यो. ऊँचा पांडुक वन 494 यो. विस्तृत ही है। ऊपर और नीचे विष्कंभ तथा अवगाह महामेरु के तुल्य है और चूलिका भी तुल्य है।
(i) ऊपर 1000 यो. विष्कंभ। ~~चूलि~~ चूलिका 40 यो. ऊँची, 12 यो. मूल में विष्कंभ, 4 यो. ऊपर। अवगाह नीचे जमीन में 1000 यो.।

सा. परिक्षेप $= \sqrt{(\underset{\text{जंबूद्वीप}}{\text{विष्कम्भ}})^2 \times 10}$

गणित = परिक्षेप × $\frac{\underset{\text{जंबूद्वीप}}{\text{विष्कम्भ}}}{4}$

ज्या $= \sqrt{(\underset{\text{जंबूद्वीप}}{\text{विष्कंभ}} - \text{इषु}) \times \text{इषु} \times 4}$ (यहाँ इच्छा अवगाह = इषु)

इषु $= \frac{\underset{\text{जंबूद्वीप}}{\text{विष्कंभ}} - \sqrt{(\underset{\text{जंबूद्वीप}}{\text{विष्कंभ}})^2 - (\text{ज्या})^2}}{2}$

धनु. काष्ठ $= \sqrt{(\text{इषु})^2 \times 6 + (\text{ज्या})^2}$

विष्कंभ $= \frac{\frac{(\text{ज्या})^2}{4} + (\text{इषु})^2}{\text{इषु}}$

* तीसरे और चौथे सूत्र में विष्कम्भ शब्द से भरत क्षेत्र का विष्कम्भ अर्थात् इषु लेना।

DATE ___/___/___

बाहु = बड़े धनुः पृष्ठ - छोटा धनुः पृष्ठ
2

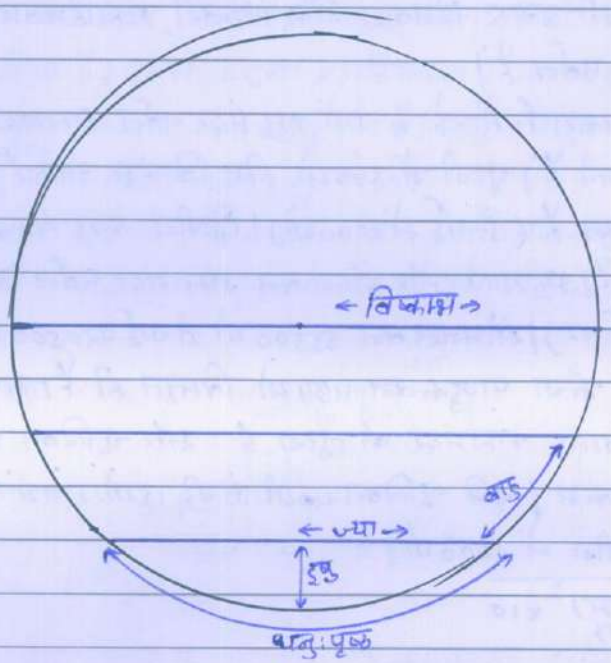

इन करण के उपाय से क्षेत्रों के, वैताढ्यादि पर्वतों के आयाम, विष्कम्भ, ज्या, इषु, धनुःकाष्ठ के परिमाण जानना चाहिए।

वि. ~~भस्त क्षेत्र के~~

सू. द्विर्धातकीखण्डे 3-12॥

उ. धातकीखण्ड में क्षेत्र-पर्वतादि 2-2 होते हैं।

भा. जंबूद्वीप में कहे गए ये मंदर पर्वत-वर्षक्षेत्र-वंशधर पर्वत धातकीखंड में दो गुना, दक्षिण-उत्तर लंबे दो इषुकार पर्वत से विभक्त हैं। इन्हीं नामों से जंबूद्वीप के समान संख्या वाले पूर्वार्ध और अपरार्ध में चक्र के आरे के आकार में रहे, निषध पर्वत समान ऊँचाई वाले, कालोदधि और लवण समुद्र के जल का स्पर्श करने वाले, इषुकार सहित वंशधर पर्वत हैं। आरे के बिंब के आकार में रहे वंश क्षेत्र हैं।

~~इस~~ उत्सेध अंगुल से 1000 गुना प्रमाणांगुल होता है।

DATE ___/___/ 81

सू. पुष्करार्धे च 3-13 ॥

अ. अर्ध पुष्कर द्वीप में भी इतने ही क्षेत्र-पर्वत होते हैं।

भा. इषु आकार पर्वत सहित मंदरादि का संख्या विषयक जो नियम धातकीखंड में है, वही पुष्करार्ध में भी जानना।

भा. उसके बाद मनुष्य लोक का परिक्षेप करने वाला, श्रेष्ठ नगर के प्राकार समान (गोल), मानुषोत्तर पर्वत ~~का~~ स्वर्णमय अर्ध पुष्कर द्वीप में निर्दिष्ट है। वह पर्वत 1721 यो. ऊँचा, 430 यो. 1 कोस पृथ्वी गड़ा हुआ है। 1022 यो. नीचे से विस्तृत, 723 मध्य में और 424 यो. ऊपर विस्तृत है। इस पर्वत से आगे चारण और विद्याधर की ऋद्धि को प्राप्त मनुष्य भी जन्म अथवा संहरण से पहले नहीं हुए, नहीं होते हैं, नहीं होंगे। समुद्घात, उपपात से अन्य (सिवाय) मनुष्य का जन्म या मरण मानुषोत्तर पर्वत के बाहर नहीं होता, इसलिए ही मानुषोत्तर कहा जाता है।

(i) कोई ~~अ~~ अढीद्वीप में रहा मनुष्य मरणसमुद्घात से मृत्यु पामकर अढीद्वीप के बाहर उत्पन्न हो, इस अपेक्षा से मनुष्य की मृत्यु अढीद्वीप के बाहर संभव है।

(ii) अढीद्वीप के बाहर रहा कोई जीव वक्र गति से अढीद्वीप में मनुष्य रूप उत्पन्न हो, ~~इस अपेक्षा~~ तो उसका मनुष्यायु वक्र गति के ~~अंत~~ में उदय में आ जाता है, इस अपेक्षा से अढीद्वीप के बाहर मनुष्य जन्म संभव है।

भा. इस प्रकार मानुषोत्तर पर्वत के पहले अढीद्वीप, 2 समुद्र, 5 मेरु पर्वत, 35 क्षेत्र, 30 वर्षधर पर्वत, 5 देवकुरु, 5 उत्तर कुरु, 160 चक्रवर्ती विजय, 255 (ii) जनपद, 56 अंतरद्वीप हैं।

(ii) प्रत्येक भरत और ऐरावत क्षेत्र में 25.5 देश आर्य जनपद हैं। 5 भरत - 5 ऐरावत, कुल 10 क्षेत्र में 25.5 × 10 = 255 जनपद।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है - आपके द्वारा कहा गया कि 'मानुषस्य स्वभावमार्दवार्जवत्वं च 6-18'। उसमें मनुष्य कौन हैं अथवा कहाँ हैं? यहाँ कहते हैं -

सू. प्राङ् मानुषोत्तरान्मनुष्याः 3-14॥

अ. मानुषोत्तर पर्वत के पहले मनुष्य होते हैं।

भा. मानुषोत्तर पर्वत के पहले अंतरद्वीप सहित 35 क्षेत्रों में जन्म से मनुष्य होते हैं। संहरण

DATE ___/___/_____

विद्या और ऋद्धि के योग से तो मंदर पर्वत के शिखर सहित पूरे $2\frac{1}{2}$ द्वीप और 2 समुद्र में मनुष्य होते हैं। भरतक, हैमवतक इत्यादि क्षेत्र के विभाग से, जंबूद्वीपक, लवणक इत्यादि द्वीप समुद्र के विभाग से मनुष्य होते हैं।

सू. आर्या म्लेच्छाश्च ३-१५॥
उ. मनुष्य के २ प्र. आर्य और म्लेच्छ होते हैं।
भा. मनुष्य २ प्र. के होते हैं - आर्य और म्लेच्छ। उनमें आर्य ६ प्र. - क्षेत्रार्य, जाति आर्य, कुलार्य, कर्मार्य, शिल्पार्य, भाषार्य। उसमें क्षेत्रार्य १५ कर्मभूमियों में, भरत में $25\frac{1}{2}$ जनपदों में और शेष चक्रवर्ति विजयों में उत्पन्न मनुष्य हैं।
(i) जाति आर्य - इक्ष्वाकु, विदेह, हरि, अम्बष्ठ, ज्ञात, कुरु, बुद्धनात्, उग्र, भोग, राजन्य इत्यादि। (i) कुलार्य - कुलकर, चक्री, बलदेव, वासुदेव और जो अन्य भी तीसरे अथवा पाँचवे अथवा सातवें कुलकर तक विशुद्ध अन्वय प्रकृति वाले हैं। (ii) कर्मार्य - यजन, याजन, अध्ययन - अध्यापन, प्रयोग, कृषि, लिपि, वाणिज्य, योनि पोषण वृत्ति वाले। (iii) शिल्पार्य - तन्तुवाय, कुम्हार, नाई, तुन्नवाय, दैवट आदि अल्प सावद्य, और अगर्हित जीव। भाषार्य - जो शिष्टों की भाषा से नियत वर्ण वाले और लोकरूढ से स्पष्ट शब्द वाले संव्यवहार को, इ पाँचों प्रकार के आर्यों के व्यवहार को बोलते हैं।
द्वि. (i) पिता के अन्वय वाली जाति, माता के अन्वय वाली कुल।
(ii) जो आचार्य के पास नहीं सीखते वह कर्म, जो आचार्य के पास सीखा जाए वह जाति
भा. इससे विपरीत म्लेच्छ होते हैं। वह इस प्रकार हिमवान् पर्वत के पूर्व और पश्चिम में चारों विदिशा में लवण समुद्र में ३०० यो. दूर ५ मनुष्यविजातियों के ५ ३०० यो. विष्कंभ और आयाम वाले ५ अंतरद्वीप हैं, वह इस प्रकार - (i) एकोरुक मनुष्यों का, (ii) आभासिक मनुष्यों का, (iii) लांगूली मनुष्यों का, (iv) विषाणी मनुष्यों का। इसी प्रकार ४०० यो. दूर ४०० यो. विष्कंभ-आयाम वाले ४ द्वीप - हयकर्ण मनुष्यों का, गजकर्ण मनुष्यों का, गोकर्ण मनुष्यों का, शष्कुलीकर्ण मनुष्यों का। ५०० यो. दूर ५०० यो. आयाम-विष्कंभ वाले अंतरद्वीप - आदर्श, मेष, हय गजमुख नाम ६०० यो. दूर उतने ही आयाम-विष्कंभ वाले अंतरद्वीप - अश्व, हस्ति, सिंह, व्याघ्र वाले

DATE __/__/83

मुख नाम वाले। 700 यो. दूर 700 यो. आयाम-विष्कंभ वाले अंतरद्वीप- अश्वकर्ण, सिंहकर्ण हस्तिकर्ण, कर्णप्रावरण नाम वाले। 800 यो. दूर 800 यो. आयाम-विष्कंभ वाले अंतरद्वीप- उल्कामुख, विद्युज्जिह्व, मेषमुख, विद्युद्दन्त नाम वाले। 900 यो. दूर 900 यो. आयाम-विष्कंभ वाले अंतरद्वीप- घनदंत, गूढदंत, श्रेष्ठदंत, शुद्धदंत नाम वाले। एकोरुक मनुष्यों का एकोरुक द्वीप। इस प्रकार शेष मनुष्यों के भी स्व-नाम से तुल्य नाम वाले द्वीप जानना। (ये 28 द्वीप हिमवान् पर्वत के पास हुए।) शिखरी पर्वत के भी इसी प्रकार ये 28 द्वीप होते हैं, कुल 56 अंतरद्वीप।

(i) इनकी क्रमशः पूर्वोत्तर, दक्षिणपूर्व, दक्षिणपश्चिम, उत्तरपश्चिम।

(ii) ये मनुष्य सुंदर अंगोपांग वाले और मनोरम दर्शन वाले होते हैं।
ये सभी मनुष्य युगलिक होते हैं, एक पल्योपम के असंख्यातवें भाग के आयुष्य वाले और 800 धनुष ऊँचाई वाले होते हैं।

सू. भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः 3-16॥
अ. देवकुरु, उत्तरकुरु से अन्य भरत-ऐरावत और विदेह कर्मभूमि हैं।
भा. मनुष्यक्षेत्र में देवकुरु-उत्तरकुरु (सिवाय) सिवाय विदेह, भरत-ऐरावत 15 कर्मभूमियाँ हैं। संसार रूपी दुर्ग के अंत (पार) ले जाने वाले, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक मोक्षमार्ग के ज्ञाता, कर्ता, उपदेशक, परम ऋषि, तीर्थंकर भगवंत यहाँ उत्पन्न होते हैं। यहीं जन्मे हुए जीव सिद्ध होते हैं, अन्य जगह जन्मे हुए जीव सिद्ध नहीं होते। इसलिए कर्म के निर्वाण (निर्वृत्ति) के लिए, सिद्धिभूमि रूप ये कर्मभूमि हैं। अंतरद्वीप सहित शेष 20 क्षेत्र अकर्मभूमि हैं। देवकुरु-उत्तरकुरु तो कर्मभूमि क्षेत्र के अंदर होने पर भी अकर्मभूमि हैं।

सू. नृस्थिती परापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते 3-17॥
अ. मनुष्य की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति 3 पल्योपम और अंतर्मुहूर्त है।
भा. नृ, नर, मनुष्य, मानुष इस प्रकार एकार्थक शब्द हैं। मनुष्यों की उत्कृष्ट स्थिति 3 पल्योपम है, जघन्य अंतर्मुहूर्त है।

DATE ___/___/___

सू. तिर्यग्योनीनां च ३-३९॥

अ. तिर्यंच योनि वाले जीवों की भी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति ३ पल्योपम और अंतर्मुहूर्त है।

आ. तिर्यंच ~~भोनी~~ योनि जीवों की भी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति क्रमशः ३ पल्योपम और अंतर्मुहूर्त है। ~~अन्यथा~~ यथासंख्य दोष की निवृत्ति के लिए, अन्यथा (यदि) एक ही सूत्र होता तो दोनों जगह पर (दोनों) यथासंख्य क्रमशः होते।

इ. (ई) 'नृतिर्यग्योनिस्थिती परापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते' यदि ऐसा एक ही सूत्र बनाते तो 'नृतिर्यग्योनि' में भी यथासंख्य न्याय लगता।

आ. मनुष्य और तिर्यंचों की स्थिति २ प्र. - भवस्थिति और काय स्थिति। मनुष्यों की यथोक्त उत्कृष्ट-जघन्य त्रिपल्योपम - अन्तर्मुहूर्त भवस्थिति है। काय स्थिति तो उत्कृष्ट ७ अथवा ८ भव है।

तिर्यंचों की संक्षेप से भवस्थिति कथनानुसार होती है। विस्तार से तो शुद्ध पृथ्वी काय की उत्कृष्ट स्थिति १२००० वर्ष, ~~अप्कायु~~ खर पृथ्वी की २२००० वर्ष, अप्काय की ७००० वायुकाय की ३०००, तेउकाय की ३ दिन-रात वनस्पतिकाय की १०००० वर्ष। इनकी काय स्थिति असंख्य उत्सर्पिणी - अवसर्पिणी, वनस्पतिकाय की अनंत उत्सर्पिणी - अवसर्पिणी॥ बेइन्द्रियों की भवस्थिति १२ साल, त्रेइन्द्रियों की ४९ दिनरात, चउरिन्द्रियों की ६ मास। इनकी कायास्थिति संख्यात हजार वर्ष॥ पंचेन्द्रिय तिर्यंच - ५ प्र. - मत्स्य, उरग, परिसर्प, पक्षी, चतुष्पद। उनमें मत्स्य, उरग, भुजग की पूर्व कोटि, पक्षियों की पल्योपम का असंख्यात वां भाग, गर्भज (गर्भज) चतुष्पद का ३ पल्योपम। इसमें सम्मूर्च्छिम मत्स्य की भवस्थिति पूर्व कोटी, उरगों की ५३ हजार, भुजगों की ४२०००, पक्षियों की ७२०००, स्थलचर (चतुष्पद) की ८४००० वर्ष। इनमें काय-स्थिति ७-८ भव॥ सभी तिर्यंच और मनुष्यों की जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त ही है।

इति श्रीतत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसङ्ग्रहे तृतीयोऽध्यायः।

DATE __/__/ 85

चतुर्थोऽध्यायः

प्रा. यहाँ शिष्य पूछता है - आपके द्वारा कहा गया 'भवप्रत्ययोऽवधिर्नारकदेवानाम् 1-22', तथा औदयिक भावों में देवगति कही गई (2-6), 'केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य 6-14', 'सरागसंयमादि देव के आस्रव 6-20, 'नारक-सम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि, न देवाः 2-50(5)'। इसमें देव कौन हैं अथवा कितने प्रकार के हैं? यहाँ कहते हैं -

सू. देवाश्चतुर्निकायाः 4-1॥

अ. देव 4 निकाय के होते हैं।

प्रा. (i) देव 4 निकाय के होते हैं, (ii) उन्हें हम आगे कहेंगे।

(i) दीव्यन्तीति देवाः। अष्टवत्ती श. 12 उ. 9 सू. 461 - देव 5 प्र. → (a) भव्यद्रव्य देव - जो मनुष्य या तिर्यंच देव गति में उत्पन्न होने वाले हों (b) नरदेव - चक्रवर्ती (c) धर्मदेव - मुनि (d) देवाधिदेव - तीर्थंकर (e) भावदेव - देवगति वाले 4 निकाय के देव। इस अध्याय में भावदेवों का अधिकार होने से 4 निकाय के देव कहे।

(ii) निकाय = निवास। देवों के निवास स्थान के भेद से 4 प्र. हैं। उनका जन्म स्थान और (भवनपति और व्यंतर प्राय:) निवास स्थान अलग-अलग होता है। भवनपति देव रत्नप्रभा पृथ्वी में ऊपर-नीचे एक-एक हजार यो. छोड़कर उत्पन्न होते हैं और निवास तो तिर्च्छालोक में भी करते हैं। इसी प्रकार व्यंतर रत्नप्रभा पृथ्वी के पहले 1000 यो. में उत्पन्न होते हैं और रहते तो तीनों लोक में हैं।

→ अत. - यह कैसे स्वीकारें कि 4 निकाय के देव होते हैं? उ. उनमें से एक निकाय के देव प्रत्यक्ष हैं, वह कहते हैं -

सू. तृतीयः पीतलेश्यः 4-2॥

अ. तीसरा देव निकाय पीतलेश्या वाला है।

प्रा. उन 4 देव निकायों में तीसरा देवनिकाय पीतलेश्या वाला ही होता है। व यह कौन-सा है? ज्योतिष्क। (ii)

(i) यहाँ द्रव्यलेश्या अर्थात् शरीर का वर्ण जानना।

DATE __/__/____

(ii) वे चार निकाय क्रमशः - भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क, वैमानिक हैं।

सू. दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ४-३॥
उ. कल्पोपपन्न तक के देव १०, ८, ५, १२ भेद वाले हैं।
भा. वे देवनिकाय क्रमशः इस प्रकार के विकल्प वाले होते हैं। वह इस प्रकार - भवनवासी असुरादि १०प्र. के कहे जाएँगे। व्यंतर किन्नरादि ८प्र.। ज्योतिष्क सूर्यादि ५प्र.। कल्पोपपन्न तक के वैमानिक देव सौधर्मादि विमानों में १२भ.।

सू. इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषद्यात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्य-किल्बिषिकाश्चैकशः ४-४॥
उ. इन प्रत्येक के इंद्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्य, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्बिषिक १०प्र. हैं।
भा. इन देवनिकायों में प्रत्येक निकाय के देवा १०प्र. के होते हैं। वह इस प्रकार - इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्य, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक (सेनाधिपति और सेना) प्रकीर्णक, आभियोग्य, किल्बिषिक। उसमें इन्द्र भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-विमान के अधिपति। इन्द्र के समान जो हैं, वे सामानिक; मंत्री, पिता, गुरु, उपाध्याय, महत्तर जैसे, मात्र इन्द्रत्व से हीन। त्रायस्त्रिंश - मंत्री और पुरोहित के स्थान वाले। पारिषद्य - मित्र के स्थान वाले। अनीकाधिपति - दंडनायक के स्थान पर। अनीक - सेना के स्थान पर। प्रकीर्णक - नगरजन के स्थान पर। आभियोग्य - दास के स्थान पर। किल्बिष - अन्तस्थ अर्थात् चंडालादि के स्थान पर।
* आत्मरक्ष - Bodyguard के स्थान पर। लोकपाल - आरक्षक के स्थान पर।

सू. त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ४-५॥
उ. व्यन्तर और ज्योतिष देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल सिवाय ८ होते हैं।
भा. सूत्रार्थ जैसा ही।

DATE / / 87

सू. पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ५-६॥
अ. पहले दो देवनिकायों में दो-दो इंद्र होते हैं।
भा. पहले दो देवनिकाय अर्थात् भवनपति और व्यन्तर में देव के भेदों के २-२ इन्द्र होते हैं। वह इस प्रकार- भवनपति में असुरकुमार देवों के २ इंद्र- चमर और बलि। नागकुमार के धरण और भूतानंद। विद्युत्कुमार के हरि और हरिसह। सुपर्णकुमार के वेणुदेव और वेणुदारी। अग्निकुमार के अग्निशिख और अग्निमाणव। वात-कुमार के वेलंब और प्रभंजन। स्तनितकुमार के सुघोष और महाघोष। उदधि-कुमार के जलकांत और जलप्रभ। द्वीप कुमार के पूर्ण और वसिष्ठ। दिक्कुमार के अमितगति और अमितवाहन॥ व्यन्तरों में भी किन्नर देवों के दो इंद्र- किन्नर और किंपुरुष। किंपुरुष के सत्पुरुष और महापुरुष। महोरग के अतिकाय और महाकाय। गन्धर्व के गीतरति और गीतयशा। यक्ष के पूर्णभद्र और माणिभद्र। राक्षस के भीम और महाभीम। भूत के प्रतिरूप और अतिरूप। पिशाच के काल और महाकाल॥ ज्योतिष्क देवों के तो बहुत सारे सूर्य और चन्द्र हैं॥ वैमानिक देवों के १-१ इंद्र ही हैं। वह इस प्रकार- सौधर्म में शक्र। ईशान में ईशान। सनत्कुमार में सनत्कुमार, इस प्रकार सभी कल्पों में स्व-स्व कल्प के नाम वाले इंद्र हैं॥ इसके आगे तो इन्द्रादि १० भेद नहीं होते, सभी स्वतंत्र होते हैं।

सू. पीतान्तलेश्याः ५-७॥
अ. (पूर्वयोः पद का अधिकार) पहले दो निकाय के देव पीत लेश्या तक ५ लेश्या वाले होते हैं।
भा. सूत्रार्थ जैसा ही।
टि. यह द्रव्य लेश्या जानना। भाव लेश्या तो ६ हो सकती है।

→ भव.- देव ३ प्र. के ⓐ सैदेवीक - सप्रवीचार ⓑ अदेवीक - सप्रवीचार ⓒ अदेवीक - अप्रवीचार। इनमें से ⓐ पहला भेद -
सू. कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ५-८॥
अ. ईशान देवलोक तक के देव काया से प्रवीचार करने वाले हैं।

DATE / /

भा. भवनवासी आदि ईशान तक के देव काया से प्रवीचार करने वाले हैं अर्थात् काया से प्रवीचार इन्हें है। कायप्रवीचार यानि मैथुन के विषय का उपसेवन। वे देव क्लिष्ट कर्म वाले, मनुष्य की तरह मैथुनसुख में लीन होने वाले, तीव्र अनुशय वाले, काया के संक्लेश से उत्पन्न और पूरे अंगों में व्याप्त होने वाले स्पर्श सुख को प्राप्त कर प्रीति को प्राप्त करते हैं।

(i) भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क और सौधर्म-ईशान में ही दो देवियाँ जन्म से उत्पन्न होती हैं।

→ अब (ii) अदेवीक-सप्रवीचार भेद -

सू. शेषाः स्पर्श-रूप-शब्द-मनःप्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः ८-९॥

अ. शेष दो-दो देवलोक के देव क्रमशः स्पर्श, रूप, शब्द, मन से प्रवीचार वाले होते हैं।

भा. ऐशान कल्प से ऊपर शेष कल्पोपपन्न देव दो-दो कल्प में क्रमशः स्पर्श, रूप, शब्द और मन से प्रवीचार वाले होते हैं। वह इस प्रकार - सानत्कुमार और माहेन्द्र के देवों को मैथुन सुख का इच्छुक और उत्पन्न आस्था वाले जानकर देवियाँ खड़ी रहती हैं और वे देव उन्हें स्पर्श करके ही प्रीति को प्राप्त करते हैं और निवृत्त आस्था वाले होते हैं॥ इसी प्रकार ब्रह्मलोक और लान्तक के देवों को इस प्रकार उत्पन्न आस्था वाले जानकर देवियाँ दिव्य, स्वभाव से शृंगार, सर्व अंगों में मनोहर, शृंगार से उदार और श्रेष्ठ आकार के विलास वाले, उज्ज्वल और सुंदर वेष-आभरण वाले स्वयं के रूप दिखाती हैं। उन्हें देखकर ही वे देव प्रीति को प्राप्त करते हैं और निवृत्त आस्था वाले होते हैं॥ महाशुक्र और सहस्रार के देवों को उत्पन्न प्रवीचार की आस्था वाले जानकर देवियाँ सुनने के विषय के सुख वाले, अत्यन्त मनोहर, शृंगार से उदार और श्रेष्ठ कान के विलास के अभिलाष करने वाले पेद-तत-ताल-आभरण के आवाज से मिश्र, हसने-बोलने-गाने के शब्दों को प्रकट करती हैं। उन्हें सुनकर ही प्रीति को प्राप्त करते हैं और निवृत्त आस्था वाले होते हैं॥ आनत-प्राणत-आरण-अच्युत कल्प के देव प्रवीचार के उत्पन्न आस्था वाले, देवियों का संकल्प करते हैं और संकल्प मात्र से ही वे श्रेष्ठ प्रीति को प्राप्त करते हैं और निवृत्त आस्था वाले होते हैं। इन प्रवीचारों से (देवों में) उत्तरोत्तर प्रीति का प्रकर्ष विशेष, अनुपम गुण वाला होता है,

क्योंकि प्रवीचार वालों को संक्लेश अल्प होता है। स्थिति-प्रभावादि से देव अधिक होते हैं, इस प्रकार कहा जाएगा (सू 4-21)।

देवियाँ 29.- (a) परिगृहीता = कोई के देव की पत्नी (b) अपरिगृहीता = वेश्या की तरह। इ अपरिगृहीता देवियों की स्थिति-

उत्पत्ति स्थान	जघन्य	उत्कृष्ट
सौधर्म कल्प	1 पल्योपम	50 पल्योपम
ऐशान कल्प	1 पल्य. से अधिक	55 पल्योपम

इन देवियों के उपभोग की व्यवस्था- सौधर्म कल्प में उत्पन्न देवियाँ सनत्कुमार, ब्रह्मलोक, लांतक, महाशुक्र, आनत और आरण के देवों के उपभोग योग्य हैं और ईशान कल्प में उत्पन्न देवियाँ माहेन्द्र (4), लांतक (6), सहस्रार (8), प्राणत (10), अच्युत (12) के देवों के लिए उपभोग्य हैं। उन देवों के योग्य देवियों की स्थिति-

सनत्कुमार	1-10 पल्यो.	माहेन्द्र	साधिक पल्यो. - 15
ब्रह्म	10-20	लान्तक	15-25
महाशुक्र	20-30	सहस्रार	25-35
आनत	30-40	प्राणत	35-45
आरण	40-50	अच्युत	45-55

सौधर्म कल्प के देवों की परिगृहीता देवियाँ 7 पल्योपम तक और ऐशान कल्प के देवों की परिगृहीता देवियाँ 9 पल्योपम तक की स्थिति वाली होती हैं।

अत.- (c) अदेवीक- अप्रवीचार भेद-

सू. परे अप्रवीचाराः 4-10॥

अ. दूसरे देव प्रवीचार रहित हैं।

भा. कल्पोपपन्न देवों से अन्य देव प्रवीचार रहित होते हैं क्योंकि वे अल्पसंक्लेश वाले, स्वस्थ और शीत होते हैं। वे पाँच प्रकार के प्रवीचार से उत्पन्न प्रीतिविशेष से अपरिमित गुना प्रीति के प्रकर्ष वाले, परम सुख से नित्य तृप्त होते हैं।

प्र. यहाँ शिष्य पूछता है- आपके द्वारा कहा गया- 'देवाश्चतुर्निकायाः 4-1', 'दशाष्ट... 4-3'। तो निकाय कौन से हैं और इनके विकल्प-भेद कौन-से हैं। यहाँ कहते हैं- 4

DATE / /

देवनिकाय हैं। वह इस प्रकार - भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, वैमानिक। उसमें -

सू. भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ४-११॥

अ. भवनपति देव - असुर, नाग, विद्युत, सुपर्ण, अग्नि, वात, स्तनित, उदधि, द्वीप, दिक्कुमार हैं।

भा. प्रथम देवनिकाय भवनवासी हैं। और इनके ये विधान होते हैं, वह इस प्रकार - असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनित कुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार, दिक्कुमार।

भा. (कुमार शब्द का अर्थ -) ये देव कुमार की तरह कान्त (सुंदर) दर्शन वाले, सुकुमार (असुरकुमार - पाठान्तर), मृदु-मधुर-ललित गति वाले, शृंगार से सुंदर रूप और विक्रिया वाले होते हैं। और कुमार की तरह उद्धत रूप, वेश, भाषा, आभूषण, हथियार, आवरण (बख्तर), पात (?), यान और वाहन वाले होते हैं। तथा कुमार जैसे उत्कट राग वाले, क्रीड़ा में तत्पर होते हैं इसलिए कुमार कहे जाते हैं।

भा. असुरकुमार देव असुरकुमारावास[i] में रहते हैं, शेष देव तो भवनों[ii] में रहते हैं। महा मंदर पर्वत के दक्षिण और उत्तर दिग् विभाग में बहुत लाख कोड़ाकोड़ी योजन जाने पर दक्षिणार्ध के अधिपति और उत्तरार्ध के अधिपतियों के स्व-स्व योग्य आवास और भवन होते हैं। उसमें भवन रत्नप्रभा पृथ्वी में चौड़ाई के आधे[iv] भाग का अवगाहन कर बीच में होते हैं।

टि. (i) आवास शरीर के मान प्रमाण, महा मंडप वाले और अनेक रत्नों की प्रभा से चमकते चंदरवे वाले होते हैं। उनमें अधिकतर असुरकुमार रहते हैं, कभी-कभी भवनों में रहते हैं।

(ii) भवन बाहर से गोल, अंदर से चौरस और नीचे से पुष्प की कर्णिका के संस्थान वाले होते हैं।

(iii) भावार्थ - भवनों और आवासों का स्थान यहाँ दो Method से बताया है ⓐ Horizontal ⓑ Vertical। ये भवन होते तो नीचे ही हैं, द्वीप-समुद्रों में नहीं होते किंतु उनकी Horizontal दूरी बताने के लिए यह लिखा गया है।

(iv) ~~असंख्यात कोड़ाकोड़ी~~ में नीचे हैं भवन रत्नप्रभा में 90000 यो. नीचे हैं और आवास ऊपर-नीचे 1000 यो. छोड़कर बीच के 178000 यो. सब जगह है।

भा. भवनेषु वसन्ति इति भवनवासिनः। ~~इनकी~~ इनकी स्व जाति के विशेष से नियत

DATE ___/___/91

विक्रिया नामकर्म के निमित्त से भव प्रत्ययिक होती है। वह इस प्रकार- असुरकुमार गंभीर, श्रीमंत, काले, बड़े शरीर वाले, रत्न जड़ित मुकुट से भास्वर, चूड़ामणि के चिह्न वाले ~~असुरकुमार~~ होते हैं। मस्तक और मुख पर अधिक रूप वाले, कृष्ण-श्याम, मृदु-ललित गति वाले, सिर पर फणि-सर्प चिह्न वाले नाग कुमार होते हैं। स्निग्ध, चमकने के स्वभाव वाले, उज्ज्वल, वज्र चिह्न वाले विद्युत्कुमार होते हैं। गर्दन और ~~छाती~~ छाती पर अधिक रूप वाले, श्याम, उज्ज्वल, गरुड़ चिह्न वाले सुपर्ण कुमार होते हैं। मान-उन्मान के प्रमाण से युक्त, देदीप्यमान, उज्ज्वल, घट चिह्न वाले अग्निकुमार होते हैं। स्थिर-पुष्ट-गोल शरीर वाले, निमग्न पेट वाले, उज्ज्वल, अश्व चिह्न वाले वात कुमार होते हैं। स्निग्ध, स्निग्ध-गंभीर-मीठी आवाज वाले, कृष्ण, वर्धमान चिह्न वाले स्तनित कुमार होते हैं। जांघ और कमर पर अधिक रूप वाले, कृष्ण-श्याम, मगर के चिह्न वाले उदधि कुमार होते हैं। छाती-स्कंध-बाहु के अग्र भाग और हाथों पर अधिक रूप वाले, श्याम, उज्ज्वल, सिंह चिह्न वाले द्वीप कुमार हैं। जंघा (पिंडली) और पैर के अग्र भाग पर अधिक रूप वाले, श्याम, हाथी के चिह्न वाले दिक्कुमार होते हैं। सभी देव विविध वस्त्र और आभरण वाले होते हैं।"

इनके भवन सामान्य से ७ करोड़ ७२ लाख होते हैं। विशेष से

देव	दक्षिण	उत्तर	कुल (लाख)
असुर	३४	३०	६४
नाग	४४	४०	८४
विद्युत्	४०	३६	७६
सुपर्ण	३८	३४	७२
अग्नि	४०	३६	७६
वात	५०	४६	९६
स्तनित	४०	३६	७६
उदधि	४०	३६	७६
द्वीप	४०	३६	७६
दिक्	४०	३६	७६ ⇒ ७७२ लाख।

DATE ___/___/___

सू. व्यन्तराः किन्नर-किंपुरुष-महोरग-गान्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाचाः ५-१२॥

अ. व्यन्तर - किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गांधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच हैं।

भा. दूसरा देवनिकाय ७९. का है। और यह उसके विधान होते हैं। अधः, तिर्यग् और ऊर्ध्व तीनों लोक में भवन-नगरों और आवासों में रहते हैं। जिस कारण से वे अधः, तिर्यग् और ऊर्ध्व तीनों लोकों की स्पर्शना करते हुए स्वतन्त्रता से और पराभियोग से अधः अनियतगति के उच्चार वाले होते हैं; कुछ मनुष्यों को भी नौकर जैसे उपचरित करते हैं; और विविध शैल-कंदरा-उंतरवन-विवरादि में रहते हैं इस कारण से 'व्यन्तर' इस प्रकार कहे जाते हैं।

टी. रत्नप्रभापृथ्वी के पहले १००० यो. में ऊपर नीचे १०० यो. छोड़कर बीच के ८०० यो. में ये उत्पन्न होते हैं। रहने के भवन-आवास तीनों लोक में होते हैं। विविधं अन्तरं = आश्रयः येषां इति व्यन्तराः।

भा. उसमें किन्नर १०प्र. वे इस प्रकार- किंपुरुष, किंपुरुषोत्तम, किन्नर, किन्नरोत्तम, हृदयङ्गम, रूपशाली, अनिन्दित, मनोरम, रतिप्रिय, रतिश्रेष्ठ॥ किंपुरुष १०प्र.- पुरुष, सत्पुरुष, महापुरुष, पुरुषवृषभ, पुरुषोत्तम, अतिपुरुषोत्तम, मरुदेव, मरुत्, मरुत्प्रभ, यशस्वान्॥ महोरग १०प्र.- भुजग, भोगशाली, महाकाय, अतिकाय, स्कंधशाली, मनोरम, महावेग, महेष्वक्ष, मेरुकान्त, भास्वान्॥ गांधर्व १२प्र.- हाहा, हूहू, तुम्बुरु, नारद, ऋषिवादक, भूतवादिक, कादम्ब, महाकादम्ब, रैवत, विश्वावसु, गीतरति, गीतयशा॥ यक्ष १३प्र.- पूर्णभद्र, माणिभद्र, श्वेतभद्र, हरिभद्र, सुमनोभद्र, व्यतिपातिक-भद्र, सुभद्र, सर्वतोभद्र, मनुष्ययक्ष, वनाधिपति, वनाहार, रूपयक्ष, यक्षोत्तम॥ राक्षस ७प्र.- भीम महाभीम विघ्न विनायक जलराक्षस राक्षसराक्षस ब्रह्मराक्षस॥ भूत ९प्र.- सुरूप, प्रतिरूप अतिरूप भूतोत्तम स्कंदिक महास्कंदिक महावेग प्रतिच्छन्न आकाशग॥ पिशाच १५प्र.- कूष्माण्ड पटक जोष आह्निक काल महाकाल चोक्ष अचोक्ष तालपिशाच मुखरपिशाच अधस्तारक देह महाविदेह तूष्णीक वनपिशाच॥

भा. उनमें किन्नर - नीलेश्याम, सौम्य, सौम्यदर्शन, मुख पर अधिक रूप और शोभा वाले, मुकुट से मस्तक को सजाने वाले, अशोकवृक्ष की ध्वज वाले, उज्ज्वल होते हैं। ~~छाती~~ जांघ और बाहु पर अधिक शोभा वाले, मुख पर अधिक भास्वर, विविध

आभूषणों से भूषित, विचित्र माला और विलेपन वाले, चंपक वृक्ष की ध्वजा वाले किंपुरुष होते हैं। श्याम, उज्ज्वल, महावेग वाले, सौम्य, सौम्य दर्शन वाले, महाकाया वाले, चौड़े और पुष्ट स्कंध तथा गर्दन वाले, विविध विलेपन वाले, विचित्र आभूषण वाले, नाग वृक्ष के ध्वज वाले महोरग होते हैं। श्याम, उज्ज्वल, गंभीर, प्रिय दर्शन वाले, सुरूप, सुमुख आकार वाले, अच्छे स्वर वाले, मुकुट धारण करने वाले, हार से विभूषित, तुम्बुरु वृक्ष के ध्वज वाले गांधर्व होते हैं। श्याम, उज्ज्वल, गंभीर, तीव्र वाले, श्रेष्ठ, प्रिय दर्शन वाले, मान-उन्मान-प्रमाण युक्त, लाल हाथ-पैर के तल-नख-तालु-जीभ-होंठ वाले, भास्वर मुकुट धारण करने वाले, अनेक रत्न से विभूषित, वट वृक्ष के ध्वज वाले यक्ष होते हैं। उज्ज्वल, भीम, भयंकर दर्शन वाले, विकराल सिर वाले, लाल और लंबे होंठ वाले, [illegible] के आभूषण वाले, अनेक रचनाओं के विलेपन वाले, खट्वांग के ध्वज वाले राक्षस होते हैं। श्याम, सुरूप, सौम्य, पुष्ट, अनेक रचनाओं के विलेपन वाले, मुक्तस, ध्वज (चिह्न) वाले, काले भूत होते हैं। सुरूप, सौम्य दर्शन वाले, हाथ और गले में मणि और रत्न के आभूषण वाले, कदंब वृक्ष के ध्वज वाले पिशाच होते हैं। व्यन्तरों को इस प्रकार के स्वाभाविक, वैक्रिय, रूप-चिह्न होते हैं।

→ अब तीसरा देवनिकाय -

सू. ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ४-१३॥

भा. ज्योतिष्क - सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णतारे हैं।

भा. ज्योतिष्क ५ प्र. के होते हैं। वह इस प्रकार - सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्ण तारे, इस प्रकार ५ प्र. के ज्योतिष्क देव हैं। (सूत्र में) समास नहीं किया और सूर्य-चंद्र के क्रम का भी आर्ष (आगमों) से भेद किया है, जिससे यह ज्ञात हो कि इनका ऊर्ध्व निवेश में यही आनुपूर्वी है। वह इस प्रकार - सबसे नीचे सूर्य, उसके बाद चन्द्र, उसके बाद ग्रह, उसके बाद नक्षत्र, उसके बाद प्रकीर्ण तारे। तारे और ग्रह तो अनियतचारी होने से सूर्य-चन्द्र के ऊपर और नीचे चरते हैं, अर्थात् सूर्यों से १० यो. नीचे तक आते हैं। समभूतला भूमिभाग से ८०० यो. पर सूर्य हैं, उसके बाद योजनों की ८० जाने पर (अर्थात् ८० यो. जाने पर) चन्द्र हैं, उसके बाद योजनों की २० जाने पर (अर्थात् २० यो. जाने पर) तारे हैं।"

* चन्द्र के 2 मंडलों का अंतर 35 यो. + $\frac{30}{61} + \frac{5}{7}$ यो. है।
* सूर्य के सर्वबाह्य- अभ्यंतर मंडल का अंतर 509 यो. $\frac{13}{61}$ है। चंद्र का 509 $\frac{53}{61}$ है।

DATE ___/___/___

भा. द्योतयन्ते इति ज्योतींषि विमानानि, तेषु भवा ज्योतिष्का: ज्योतिष: ज्योतिरेव वा। मुकुटों में सिर-मुकुट को ढाँकने वाले, प्रभा मंडल समान, उज्ज्वल, सूर्य-चंद्र-तारा के मंडल वाले, अपने-अपने चिह्नों से शोभते, द्युतिमान् ज्योतिष्क देव होते हैं।

हि. (i) ये विमान मेरु पर्वत से 1121 यो. दूर और लोकान्त 1111 यो. दूर होते हैं। ऊपर 790 से 900 यो. तक होते हैं।

सू. मेरुप्रदक्षिणा-नित्यगतयो नृलोके 4-14॥

अ. मनुष्यलोक में ये ज्योतिष् विमान मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा स्वरूप नित्य गति वाले होते हैं।

भा. मानुषोत्तर पर्वत तक मनुष्य लोक है, इस प्रकार कहा गया (3-14)। उसमें ज्योतिष्(i) देव मेरु की प्रदक्षिणा स्वरूप नित्यगति वाले होते हैं। मेरो: प्रदक्षिणा नित्या गति: एषां इति मेरुप्रदक्षिणानित्यगतय:। मेरु से 1121 यो. ~~जाने~~ पर चारों दिशा में प्रदक्षिणा करते हैं।

हि. (i) ये भवनवासी विमान पृथ्वीकाय, निर्माण, आतप नाम कर्म के उदय से स्फटिक रत्न के प्रकाश वाले, चमकने के स्वभाव वाले, कपित्थ फलार्ध के आकार वाले होते हैं।

भा. उनमें जंबूद्वीप में 2 सूर्य(ii) हैं। लवण समुद्र पर 4। धातकीखंड में 12। कालोदधि में 42। पुष्करार्ध में 72। इस प्रकार मनुष्य लोक में 132 सूर्य हैं। चन्द्रों(ii) की भी यही विधि है। प्रत्येक चंद्र का 28 नक्षत्र, 88 ग्रह, 66975 कोटाकोटी तारे का परिग्रह है। सूर्य, चंद्र, ग्रह और नक्षत्र तिर्यग्लोक में हैं, शेष तो ऊर्ध्वलोक में ज्योतिष्क होते हैं।

हि. (i) यहाँ सूर्य के 184 मंडल हैं, उनमें 183 अंतर है। दो मंडल के बीच का अंतर 2 यो. है, उसमें सूर्य के विमान की लंबाई जोड़ने से $2 + \frac{48}{61}$ यो. होता है। इसे 183 से गुना करने पर 510 $\frac{48}{61}$ आता है अर्थात् सूर्य के सभी मंडल का अंतर 510 $\frac{48}{61}$ यो. है। इसमें से 180 यो. जंबूद्वीप पर और 330 $\frac{48}{61}$ यो. लवण समुद्र पर है।

(ii) जंबूद्वीप में चंद्र के 15 मंडल हैं। 15 मंडलों का अंतर सूर्य जितना ही 510 $\frac{48}{61}$ यो. है।

भा. सूर्य(i) मंडल (विमान) का विष्कंभ $\frac{48}{61}$ यो. है। चंद्र का $\frac{56}{61}$ यो. है। ग्रहों का $\frac{1}{2}$ यो., नक्षत्रों का 1 गाउ, सर्वोत्कृष्ट (स्थिति वाले) तारे का $\frac{1}{2}$ कोश, जघन्य तारे का 500 धनुष

DATE __/__/95

विष्कम्भ है। सभी सूर्यादि विष्कम्भ से आधी चौड़ाई (ऊँचाई) वाले होते हैं, मनुष्य लोक में। मनुष्य लोक के बाहर तो सूर्यादि विष्कम्भ और ऊँचाई से इसके आधे होते हैं।(ii)

(ii) भावार्थ- मनुष्य क्षेत्र के विमानों का विष्कम्भ और ऊँचाई-

विमान	विष्कम्भ	ऊँचाई
सूर्य	$\frac{48}{61}$ यो.	$\frac{24}{61}$ यो.
चन्द्र	$\frac{56}{61}$ यो.	$\frac{28}{61}$ यो.
ग्रह	1/2 यो.	1/4 यो.
नक्षत्र	1 गाउ	1/2 गाउ
तारा (उत्कृष्ट)	1/2 गाउ	1/4 गाउ
तारा (जघन्य)	500 धनु.	250 धनु.

मनुष्य क्षेत्र के बाहर इनके आधे प्रमाण जानना।

(iii) सर्व अभ्यन्तर मंडल में 2 सूर्य या 2 चंद्र के बीच का अंतर 99640 यो। सर्व बाह्य मंडल में 2 सूर्य का अंतर 100660 यो., 2 चंद्र का अंतर $100659\frac{45}{61}$।

(iv) लोक स्थिति से सम्बद्ध और अवस्थित गति वाले इन ज्योतिष् विमानों को ऋद्धि विशेष के लिए और आभियोग्य नाम कर्म के उदय से नित्य गति में रति वाले देव वहन करते हैं। वह इस प्रकार- पूर्व दिशा में सिंह, दक्षिण में हाथी, पश्चिम वृषभ, उत्तर में अश्व।(iii)

(v) इन देवों को भार से उत्पन्न दुःख नहीं होता।

(vi) 6 दाँत वाले हाथी।

(vii)

विमान	वहन करने वाले देव	(चारों प्रकार समान भाग करना)
सूर्य	16000	
चन्द्र	16000	
ग्रह	8000	
नक्षत्र	4000	
तारा	2000	

DATE ___/___/___

सू. तत्कृतः कालविभागः ५-१५॥

अ. इन ज्योतिष्क विमानों द्वारा ~~किया गया~~ काल विभाग किया गया है।

भा. काल वर्तनादि लक्षण वाला, अनन्त समय वाला है, इस प्रकार कहा जाएगा (५-३९/२२)। उसका विभाग = चरने के विशेष रूप हेतु से ज्योतिष् विमानों ~~इस~~ की गति विशेष से किया गया है। तैः कृतः तत्कृतः। वह इस प्रकार - अणुभाग, चार, अंश, कला, त्रुटि, नालिका, मुहूर्त, दिवस, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग इस प्रकार लौकिक के समान ही विभाग है। अन्य विकल्प - वर्तमान, अतीत, अनागत इस प्रकार ३७-)

पुनः तीन ७. कहे जाते हैं - संख्य, असंख्य, अनन्त। वे ~~भी~~ उनमें परम सूक्ष्म क्रिया वाले, सर्वजघन्य गति में परिणत परमाणु का स्व अवगाहन क्षेत्र का व्यतिक्रम (लंघन) का काल समय कहा जाता है। वह परम, दुष्कर अधिगम वाला है और निर्देश करने के लिए अशक्य है। उसे परम ऋषि केवली भगवन्त जानते हैं किन्तु परम निरुद्ध (अर्थात् अत्यंत अल्प) होने से निर्देश नहीं करते। वह परम निरुद्ध = अत्यंत अल्प होने पर भाषा द्रव्यों के ग्रहण और निसर्ग का करण प्रयोग असंभव है।

भा. वे ~~है~~ असंख्य समय = आवलिका। वे संख्येय[i] आवलिका = उच्छ्वास, उसी प्रकार निश्वास। वे दोनों (उच्छ्वास-निश्वास) बलवान्, पटु इन्द्रिय वाले, कल्प (निरोगी), मध्यम वय वाले, स्वस्थ मन वाले पुरुष का प्राण है। ७ प्राण = स्तोक। ७ स्तोक = लव। ३८½ लव = नालिका। २ नालिका = मुहूर्त। ३० मुहूर्त = अहोरात्र। १५ अहोरात्र = पक्ष। दो शुक्ल-कृष्ण पक्ष = मास:। २ मास = ऋतु। ३ ऋतु = १ अयन। २ अयन = संवत्सर। ५ वर्ष चन्द्र[ii] - चन्द्र - अभिवर्धित[iii] - चन्द्र - अभिवर्धित नामक = युग। उनमें मध्य और अन्त वाला अधिक मास वाले वर्ष होते हैं। सूर्य[iv], सावन[v], चन्द्र, नक्षत्र[vi], अभिवर्धित युग के नाम हैं। ८४० लाख वर्ष = पूर्वांग। ८४ लाख पूर्वांग = १ पूर्व। इस प्रकार उन्हें ८४ लाख गुना करने से क्रमशः अयुत[vii], कमल, नलिन, कुमुद, त्रुटय, तुटि, अडडा, अववा, हाहा, हूहू, होते हैं, वे संख्यात काल हैं।

E.

(i) ४५४६ $\frac{2438}{3773}$ आवलिका = १ उच्छ्वास।

(ii) चन्द्र वर्ष = 12 चन्द्र मास। १ चन्द्र मास = 29 $\frac{32}{62}$ दिन। चन्द्र वर्ष = 354 $\frac{12}{62}$ दिन।

(iii) 1 अभिवर्धित मास = 31 $\frac{121}{124}$ दिन। 1 अभिवर्धित वर्ष = 12 अभिवर्धित मास = 383 $\frac{95}{62}$ दिन।

(iv) 1 सूर्य मास = 30.5 दिन। 1 सूर्य वर्ष = 12 मास = 366 दिन।

(v) 1 सावन मास = 30 दिन। 1 सावन वर्ष = 12 मास = 360 दिन।

(vi) 1 नक्षत्र मास = 27 $\frac{21}{67}$ दिन। 1 नक्षत्र वर्ष = 327 $\frac{51}{67}$ दिन।

(vii) 84 लाख पूर्व = 1 अयुतांग, 84 लाख अयुतांग = 1 अयुत। 84 लाख अयुत = 1 कमलांग, 84 लाख कमलांग = 1 नलिनांग। इस प्रकार जानना।

यहाँ ग्रंथकार ने सूर्यप्रज्ञप्ति आगम से भिन्न क्रम लिया है। सूर्य प्रज्ञप्ति में पूर्व के बाद त्रुटितांगादि से शीर्षप्रहेलिका तक क्रम है।

प्र. इससे आगे उपमा काल कहते हैं। वह इस प्रकार- 1 यो. विस्तीर्ण, 1 यो. ऊँचा गोल पल्य, एक रात्रादि- उत्कृष्ट 7 रात तक के जन्मे हुए बालकों के अंगों के रोम से गाढ़ पूर्ण हो, सौ-सौ वर्ष में एक-एक रोम निकालने पर शुद्धि के नियम से जितने काल में वह खाली हो, वह पल्योपम। वह 10 कोटा-कोटी से गुना करने पर सागरोपम। उन सागरोपमों की 4 कोटाकोटी सुषमसुषमा आरा। 3 कोटीकोटी सुषमा। 2 कोटाकोटी सुषमदुष्षमा। 42000 वर्ष न्यून 1 कोटाकोटी सागरोपम दुष्षमसुषमा। 21000 वर्ष दुष्षमा। 21000 वर्ष ही दुष्षमदुष्षमा।

द्वी. पल्योपम- 3 प्र. (a) उद्धार (b) अद्धा (c) क्षेत्र। तीनों के सूक्ष्म-बादर 2-2 भेद।

(a) ~~काल उद्धार~~ - (b_1) बादर अद्धा पल्योपम- भाष्य में कहे अनुसार, इसमें कोटि संख्येय वर्ष होते हैं। (b_2) सूक्ष्म अद्धा पल्योपम- रोम के अदृश्य- असंख्य टुकड़े कर सौ-सौ वर्ष में निकालने पर यह पल्योपम; असंख्य वर्ष प्रमाण; उत्सर्पिणी आदि के समय, कर्म की स्थिति, जीवों की काय-भव स्थिति इस पल्योपम का प्रयोजन है। (a_1) बादर उद्धार पल्योपम- रोम को सौ-सौ वर्ष की जगह प्रत्येक समय निकाले; यह संख्यात समय प्रमाण काल होता है। (a_2) सूक्ष्म उद्धार प.- रोम के असंख्य खंड प्रत्येक समय निकाले तो संख्यात कोटी वर्ष होते हैं; $2\frac{1}{2}$ उद्धार सागरोपम के समय तुल्य राशी वाले द्वीप-समुद्र हैं।

(c_1) बादर क्षेत्र पल्योपम- बादर रोम खंड से भरे क्षेत्र के प्रदेशों से प्रतिसमय निकालना (c_2) सूक्ष्मक्षेत्र पल्योपम- सूक्ष्म रोम खंड प्रतिसमय निकालना; ये दोनों काल असंख्य उत्सर्पिणी प्रमाण होते हैं; इनसे पृथ्वीकायिक जीवों का परिमाण मापा जाता है।

प्र. ये सूक्ष्म-दुष्षमादि आरे अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के ~~अनुक्रम~~ में

DATE ___/___/___

अनुपूर्वी और पश्चानुपूर्वी से भरत और ऐरावत क्षेत्र में असंख्यात काल तक दिन-रात की तरह बदलते रहते हैं। उन दोनों शरीर-आयु-शुभ परिणामों की अनन्त गुण हानि और वृद्धि होती है; अशुभ परिणामों की वृद्धि और हानि होती है। अन्य क्षेत्रों में प्रत्येक अवस्थित गुण वाले होते हैं। वह इस प्रकार - कुरु क्षेत्रों में सुषमसुषमा, हरि और रम्यक क्षेत्रों में सुषमा, हैमवत-हैरण्यवत क्षेत्रों में सुषमदुष्षमा का अनुभाव, अंतर-द्वीप सहित विदेह क्षेत्रों में दुष्षमसुषमा। इस प्रकार मनुष्य क्षेत्र पर्याय को प्राप्त काल विभाग जानना।

वि. (i) शुभ परिणाम - कल्पवृक्षादि जानना।

सू. बहिरवस्थिताः ५-१६॥

अ. मनुष्य क्षेत्र के बाहर ज्योतिष्क विमान अवस्थित हैं।

भा. मनुष्य लोक से बाहर ज्योतिष विमान अवस्थित हैं। अवस्थित यानि जो चलते नहीं हैं। इनके विमानों के प्रदेश भी स्थिर हैं, लेश्या - प्रकाश भी स्थिर हैं। सुख कारी शीत और उष्ण किरणों वाले होते हैं।

वि. (i) लेश्या यानि वर्ण। मनुष्य लोक में सूर्य चंद्रादि के वर्ण और लेश्या बदलते हैं किन्तु बाहर उनके रंग पीला है, चंद्र के किरण बहुत अधिक ठंडे नहीं होते और सूर्य के किरण बहुत अधिक गरम नहीं होते, सुखकारी होते हैं। चंद्र का योग हमेशा अभिजित नक्षत्र और सूर्य का योग हमेशा पुष्य नक्षत्र के साथ होता है।

सू. वैमानिकाः ५-१७॥

अ. चौथा देवनिकाय वैमानिक है।

भा. चतुर्थ देवनिकाय वैमानिक है, वे इससे आगे कहे जाएंगे। विमानेषु प्रभवाः वैमानिकाः

वि. (i) विशेषेण सुकृतिनः प्राणयन्ति इति विमानानि। उ.प. - इंद्रक, श्रेणिपुष्प, प्रकीर्णक)

सू. कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ५-१८॥

अ. वैमानिक देव २ प्र. - कल्पोपपन्न और कल्पातीत।

भा. वैमानिक देव २ प्र. कल्पोपपन्न और कल्पातीत। उन्हें आगे कहेंगे।

(i) इंद्रादि दश भेद की कल्पना से सौधर्मादि, अच्युत तक कल्प।
(ii) 9 ग्रैवेयक, 5 अनुत्तर।

सू. उपर्युपरि 4-19॥
प. ये कल्प ऊपर-ऊपर हैं।
भा. ये कल्प निर्देशानुसार ऊपर-ऊपर जानना। एक क्षेत्र में नहीं है, तिर्छे अथवा नीचे भी नहीं हैं।

सू. सौधर्मैशान-सनत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्मलोक-लान्तक-महाशुक्र-सहस्रारेष्वानतप्राणत-योरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धे च 4-20॥
प. सौधर्म, ऐशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लांतक, महाशुक्र, सहस्रार में, आनत-प्राणत में, आरण-अच्युत में, 9 ग्रैवेयकों में, विजय-वैजयन्त-जयन्त-अपराजित और सर्वार्थसिद्ध में वैमानिक देव होते हैं।
भा. इन सौधर्मादि कल्पविमानों में वैमानिक देव होते हैं। वह इस प्रकार- (i) सौधर्म कल्प के ऊपर (ii) ऐशान कल्प, ऐशान के ऊपर (iii) सनत्कुमार, सनत्कुमार के ऊपर (iv) माहेन्द्र इस प्रकार सर्वार्थसिद्ध तक जानना।
(i) मेरु पर्वत से असंख्य योजन ऊपर, दक्षिण भाग में, अर्ध चन्द्राकार, सूर्य जैसा भास्वर, लोकांत तक विस्तृत, मध्य में रत्नमय अशोकवृक्ष-सप्तपर्ण-चंपक-आम्रवृक्ष और सौधर्म आभूषण से शोभित शक्र के आवास वाला सौधर्म कल्प।
(ii) उत्तर भाग में, सौधर्म से कुछ ऊपर, मध्य में अंक स्फटिक-रजत-सुवर्ण और ईशान आभूषण से भूषित ऐशान कल्प।
(iii) सनत्कुमार-माहेन्द्र सौधर्म और ईशान जैसे जानना।
(iv) सनत्कुमार-माहेन्द्र के ऊपर मध्य में, पूर्ण चंद्राकार, ब्रह्मलोक कल्प है। यहाँ लौकान्तिक देवों को बताने के लिए 'लोक' ग्रहण है। इसी प्रकार लांतक-महाशुक्र-सहस्रार कल्प जानना। उसके सौधर्म-ऐशान की तरह आनतप्राणत और आरण-अच्युत कल्प जानना। फिर 9 ग्रैवेयक ऊपर ऊपर जानना। उनके ऊपर 5 महाविमान।
भा. शक्र देवेन्द्र की सौधर्म नामक सभा है। सा तस्मिन् अस्ति इति सौधर्मः कल्पः।

DATE ___/___/_____

ईशान इन्द्र का निवास स्थान। इस प्रकार इन्द्रों के निवास के नाम वाले सभी कल्प हैं। ग्रैवेयक तो लोकपुरुष के ग्रीवाप्रदेश पर रहे, ग्रीवा के आभरण स्वरूप ग्रैवा, ग्रैव्या, ग्रैवेया, ग्रैवेयका। अनुत्तर 5 देवों के नाम ही हैं। विजिता अभ्युदयविघ्न हेतवः एभिः इति विजयवैजयन्तजयन्ताः = ये जीत लिए गए हैं स्वर्ग के विघ्न के हेतु इनके द्वारा, वे विजय, वैजयन्त, जयन्त। उन विघ्न हेतु द्वारा (अभ्युदय) जो हारे नहीं, वे अपराजित। सभी अभ्युदय के प्रयोजनों में अथवा सभी अर्थों द्वारा सिद्ध, वे सर्वार्थसिद्ध। अथवा प्रायः जीत लिए गए हैं कर्म इनके द्वारा, उपस्थित हुआ है कल्याण जिन्हें, परीषहों द्वारा अपराजित, सभी प्रयोजनों में सिद्ध, प्रायः सिद्ध ही है उत्तम अर्थ (मोक्ष) जिन्हें इस प्रकार विजयादि देव हैं।

सू. स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ५-२०॥

अ. ये देव क्रमशः स्थिति प्रभाव सुख द्युति लेश्याविशुद्धि इन्द्रियविषय और अवधि ज्ञान के विषय से अधिक होते हैं।

प्रा. इन सौधर्मादि कल्प में देव ऊपर-ऊपर क्रमशः पूर्व-पूर्व से इन स्थित्यादि द्वारा अधिक होते हैं। उनमें स्थिति उत्कृष्ट और जघन्य आगे कही जाएगी। यहाँ तो वचन में प्रयोजन यह है कि जिनकी स्थिति समान होती है, उनकी भी ऊपर-ऊपर गुण से अधिक होती है॥ प्रभाव[i] से अधिक- सौधर्म देवों का निग्रह-अनुग्रह-विक्रिया[ii]-पराभियोगादि में जो प्रभाव होता है, वह ऊपर-ऊपर अनंत गुना अधिक होता है, किंतु मंद अभिमान होने से और अत्यंत संक्लेश वाले होने से वे प्रवृत्ति नहीं करते॥ तथा क्षेत्र के स्वभाव से जनित शुभपुद्गल-परिणाम से वे देव सुख और द्युति में अनंत गुना अधिक होते हैं॥ लेश्या-विशुद्धि से अधिक- लेश्यानियम आगे कहा जाएगा। यहाँ तो वचन में प्रयोजन यह जाना जाता है कि जहाँ भी विधान से लेश्या और विशुद्धि तुल्य है, वहाँ भी विशुद्धि से अधिक होते हैं अथवा कर्म विशुद्धि से अधिक होते हैं।

टि. (i) प्रभाव= अचिन्त्य शक्ति।
(ii) विक्रिया= अणिमादि परिणाम शक्ति।

प्रा. इन्द्रिय के विषय से अधिक- दूर से इष्ट विषय की प्राप्ति में इन्द्रियों की जो

DATE ___/___/ 101

पड़ता है, वह अधिक प्रकृष्ट गुण होने से और अल्प संक्लेश होने से ऊपर-ऊपर अधिक है॥ अवधिज्ञान के विषय से अधिक- सौधर्म और ईशान के देव अवधि ज्ञान के विषय से नीचे रत्न प्रभा को देखते हैं, तिर्यग् असंख्य लाख यो., ऊपर स्व भवन तक। सनत्कुमार और माहेन्द्र के देव नीचे शर्करा प्रभा तक, तिर्यग् असंख्य लाख यो., ऊपर स्व भवन तक। इस प्रकार शेष देव क्रमशः होते हैं। अनुत्तर विमान वासी देव तो संपूर्ण लोक नाड़ी देखते हैं। जिनका भी अवधि विषय क्षेत्र से तुल्य है, उनका भी ऊपर-ऊपर विशुद्धि से अधिक विषय होता है।

दे. (i) ब्रह्म और लांतक के देव वालुका प्रभा को, शुक्र-सहस्रार के देव पंकप्रभा को, आनत प्राणत और आरण अच्युत के देव धूमप्रभा को, नीचे के ६ ग्रैवेयक तमःप्रभा को, ऊपर के ३ ग्रैवेयक महातमःप्रभा तक देखते हैं।

सू. गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ५-२२॥

अ. ये देव गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान से हीन होते हैं।

भा. गति के विषय से, शरीर की ऊँचाई में, महापरिग्रह करने में, और अभिमान से ऊपर-ऊपर के देव हीन होते हैं। वह इस प्रकार - २ सागरोपम की जघन्य स्थिति वाले देवों की सातवीं पृथ्वी तक गति विषय होता है, तिर्यग् असंख्य कोटा कोटी हजार यो., उससे आगे जघन्य स्थिति वाले देवों की गति एक-एक भूमि हीन, यावत् तीसरी पृथ्वी तक होती है। देव तीसरी पृथ्वी में पहले गए हैं और जाएँगे, उसके आगे गति-विषय होने पर भी पहले कभी नहीं गए और जाएँगे भी नहीं। ऊपर-ऊपर के देव महानुभाव क्रिया से और उदासीनता से गति में रति वाले नहीं होते।

भा. सौधर्म-ऐशान कल्प के देवों की शरीर की ऊँचाई ७ हाथ। ऊपर-ऊपर सहस्रार तक दो-दो कल्प में १-१ हाथ हीन होती है। आनतादि में ३ हाथ। ग्रैवेयकों में २ हाथ। अनुत्तर में १ हाथ।

भा. (i) सौधर्म में ३२ लाख विमान, ऐशान में २८ लाख, सनत्कुमार में १२ लाख, माहेन्द्र में ८ लाख ब्रह्मलोक में ४ लाख, लांतक में ५०० हजार, महाशुक्र में ४० हजार, सहस्रार में ६ हजार, आनत-प्राणत-आरण-अच्युत में ७००। ग्रैवेयक में नीचे १११, मध्य में १०७, ऊपर १००। अनुत्तर ५ ही होते हैं। इस प्रकार ऊर्ध्वलोक में वैमानिकों के सर्व विमानों

DATE ___/___/_____

की संख्या 84 लाख 97 हजार 23 है। देव स्थान-परिवार-शक्ति-विषय-सम्पत्ति-स्थिति में ऊपर-ऊपर अल्प अभिमान वाले, परम सुख के भागी होते हैं।

(i)

स्व विमान	प्रतर	आवलिका प्रविष्ट	पुष्पावकीर्ण	कुल
सौधर्म	13*	1707	31,98,293	32 लाख
ऐशान	13	1218	27,98,782	28 लाख
सनत्कुमार	12*	1226	11,98,774	12 लाख
माहेन्द्र	12	874	7,99,126	8 लाख
ब्रह्मलोक	6	834	3,99,166	4 लाख
लांतक	5	585	49,415	50 हजार
महाशुक्र	4	396	39,604	40 हजार
सहस्रार	4	332	5668	6 हजार
आनत-प्राणत	4	268	132	400
आरण-अच्युत	4	204	96	300
नीचे के 3 ग्रैवे.	3	111	-	111
मध्य 3 ग्रैवे.	3	75	32	107
ऊपर 3 ग्रैवे.	3	39	61	100
अनुत्तर	1	5	-	5
Total	62	7874	84,89,149	84,97,023

* सौधर्म-ऐशान और सनत्कुमार-माहेन्द्र के प्रतर समश्रेणी में, इसलिए मित्राकार क्रमशः 13 और 12 गिने जाते हैं।

देव विमानों की कुल 62 प्रतर होती हैं। प्रत्येक प्रतर में 1 इन्द्रक विमान (गोल) 4 दिशाओं में आवलिका प्रविष्ट विमान हैं। सौधर्मकल्प के सबसे नीचे वाले प्रतर में 62-62 आवलिका प्रविष्ट विमान हैं। एक-एक प्रतर में क्रमशः 1-1 विमान चारों दिशा में कम होकर अनुत्तर विमान तक 1-1 विमान ही बचते हैं।

DATE __/__/03

पुष्पावकीर्ण विमान पूर्व दिशा में नहीं होते। ये विमान अनेक आकार वाले होते हैं।

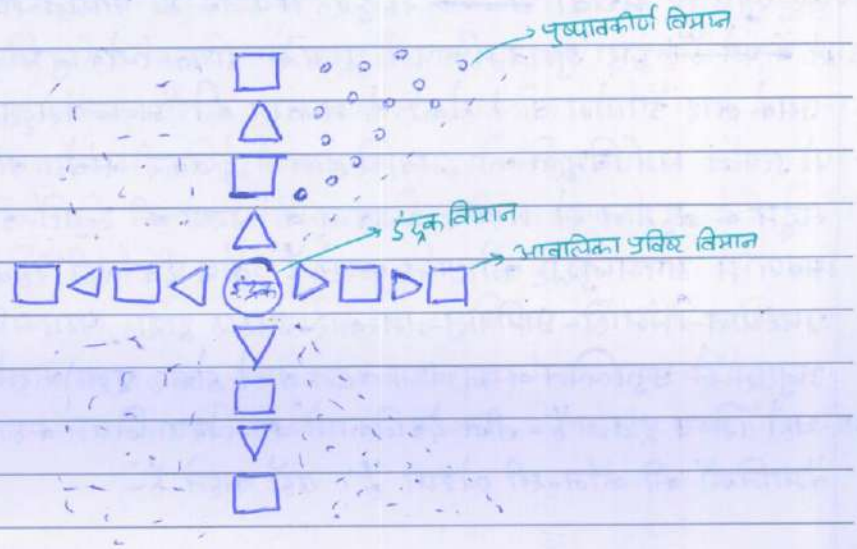

भा. उच्छ्वास-आहार-वेदना-उपपात और अनुभाव से वे देव कि समझने योग्य हैं।

उच्छ्वास- और आहार- सबसे जघन्य स्थिति वाले देवों को ७ स्तोक में श्वास और ७ चतुर्थ काल में आहार (अर्थात् चतुर्थ भक्त)। पल्योपम की स्थिति वाले देवों को दिन में १ बार श्वास और २-३ दिन में आहार। जिसकी जितने सागरोपम की स्थिति है, उसके उतने अर्धमास (पक्ष) में श्वास और उतने ही हजार वर्ष में आहार।

भा. वेदना- देवों को प्रायः सद्वेदना (सद्वेदनीय) होती है, कभी असद्वेदना नहीं होती। यदि असद्वेदना होती है तो अन्तर्मुहूर्त ही होती है, उससे ज्यादा नहीं। अनुबंध वाली सद्वेदना तो उत्कृष्ट से ६ मास होती है॥

उपपात- आरण-अच्युत से ऊपर अन्य तीर्थिकों का उपपात नहीं होता। स्वलिंगवाले भिन्न दर्शनीयों (अर्थात् साधुवेश-मिथ्यादृष्टि) का ग्रैवेयक तक उपपात होता है। अन्य अर्थात् सम्यग्दृष्टि संयत का सर्वार्थसिद्ध तक उपपात हो सकता है। १४ पूर्वी का ब्रह्मलोक से ऊपर सर्वार्थसिद्ध तक उपपात होता है।

अनुभाव- विमानों व और सिद्धिक्षेत्र की आकाश में निरालम्बस्थिति में लोकस्थिति ही हेतु है। लोकस्थिति, लोकानुभाव, लोकस्वभाव, जगद्धर्म, अनादि परिणाम संतति (इस प्रकार एकार्थक शब्द हैं)। सभी देवेन्द्र और ग्रैवेयकादि में देव परम ऋषि

DATE ___/___/___

~~सहज~~ भगवंतों के जन्माभिषेक-दीक्षा-केवलज्ञान-समवसरण-निर्वाण कल्याणकों में बैठे हुए, सोए हुए अथवा ~~सम्मानक~~ रहे हुए सचानक ही आसन-शयन-स्थान के आस्त्रयों से ~~कंपते हैं~~ द्वारा शुभ कर्मफल के उदय से अथवा लोकानुभाव से ही कंपते हैं। उसके बाद उपयोग वाले होकर वे भगवान् की अनन्यसदृश, तीर्थंकर नामकर्म से उत्पन्न धर्म विभूति को अवधिज्ञान से देखकर संवेगा वाले होकर कुछ देव सद्धर्म के बहुमान से आकर भगवान् के चरण की स्तुति-वंदन-उपासना-हित श्रवण से आत्मानुग्रह को प्राप्त करते हैं, कुछ देव वहीं रहकर ही प्रभु तरफ उपस्थान-अंजलि-प्रणिपात-नमस्कार-उपहार द्वारा, परम संविग्न और सद्धर्म के अनुराग से प्रफुल्लित नयन तथा वदन वाले होकर पूजा करते हैं।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है- तीन देवनिकायों का लेश्या नियम कहा गया, अब किन वैमानिकों की कौन-सी लेश्या है? यहाँ कहते हैं-

सू. पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु 4-23॥

उ. दो में पीत लेश्या, तीन में पद्म लेश्या, शेष विमानों में शुक्ल लेश्या होती है।

भा. सौधर्मादि में ऊपर-ऊपर वैमानिक देव दो कल्पों में पीत लेश्या वाले, 3 कल्पों में पद्म लेश्या वाले, और शेष कल्पों में शुक्ल लेश्या वाले ~~क्रम~~ क्रमशः होते हैं। सौधर्म-ईशान दो में पीत लेश्या वाले, सनत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्मलोक 3 में पद्म लेश्या वाले, लांतकादि शेष में सर्वार्थसिद्ध तक शुक्ल लेश्या वाले देव होते हैं, ऊपर-ऊपर तो आधिक विशुद्ध होती है, इस प्रकार कहा गया।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है- आपके द्वारा कहा गया कि वैमानिक देव दो प्र.क. हैं- कल्पोपपन्नाश और कल्पातीत (4-18)। तो कल्प कौन-से हैं? यहाँ कहते हैं-

सू. प्राग् ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः 4-24॥

उ. ग्रैवेयकों से पहले कल्प होते हैं।

भा. ग्रैवेयकों से पहले कल्प होते हैं अर्थात् सौधर्मादि आरण-अच्युत तक। इनसे अन्य कल्पातीत हैं।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है- क्या सभी देव सम्यग्दृष्टि हैं, जो परमऋषि अरिहंत भगवंतों

DATE ___/___/105

के जन्मादि पर आनंदित होते हैं ? यहाँ कहते हैं- सभी सम्यग्दृष्टि नहीं हैं किन्तु सम्यग्दृष्टि देव ही सद्धर्म के बहुमान से ही वहाँ आनंदित होते हैं और सम्मुख जाते हैं। तथा मिथ्यादृष्टि भी लोकचित्त के अनुरोध से, इन्द्र की अनुवृत्ति से, परस्पर देखने से और पूर्व में आचरित है, इस प्रकार से आनंदित होते हैं और सम्मुख जाते हैं। लोकान्तिक देव तो सभी विशुद्ध भाव वाले, सद्धर्म के बहुमान से और संसार के दुःख से दुःखी जीवों की अनुकंपा से परमऋषि अरिहंत भगवंतों के जन्मादि पर विशेष से आनंदित होते हैं, और भगवान् को अभिनिष्क्रमण के लिए कृत-संकल्प जानकर अत्यंत हर्षित मन वाले ये देव स्तुति करते हैं और अभिवादन करते हैं। (समाज् धातु 10 उ.- अभिवादन करना, नमन करना इत्यादि)
यहाँ शिष्य पूछता है- लोकान्तिक कौन हैं अथवा कितने प्रकार के हैं ? यहाँ कहते हैं-

सू. ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः 4-25॥
भा. लोकान्तिक देव ब्रह्मलोक कल्प में आलय यानि निवासस्थान वाले हैं।
भा. लोकान्तिक देव ब्रह्मलोक में ही निवास वाले होते हैं, अन्य कल्पों में नहीं, कल्पों से आगे कल्पातीत में भी नहीं। ब्रह्मलोक को घेरकर 8 दिशा में 8 भेद वाले लोकान्तिक होते हैं।
(i) ब्रह्मलोक की तीसरी प्रतर के मध्य में रिष्ट विमान है। उसके आसपास चारों दिशा में 8 कृष्णराजि है (सचित्त-अचित्त पृथ्वी तमः काय के परिणाम स्वरूप)। ये कृष्ण-राजी अरुणवर समुद्र में उठने वाले तमस्काय से होती है। इनके बीच में जाने वाला देव भी संक्षोभ को प्राप्त करता है।

a- रिष्ट विमान - अरिष्ट देव
b- सुप्रतिष्ठाभ - अरुण देव
c- अर्चिमाली - आदित्य देव
d- प्रभंकर - वह्नि अरुण देव
e- सूर्याभ - तुषित देव
f- शुक्राभ - अव्याबाध देव
g- अर्चि - सारस्वत देव
h- वैरोचन - वह्नि देव
i- चन्द्राभ - गर्दतोय देव

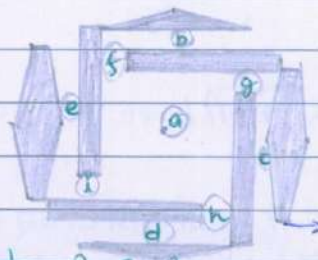

ब्रह्मदेवलोक की तीसरी प्रतर

DATE ___/___/___

सू. सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधमरुतोऽरिष्टाश्च ५-२६॥

अ. नव लौकांतिक देव - सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, मरुत, अरिष्ट।

भा. ये सारस्वतादि ४९ के देव ब्रह्मलोक की पूर्वोत्तरादि दिशाओं में प्रदक्षिणा में होते हैं। वह इस प्रकार - पूर्वोत्तर दिशा में सारस्वत, पूर्व में आदित्य इस प्रकार क्रमशः शेष।

टी. (i) ये देव उत्कृष्ट से ७-८, जघन्य से २-३ भव में मोक्ष प्राप्त करते हैं।

सू. विजयादिषु द्विचरमाः ५-२७॥

अ. विजयादि में रहे देव दो भव में सिद्ध होने वाले हैं।

भा. विजयादि अनुत्तर विमानों में देव दो चरम भव वाले होते हैं। द्विचरम अर्थात् वहाँ से च्यव कर दो बार जन्म लेकर सिद्ध होते हैं। सर्वार्थसिद्ध महा विमानवासी के देव एक बार जन्म लेकर सिद्ध होते हैं, शेष देव तो विकल्प में हैं।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है - आपके द्वारा कहा गया - जीव के औदयिक भावों में तिर्यंच योनि गति तथा स्थिति में 'तिर्यग्योनीनां च (३-१८)', आस्रवों में 'माया तैर्यग्योनस्य (६-१७)'। तो तिर्यंच योनि वाले कौन हैं? यहाँ कहते हैं -

सू. औपपातिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ५-२८॥

अ. औपपातिक और मनुष्यों से शेष तिर्यंच योनि वाले हैं।

भा. औपपातिक अर्थात् नारक-देवों से और यथोक्त मनुष्यों से शेष एकेन्द्रियादि तिर्यंच योनि वाले होते हैं।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है - तिर्यंच और मनुष्यों की स्थिति कही गई। अब देवों की क्या स्थिति है? यहाँ कहते हैं -

सू. स्थितिः ५-२९॥

अ. इससे आगे स्थिति कही जाएगी।

सू. भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपममध्यर्धम् ५-३०॥

अ. भवनपतियों में दक्षिणार्ध के इन्द्रों की १½ पल्योपम है।

भा. भवनों में भवनवासी दक्षिणार्ध इन्द्रों की उत्कृष्ट स्थिति $1\frac{1}{2}$ पल्योपम है। उपरोक्त दो भवनवासी इन्द्रों में पहला दक्षिणार्ध इन्द्र है, दूसरा उत्तरार्ध इन्द्र है।

सू. शेषाणां पादोने ५-३१॥
ज. शेष भवनवासी इन्द्रों की $1\frac{3}{4}$ पल्योपम स्थिति है।
भा. शेष भवनवासी इन्द्रों की $1\frac{3}{4}$ पल्योपम उत्कृष्ट स्थिति है। शेष कौन-से ? उत्तरार्ध के इन्द्र।

सू. असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च ५-३२॥
स. दो असुरेन्द्र की स्थिति सागरोपम और साधिक सागरोपम है।
भा. असुरेन्द्र अर्थात् दक्षिणार्ध और उत्तरार्ध के 2 असुरेन्द्रों की उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः सागरोपम और साधिक सागरोपम है।(i)
टी. (i) असुरकुमारी की उत्कृष्ट स्थिति - 5 पल्योपम।
नागकुमारी आदि शेष 9 की - देशोन पल्योपम।

सू. सौधर्मादिषु यथाक्रमम् ५-३३॥
भा. सौधर्म को आदि में कर क्रमशः इससे आगे 2 उत्कृष्ट स्थिति कही जाएगी।

सू. सागरोपमे ५-३४॥
भा. सौधर्म कल्प में देवों की उत्कृष्ट स्थिति 2 सागरोपम।(i)
टी. (i) सौधर्म में उत्कृष्ट स्थिति इन्द्र और सामानिक देवों की होती है।

सू. अधिके च ५-३५॥
भा. ऐशान कल्प में साधिक 2 सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति होती है।

सू. सप्त सनत्कुमारे ५-३६॥
भा. सनत्कुमार कल्प में उत्कृष्ट स्थिति 7 सागरोपम होती है।

DATE ___/___/___

सू: विशेषत्रि-सप्त-दशैकादशत्रयोदश पञ्चदशभिरधिकानि च ५-३७॥

अ: माहेन्द्रादि में उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः ~~विशेष~~ विशेष सागरोपम में ३, ७, १०, ११, १३, १५ ~~विशेष~~ से अधिक होती है।

आ: इन विशेषादि से अधिक ऐसे ~ माहेन्द्रादि में उत्कृष्ट स्थिति होती है। 'सप्त' का अधिकार चलता है। वह इस प्रकार- माहेन्द्र में साधिक ~ सा., ब्रह्मलोक में ~ से अधिक ~ अर्थात् १० सा। लांतक में ~ से अधिक ~ अर्थात् १४। महाशुक्र में १० से अधिक ~ अर्थात् १७। सहस्रार में ११ से अधिक ~ अर्थात् १८ सा। आनत-प्राणत में १३ से अधिक ~ अर्थात् २० सा। आरण-अच्युत में १५ से अधिक ~ अर्थात् २२ सा।

सू: आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च ५-३८॥

अ: आरण-अच्युत से ऊपर ९ ग्रैवेयक में, विजयादि में और सर्वार्थसिद्ध में १-१ से अधिक स्थिति है।

भा: आरण-अच्युत से ऊपर ९ ग्रैवेयक में, विजयादि में और सर्वार्थसिद्ध में स्थिति १-१ सागरोपम से अधिक है। आरण-अच्युत में २२ सा., ग्रैवेयकों में सत्तग-सत्तग १-१ सा. अधिक अर्थात् २३ सा. आदि। इस प्रकार १-१ सा. से अधिक सभी नौ ग्रैवेयक में, यावत् सबसे ऊपर नववें ग्रैवेयक में ३१ सा। वह स्थिति विजयादि चारों में १ से अधिक ३२ सा। वह भी ३१ से अधिक सर्वार्थसिद्ध में तो अजघन्य-उत्कृष्ट ३३ सा. है।

भा: यहाँ शिष्य पूछता है- मनुष्य और तिर्यंचों की जघन्य और उत्कृष्ट दो स्थिति कही गई, अब औपपातिकों की एक ही स्थिति क्यों? क्या जघन्य-उत्कृष्ट नहीं है? यहाँ कहते हैं:-

सू: अपरा पल्योपममधिकं च ५-३९॥

अ: अपरा अर्थात् दूसरी जघन्य स्थिति पल्योपम और साधिक पल्योपम है।

भा: सौधर्मादि में ही क्रमशः जघन्य स्थिति पल्योपम और साधिक पल्योपम है। अपरा अर्थात् जघन्य, निकृष्ट। परा अर्थात् प्रकृष्ट उत्कृष्ट, इस प्रकार एकार्थक

शब्द हैं। उनमें सौधर्म में जघन्य स्थिति पल्योपम, ईशान में साधिक पल्योपम है।

सू. सागरोपमे ५-५०॥
अ/भा. सनत्कुमार में जघन्य स्थिति 2 सा. है।

सू. अधिके च ५-५१॥
अ/भा. माहेन्द्र में जघन्य स्थिति साधिक 2 सा.।

सू. परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा ५-५२॥
अ. आगे-आगे पूर्व-पूर्व की अनन्तर स्थिति जघन्य होती है।
भा. माहेन्द्र से आगे पूर्व-पूर्व की अनन्तर-उत्कृष्ट स्थिति जघन्य होती है। वह इस प्रकार- माहेन्द्र में उत्कृष्ट स्थिति साधिक 7 सागरोपम, वह ब्रह्मलोक में जघन्य स्थिति होती है। ब्रह्मलोक में उत्कृष्ट स्थिति 10 सा., वह लांतक में जघन्य होती है। इस प्रकार सर्वार्थसिद्ध तक जानना।
टी. (1) भाष्यकार ने जो यह सर्वार्थ सिद्ध तक कहा है, वह कोई भी संबंध से घटता नहीं है क्योंकि सू. ५-३८ में भाष्यकार ने ही अजघन्योत्कृष्ट 33 सा. स्थिति कही और आगम (प्रज्ञापना सू.) में भी ऐसा ही कथन है।

सू. नारकाणां च द्वितीयादिषु ५-५३॥
अ. नारकों की द्वितीयादि भूमि में पूर्व-पूर्व की अनन्तर-उत्कृष्ट स्थिति, वार-वार वाली भूमि में जघन्य स्थिति है। वह इस प्रकार- रत्न प्रभा में नारकों की 1 सा. उत्कृष्ट स्थिति है, वह शर्कराप्रभा में जघन्य है। शर्कराप्रभा में 3 सा. उत्कृष्ट स्थिति, वह वालुका प्रभा में जघन्य स्थिति है, इस प्रकार सभी भूमि में जानना। तमः प्रभा में 22 सा. उत्कृष्ट स्थिति, वह महातमः प्रभा में जघन्य स्थिति है।

सू. दश वर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ५-५४॥
अ/भा. नारकों की प्रथम भूमि में 10 हजार वर्ष जघन्य स्थिति है।

DATE ___/___/___

सू. भवनेषु च 4-45॥
सा.भा. भवनवासी देवों की जघन्य स्थिति 10 हजार वर्ष है।

सू. व्यन्तराणां च 4-46॥
सा.भा. व्यन्तर देवों की जघन्य स्थिति 10 हजार वर्ष है।

सू. परा पल्योपमम् 4-47॥
सा.भा. व्यन्तरों की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम होती है।
टी. (i) व्यन्तर देवियों की उत्कृष्ट स्थिति 1/2 पल्योपम।

सू. ज्योतिष्काणामधिकम् 4-48॥
सा.भा. ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट स्थिति साधिक पल्योपम होती है।
टी. (i) सूर्य की 1000 वर्ष अधिक पल्योपम, चन्द्र की 1 लाख वर्ष अधिक पल्योपम।
(ii) देवियों की उत्कृष्ट 50000 वर्ष अधिक $\frac{1}{2}$ पल्योपम।

सू. ग्रहाणामेकम् 4-49॥
सा.भा. ग्रहों की उत्कृष्ट स्थिति 1 पल्योपम।

सू. नक्षत्राणामर्धम् 4-50॥
सा.भा. नक्षत्र देवों की उत्कृष्ट स्थिति 1/2 पल्योपम।

सू. तारकाणां चतुर्भागः 4-51॥
सा.भा. तारा देवों की उत्कृष्ट स्थिति 1/4 पल्योपम।

सू. जघन्या त्वष्टभागः 4-52॥
सा.भा. तारे की जघन्य स्थिति 1/8 पल्योपम।

DATE ___/___/ 111

सू: चतुर्भागः शेषाणाम् ४-५३॥

भाभा. तारे से शेष ज्योतिष्क देवों की जघन्य स्थिति 1/4 पल्योपम।

★ देव तथा देवियों की जघन्य एवं उत्कृष्ट स्थितियाँ -

देव	जघन्य	उत्कृष्ट	देवियों की उत्कृष्ट
→ भवनपति	10000 वर्ष	असुरेन्द्र - 1 सा. / 1 1/2 सा.	5 प.
		शेष 9 - 1 1/2 (4.) प. / 1 3/4 (3.) प.	~~4~~ 4. देशोन प.
→ व्यन्तर	10000 वर्ष	1 प.	1/2 प.
→ ज्यो.-चन्द्र	1/4 पल्योपम	1 लाख वर्ष अधिक 1 पल्योपम	
सूर्य	1/4 "	1000 वर्ष अधिक 1 प.	500 वर्ष अधिक 1/2 प.
ग्रह	1/4 प.	1 प.	
नक्षत्र	1/4 प.	1/2 प.	
तारा	1/8 प.	1/4 प.	
→ सौधर्म	1 सा.	2 सा.	1 प. - 50 प.
ऐशान	1 1/2 सा.	2 1/2 सा.	1 1/2 प. - 55 प.
सनत्कुमार	2 सा.	7 सा.	
माहेन्द्र	2 1/2 सा.	7 1/2 सा.	
ब्रह्मलोक	7 1/2 सा.	10 सा.	
लान्तक	10 सा.	14 सा.	
महा शुक्र	14 सा.	17 सा.	
सहस्रार	17 सा.	18 सा.	
आणत-प्राणत	18 सा.	20 सा.	
~~प्राणत~~-	~~20 सा.~~		
आरण-अच्युत	20 सा.	22 सा.	
9 ग्रैवेयक	22-30 सा.	23-31 सा.	
विजयादि 4	31 सा.	32 सा.	

DATE / /

सर्वार्थसिद्धि | 33 सा. सजघन्योत्कृष्ट

इति श्रीतत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे चतुर्थोऽध्यायः।

पञ्चमोऽध्यायः

भा. जीव कहे गए। अजीवों को कहेंगे -

सू. अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः 5-1॥

अ. धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल अजीव हैं।

~~भा. कहे गए लक्षण वाले अजीव हैं- उपयोगो लक्षणम् 2-8~~

भा. धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय इस प्रकार अजीवकाय हैं। उन्हें लक्षण से और विधान से आगे कहेंगे। काय शब्द का ग्रहण प्रदेश और अवयव की बहुता बताने के लिए और काल का प्रतिषेध करने के लिए कहा है।

टी (i) अस्ति शब्द से ध्रुवता और काय शब्द से उत्पाद-विनाश बताया है।
धर्मादि द्रव्य में उत्पाद-विनाश → गति करते हुए चैत्र को धर्म द्रव्य उपग्रह करता है. अतः धर्म द्रव्य में उपग्रहकारिता है। फिर चैत्र के स्थिर हो होने पर धर्म द्रव्य की उपग्रह कारिता नष्ट हुई, इस प्रकार उत्पाद-विनाश। इसी प्रकार अधर्म-आकाश द्रव्य में घटाना। पुद्गल द्रव्य में तो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य प्रकार है।

(ii) काय शब्द ग्रहण करने के 2 कारण- ⓐ प्रदेश-अवयव की बहुलता ⓑ कालका प्रतिषेध।
ⓐ प्रदेश की बहुलता - धर्म, अधर्म, आकाश में, अवयव की बहुलता पुद्गल में क्योंकि पुद्गल के प्रदेश अलग होकर परमाणु भी बन सकते हैं।
प्र. अकेले परमाणु में तो अवयव नहीं है, अतः वह कैसे द्रव्य होगा? उ. एक रस-गंध-वर्ण और 2 स्पर्श वाला परमाणु होता है उसके ये गुण ही भाव अवयव हैं, द्रव्य से वह निरवयव है।
ⓑ काल-काय स्वरूप नहीं है क्योंकि समयों का कोई पिंड नहीं है।

सू. द्रव्याणि जीवाश्च 5-2॥

अ. जीव और धर्म-अधर्म-आकाश-पुद्गल द्रव्य हैं।

भा. ये धर्मादि 4 और जीव, 5 द्रव्य हैं। जो कहा गया कि - 'मतिश्रुतयो निबन्धः ... 1-27,

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य 1-30 ।

→ अब - ये द्रव्य क्या कभी स्वभाव से बदलते हैं? अथवा 5 की संख्या बदलती है? अथवा मूर्त हैं या अमूर्त हैं? इस प्रकार 3 प्रश्नों का उत्तर -

सू. नित्यावस्थितान्यरूपाणि 5-3॥

अ. ये द्रव्य नित्य, अवस्थित और अरूपी हैं।

भा. ये द्रव्य नित्य होते हैं, 'तद्भावाव्ययं नित्यम् 5-30' कहा जाएगा) और ये द्रव्य अवस्थित हैं अर्थात् ये ~~कभी मृत्यु अथवा~~ 5 की संख्या कभी बदलती नहीं हैं और स्व स्वरूप को छोड़ते भी नहीं हैं। और ये द्रव्य अरूपी हैं, इनका रूप नहीं होता। रूप अर्थात् मूर्ति और स्पर्शादि मूर्ति के आश्रय वाले हैं अर्थात् स्पर्शादि रूप के सहचारी हैं।

→ अब - सू. 5-3 का अपवाद -

सू. रूपिणः पुद्गलाः 5-4॥

अ. पुद्गल रूपी होते हैं।

भा. पुद्गल ही रूपी होते हैं। रूपं एषां अस्ति एषु वा अस्ति इति रूपिणः।

सू. आऽऽकाशादेकद्रव्याणि 5-5॥

अ. आकाश तक सभी एक द्रव्य हैं।

भा. आकाश तक धर्मादि एक द्रव्य ही होते हैं। पुद्गल और जीव तो अनेक द्रव्य हैं।

सू. निष्क्रियाणि च 5-6॥

अ. ये द्रव्य निष्क्रिय हैं।

भा. आकाश तक के ~~सभी द्रव्य~~ धर्मादि द्रव्य निष्क्रिय हैं। पुद्गल-जीव तो क्रिया[1] वाले हैं, क्रिया अर्थात् गति कर्म को कहा जाता है।

टि. (1) यहाँ क्रिया - देशान्तर प्राप्ति के लक्षण वाली विशेष क्रिया लेना, अन्यथा उत्पाद-विगम के लक्षण वाली क्रिया तो सभी द्रव्य में होती है।

DATE __/__/____

प्र. यहाँ शिष्य पूछता है - आपके द्वारा कहा गया कि प्रदेश और अवयव की बहुता क्रमशः संज्ञा वाली है, तो धर्मादि द्रव्यों के प्रदेश-अवयव का नियम क्या है? यहाँ कहते हैं- परमाणु सिवाय सभी के प्रदेश होते हैं। अवयव तो स्कंध के ही होते हैं। कहा जाएगा - 'अणवः स्कन्धाश्च, सङ्घातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते 5-25/26'।

सू. असङ्ख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयोः 5-7॥
अ. धर्म और अधर्म के असंख्य प्रदेश हैं।
भा. प्रदेश एक आपेक्षिक संज्ञा है, परमाणु की सर्वसूक्ष्म अवगाह प्रदेश है।

सू. जीवस्य च 5-8॥
अभा. एक जीव के असंख्य प्रदेश होते हैं।

सू. आकाशस्यानन्ताः 5-9॥
अ. आकाश के अनन्त प्रदेश हैं।
भा. लोक और अलोकाकाश के अनंत प्रदेश हैं, लोकाकाश के तो धर्म-अधर्म और एक जीव के तुल्य प्रदेश हैं।

सू. सङ्ख्येयासङ्ख्येयाश्च पुद्गलानाम् 5-10॥
अभा. पुद्गलों के प्रदेश संख्य, असंख्य और अनन्त होते हैं। अनन्त का अधिकार चशब्द से लिया।

सू. नाणोः 5-11॥
भा. अणु के प्रदेश नहीं होते। परमाणु आदि रहित, मध्य रहित और (1) प्रदेश रहित होता है।
(1) प्र. अणु में प्रदेश नहीं होते तो अणु पुद्गल-द्रव्य कैसे क्योंकि पुद्गल के प्रदेश होते हैं (5-10)?
उ. प्रदेश 2 प्र. ⓐ द्रव्यरूप ⓑ पर्यायरूप या भावरूप। अणु में द्रव्यरूप प्रदेश नहीं है, भाव रूप हैं।

DATE __/__/'15

सू. लोकाकाशेऽवगाहः 5-12॥
भा.अ. अवगाह करने वालों का अवगाह लोकाकाश में होता है।
टी. सभी द्रव्य निश्चयनय के अभिप्राय से स्वयं के अंदर ही रहते हैं, व्यवहार से धर्म-अधर्म-पुद्गल-जीव आकाश में रहते हैं।

सू. धर्माधर्मयोः कृत्स्ने 5-13॥
भा.अ. धर्म और अधर्म का संपूर्ण लोकाकाश में अवगाह होता है।

सू. एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् 5-14॥
भा. पुद्गलों का अवगाह एक प्रदेशादि में विकल्प से होता है।
भा. अप्रदेश (परमाणु), संख्यात प्रदेश, असंख्य प्रदेश और अनन्त प्रदेश वाले पुद्गलों का एकादि आकाश प्रदेशों में अवगाह विकल्प से होता है। भाज्य, विभाष्य, विकल्प्य, इस प्रकार एकार्थक हैं। वह इस प्रकार- परमाणु का एक ही प्रदेश में, द्व्यणुक का एक और दो प्रदेशों में, त्र्यणुक का एक, दो और तीन प्रदेशों में, इस प्रकार चतुरणुकादि का संख्यात, असंख्य और अनन्त प्रदेश वाले पुद्गलों का संख्यात और असंख्य प्रदेशों में अवगाह होता है।

सू. असंख्येयभागादिषु जीवानाम् 5-15॥
भा. जीवों का अवगाह लोकाकाश के असंख्यभागादि में होता है।
भा. जीवों का अवगाह लोकाकाश प्रदेशों के असंख्यभागादि में सर्वलोक तक होता है। यहाँ शिष्य पूछता है- जीवों का अवगाह असंख्य भागादि में होता है, इसका क्या कारण है। यहाँ कहते हैं-

सू. प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत् 5-16॥
भा. दीपक की तरह प्रदेशों के संहार (संकोच) और विसर्ग (विस्तार) से जीव का अवगाह असंख्य भागादि में भजनीय है।
भा. जीव के प्रदेशों के संकोच और विस्तार दीपक की तरह होते हैं। वह इस प्रकार- तैल,

DATE ___/___/___

बत्ती, अग्नि के उपादान से बढ़ा हुआ दीप बड़ी कूटागार शाला को भी प्रकाशित करता है, छोटी कूटागार शाला को भी। प्राणिका से ढँका हुआ प्राणिका को, द्रोण से ढँका हुआ द्रोण को, आढक से ढँका हुआ आढक को, प्रस्थ से ढँका हुआ प्रस्थ को, पाणि से ढँका हुआ पाणि को प्रकाशित करता है।

भा. इसी प्रकार प्रदेशों के संहार और विसर्ग से जीव बड़े अणु अथवा द्व्यु. के शरीर स्कंध- धर्म- अधर्म- आकाश- पुद्गल- जीव प्रदेश के समुदाय में व्याप्त होता है अर्थात् अवगाहन करता है। धर्म- अधर्म- आकाश- जीवों की परस्पर और पुद्गलों में वृत्ति (अ रहना पन) अमूर्त होने के कारण विरोधी नहीं होती है।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है- प्रदेश के संहार और विसर्ग का संभव होने पर असंख्य भागादि में जीव का अवगाह क्यों होता है, एक प्रदेशादि में क्यों नहीं? यहाँ कहते हैं- संसारी जीव (i) सयोगी होने से और (ii) सिद्धों का चरम शरीर के से तीसरा भाग हीन अवगाहिपन होने से।

टी. (i) भावार्थ- संसारी जीव औदारिक आदि काय योग वाले होते हैं। उसमें कार्मण शरीर भी हमेशा होता है, जिससे अनन्तानन्त पुद्गल सदा होने से असंख्य प्रदेश में ही अवगाहन होता है।

(ii) भावार्थ- शरीर में तीसरा भाग खाली होता है। उसे भरने के लिए अवगाह कम करते हैं। योग निरोध के बाद भी यदि इतनी अवगाहना होती है तो सयोगी एक प्रदेशादि में कैसे रहेंगे? इससे ज्यादा संहरण करने का सामर्थ्य सिद्ध में भी नहीं है।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है- आपके द्वारा कहा गया - धर्मादि अस्तिकाय को लक्षण से आगे कहेंगे (5-1)। तो इनका लक्षण क्या है? यहाँ कहते हैं-

सू. गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः 5-17॥

अ. धर्म और अधर्म का गति और स्थिति में उपग्रह स्वरूप उपकार है।

भा. गति वालों को गति का और स्थिति वालों को स्थिति का उपग्रह क्रमशः धर्म और अधर्म का उपकार है। उपग्रह, निमित्त (ii), अपेक्षा-कारण, हेतु इस प्रकार एकार्थक हैं। उपकार, प्रयोजन, गुण, अर्थ, इस प्रकार एकार्थक हैं।

टी. (i) धर्म- अधर्म तो निमित्त कारण है। निवर्तक कारण तो पुद्गल या जीव स्वयं हैं

DATE / / 117

सू. आकाशस्यावगाहः 5-18॥

अ. आकाश का उपकार अवगाह है।

आ. अवगाह करने वाले धर्म-पुद्गल और जीवों का अवगाह आकाश का उपकार है। धर्म और अधर्म का अनन्त प्रवेश के संबंध से और पुद्गल-जीवों का उपकार संयोग और विभाग से होता है।

सू. शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् 5-19॥

अ. शरीर, वचन, मन, ~~श्वास~~ श्वासोच्छ्वास पुद्गलों का उपकार है।

आ. औदारिकादि 5 प्र. के शरीर, (i) वचन, (ii) मन, (iii) श्वासोच्छ्वास पुद्गलों के उपकार हैं। उसमें शरीर कहे गए (2-37)। प्राणापान नामकर्म में कहे (iv) जाएँगे (8-12)। द्वीन्द्रियादि जिह्वेन्द्रिय के संयोग से भाषा रूप में पुद्गल ग्रहण करते हैं, अन्य नहीं। संज्ञी जीव मन रूप में पुद्गल ग्रहण के हैं, अन्य नहीं। आगे कहा जाएगा - 'सकषाय-त्वाज्जीवः कर्मणो... (8-2)'।

दे. (i) यहाँ अन्य इंद्रियों का ग्रहण क्यों नहीं किया? उ. क्योंकि अन्य इंद्रियाँ आत्म प्रदेश रूप होती हैं, जबकि वचन तो शरीर के बाहर छोड़ा जाता है।

(ii) मन का ग्रहण, वह पाँचों इंद्रियों का विषय है इसलिए किया है।

(iii) प्राणापान का ग्रहण सभी संसारी जीवों का कार्य होने से किया है।

(iv) यहाँ 'व्याख्यातो' भूतकाल क्यों किया गया? उ. आशंस्य अर्थ में भविष्यकाल में भी भूतवत् प्रत्यय होते हैं (हेम. 5-4-2)।

आ. और दूसरा उपकार -

सू. सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च 5-20॥

अ. सुख, दुःख, जीवन, मरण भी पुद्गलों का उपकार है।

आ. सुखोपग्रह, दुःखोपग्रह, जीवनोपग्रह, मरणोपग्रह पुद्गलों के उपकार हैं। वह इस प्रकार- इष्ट स्पर्श-रस-गंध-वर्ण-शब्द सुख के उपकार हैं। दुःख के अनिष्ट स्पर्शादि उपकार हैं। स्नान-आच्छादन-अनुलेपन-भोजनादि विधि से प्रयुक्त जीवन और आयुष्य के अनपवर्तन रूप उपकार हैं। विष-शस्त्र-अग्नि आदि मरण के उपकार और आयु के

DATE ___/___/_____

अपवर्तन रूप है। यहाँ शिष्य पूछता है- सोपक्रम और अपवर्तनीय आयु वाले में यह स्वीकारा गया। अब अनपवर्त्य आयु वाले को पुद्गल का उपकार कैसे होता है? यहाँ कहते हैं- उन्हें भी जीवन और मरण का उपग्रह पुद्गलों का उपकार है, यदि कैसे? तो कहा जाता है- कर्म की स्थिति और क्षय से, कर्म पौद्गलिक है। तथा तीन प्र. का आहार संभी को उपकार करता है। क्यों? क्योंकि आहार शरीर की स्थिति- उपचय- बल- वृद्धि और प्रीति के लिए होता है।

टी. (i) प्र. संसारी जीव तो वक्रगति में अनाहारक होते हैं और केवली समुद्घात तथा शैलेशी अवस्था में अनाहारक होते हैं, तो यहाँ सभी का उपकार क्यों कहा? उ. बहुलता की अपेक्षा से।

(ii) स्थिति = धारण करना, रहना, टिकना। उपचय = मांस-मज्जादि की पुष्टि। बल = शक्ति। वृद्धि = आरोह-परिणाह रूप। प्रीति = संतोष स्वरूप मन का परिणाम।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है- 'धर्म-अधर्म- आकाश- पुद्गल जीवद्रव्य का उपकार करते हैं, अब जीवों का कौन-सा उपकार है? यहाँ कहते हैं-

सू. परस्परोपग्रहो जीवानाम् ५-२१॥

अ. जीवों का उपकार परस्पर उपग्रह-निमित्त स्वरूप है।

भा. (i) जीवों का उपकार परस्पर (एक-दूसरे को) हित- अहित के उपदेश से निमित्त रूप है।

टी. प्र. जीव का लक्षण 'उपयोगो लक्षणम् २-८' में आ गया तो यहाँ फिर से क्यों कहा?
उ. वह अंतरंग लक्षण है, यह बाह्य लक्षण है।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है- काल का क्या उपकार है? यहाँ कहते हैं-

सू. वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ५-२२॥

अ. वर्तना, चि परिणाम, क्रिया, और (i) नया अथवा पुराना काल का उपकार है।

भा. वह इस प्रकार- सर्व भावों की वर्तना (ii) अर्थात् काल के आश्रय वाली वृत्ति। वर्तना, (iii) उत्पत्ति, (iv) स्थिति, गति (=नाश) (v) प्रथम समय के आश्रय वाली है।

टी. (i) काल द्रव्य की मनुष्य लोक में वृत्तिता- काल एक समय रूप, प्रत्येक समय उत्पन्न और नष्ट होता है। भूत-भविष्य-वर्तमान में 'काल-काल' इस प्रकार सामान्य श्रुति

से काल में ध्रौव्य अंश भी है। इस प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रुव होने से काल सत् है, द्रव्य है। यह द्रव्य मनुष्य लोक (तिर्यक्- 45 लाख योजन, ऊपर-नीचे 900-900 यो.) में ही है। यहाँ वह सभी भावों के वर्तन में (रहने में) निमित्त कारण स्वरूप है। प्र. जैसे काल मनुष्यलोक में है, वैसे ऊपर राजलोक में क्यों नहीं? उ. क्योंकि मनुष्य लोक के बाहर सभी भाव स्वयंमेव स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, उन्हें काल द्रव्य के निमित्त की अपेक्षा नहीं। मनुष्य लोक के अनुसार ही वहाँ काल का व्यवहार होता है। प्र. काल के निमित्त की अपेक्षा उन भावों को क्यों नहीं है? उ. क्योंकि सभी भावों का अस्तित्व निरपेक्ष है, स्वाभाविक है।

(ii) वर्तना अर्थात् काल के आश्रय वृत्ति, काल के आधार में रहना। पदार्थ जैसे आकाश रूप अधिकरण में रहते हैं, वैसे काल रूप अधिकरण में भी रहते हैं। पदार्थ स्वयं ही वर्तते हैं किंतु आकाश और काल निमित्त कारण है।

(iii) उत्पत्ति = स्वरूप की प्राप्ति। स्थिति = स्वरूप का नष्ट न होना। (गति = नाश)

(iv) भावार्थ ⇒ उत्पत्ति, स्थिति आदि पदार्थ की उत्पत्ति के प्रथम समय के आश्रय वाले अर्थात् समय की परिणति के स्वभाव वाले हैं।

भा. परिणाम 2 प्र. - (i) अनादि और आदिवाला। (ii) उसे आगे कहेंगे (5-42)। (iii)

वि. (i) परिणाम = द्रव्य का स्वजाति के त्याग बिना ही अन्य पर्याय स्वभाव।

(ii) धर्मादि अमूर्त द्रव्यों का परिणाम अनादि और मूर्त का आदिमान् है।

(iii) वह परिणाम ऋतु और वेला के नियम से किया गया है। उसमें ऋतु 6 - ① हेमन्त (सहस् और सहस्य मास) ② शिशिर (तपस् और तपस्य मास) ③ वसन्त (मधु और माधव मास) ④ ग्रीष्म (शुचि और शुक्र मास) ⑤ वर्षा (नभस् और नभस्य मास) ⑥ शरद (इषस् और ऊर्ज मास)। वेला नियम = काल का नियम।

भा. क्रिया अर्थात् गति। वह 3 प्र. - (i) प्रयोगगति, (ii) विस्रसा गति, (iii) मिश्रिका गति।

वि. (i) क्रिया अर्थात् गति = द्रव्य का परिणाम। जैसे- आकाश में अंगुली है, घी और रहेगी। यदि काल नहीं हो तो यह क्रिया एक समय में हो जाती अर्थात् सब कुछ भूत काल ही होता।

काल के 3 प्र. - भूत, भविष्य, वर्तमान। भूतकाल के 2 प्र. ① भाव ② द्रव्य। ① भाव भूत-

DATE __/__/____

नष्ट हुए घड़े को देखा (b) विषय भूत- घड़े को देखा (अर्थात् घड़ा वर्तमान में है तो सही किंतु दिखता नहीं है) इसी प्रकार भविष्य (a) भाव- नए बनते घड़े को देखना (b) घड़े को देखना।

(ii) प्रयोग गति= जीव के परिणाम से युक्त, शरीर- आहार-वर्ण-गंध-स्पर्शादि विषयक।
विस्रसा गति= प्रयोग बिना ही अजीव द्रव्य के परिणाम स्वरूप ex. बादल, इन्द्रधनुष आदि।
मिश्र गति= जीव द्रव्य के प्रयोग के साथ साथ अजीव द्रव्य के परिणाम रूप ex. कुंभ परिणाम से स्वतः उत्पन्न होने वाला है किन्तु जीव के निमित्त से उत्पन्न हुआ।

आ. परत्व-अपरत्व उ:- प्रशंसा द्वारा किए गए, क्षेत्र द्वारा किए गए, काल द्वारा किए गए। उसमें प्रशंसा कृत- धर्म प्रधान है, ज्ञान प्रधान है; अज्ञान- अधर्म अप्रधान है। क्षेत्र कृत- (i) एक देश और काल में अवस्थित दो वस्तु में से एक जो प्रकृष्ट वह (प्रधान) और जो निकृष्ट, वह (अप्रधान) काल कृत- 16 साल उम्र वाले से 100 आयु (दूर) वाला पर, 16 वर्ष वाला (पास) अपर। इस प्रकार प्रशंसा और क्षेत्र कृत परत्व-अपरत्व छोड़ कर (ii) कालकृत वर्तनादि काल के उपकार हैं।

टी. (i) भावार्थ- एक ही काल में दो वस्तु एक ही दिशा में है। एक वस्तु दूर है, एक पास है। उनमें एक पर होगी, दूसरी अपर।

(ii) वर्तना- परिणाम और क्रिया निरपेक्ष होने से समास बिना लिखे, परत्व-अपरत्व सापेक्ष होने से समास किया। पहले तीन द्रव्य के स्वभाव हैं, परत्व-अपरत्व तो अवधि- अर्पणा स्वरूप में काल का लिंग है।

आ. यहाँ शिष्य पूछता है- आपके द्वारा कहा गया कि शरीरादि पुद्गल के उपकार हैं (5-19)। और अन्य दर्शनी 'पुद्गल' शब्द से जीवों की परिभाषा करते हैं, और अन्य तो पुद्गल को स्पर्शादि से रहित कहते हैं। तो यह किस प्रकार है? यहाँ कहते हैं- इन सभी विप्रतिपत्तियों (विपरीत ज्ञान) के प्रतिषेध के लिए वि और विशेष वचनों को कहने की इच्छा से यह कहा जाता है-

सू. स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः 5-23॥
प. स्पर्श, रस, गंध, वर्ण वाले पुद्गल हैं।
भा. स्पर्श, रस, गंध, वर्ण इस प्रकार के लक्षण वाले पुद्गल हैं। उनमें स्पर्श 8 उ:- (i) कठिन,

DATE ___/___/ 121

मृदु गुरु लघु शीत उष्ण स्निग्ध रूक्ष। रस 5 प्र.- (ii) तिक्त कटु कषाय अम्ल मधुर। गंध 2 प्र.- (iii) सुरभि और असुरभि। वर्ण 5 प्र. - कृष्ण नील लोहित पीत शुक्ल।

द्वि. (i) कठिन = नहीं झुकने के स्वभाव वाला। मृदु = झुकने के स्वभाव वाला। गुरु = अधोगमन का हेतु। लघु = प्रायः तिर्यक् और ऊर्ध्व गमन का हेतु। शीत = स्वच्छता। निर्मलता। शांति करने वाला, स्तंभन के स्वभाव वाला। उष्ण = मृदुता और पाक करने वाला। स्निग्ध = संयोग होने पर संयोग वाले द्रव्यों के संबंध का कारण। रूक्ष = संबंध का कारण। इन 8 में से अणु में स्निग्ध-रूक्ष और शीत-उष्ण, यही संभव है।

(ii) तिक्त (तीखा) - कफ का शमन करने वाला। कटु (कड़वा) - कफ को तोड़ने वाला। कषाय (तुरा) - अन्न की रुचि का स्तंभन करने वाला। अम्ल (खट्टा) - कफ करने वाला। मधुर - आनंद और शरीर की पुष्टि करने वाला। (कान को शीतल करने वाला)

(iii) सुरभि - चंदन, कश्मीरजादि की। दुरभि - लहसुन, विष्ठादि की।

सू. शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमश्छायातपोद्योतवन्तश्च 5-24॥

अ. शब्द, बंध-सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तमः, छाया, आतप, उद्योत वाले पुद्गल हैं।

भा. इसमें शब्द 6 प्र.- (i) तत, (ii) वितत, घन, शुषिर, संघर्ष, (iii) भाषा।

द्वि. (i) शब्द के 2 प्र.- ⓐ वैससिक- बादल की आवाजादि। ⓑ जीव व्यापार निष्पन्न- तत आदि।

(ii) तत = मृदंग, चरड़ वि. से उत्पन्न। वितत = वीणा आदि तार से उत्पन्न। घन = कांस्यशोजन, काष्ठ शत्याकादि से उत्पन्न। शुषिर = Flute वि. छिद्र वाले वाद्य यंत्रों से उत्पन्न। संघर्ष = लकड़ी पर आरी घिसने से उत्पन्न आवाज। भाषा = व्यक्त वाणी द्वारा वर्ण-पद-व्यवहारात्मक आवाज।

(iii) शब्द के पुद्गल होने के हेतु - ⓐ बजाते हुए पटहादि के चामड़े का कंपन होने से ⓑ शंखादि के शब्द की मात्रा बढ़ाने पर कान फट जाने से, ऐसी शक्ति अमूर्त आकाश में नहीं होती ⓒ पर्वत से टकराए हुए पत्थर की तरह वापस आने से ⓓ कहीं से निकलने के लिए द्वार की जरूर होने से, पानी या धूप की तरह ⓔ वायु द्वारा प्रेरित होने से, घास-पत्ते की तरह ⓕ स्पर्श विशेष से अभिभवनीय या अभिभावुक होने से, बड़े शब्द से छोटा शब्द अभिभवनीय, छोटे शब्द का बड़ा शब्द अभिभावुक, सूर्य और तारे की तरह।

भा. बंध 3 प्र.- (i) प्रयोग बंध, (ii) विस्रसा बंध, (iii) मिश्र बंध। स्निग्ध और रूक्ष के कारण बंध होता है, इस प्रकार कहा जाएगा (5-32)।

DATE ___/___/___

ही.
(i) प्रयोग - औदारिकादि शरीर का बंध जो जीव के व्यापार से हो।
(ii) वैस्रसिक - 2 प्र. (a) आदिमत् - विषम गुणों के विशेष में परिणत परमाणु से 2 उत्पन्न होने वाला स्कंध परिणाम e.g. विद्युत्, उल्का, मेघ, अग्नि, इंद्रधनुषादि। (b) अनादि - धर्म-अधर्म-आकाश का संयोग।
(iii) मिश्र - जीव के प्रयोग के सहकार से अचेतन द्रव्य की परिणति के लक्षण वाला e.g. स्तंभ, कुंभादि।

भा. सौक्ष्म्य 2 प्र. - अन्त्य और आपेक्षिक। अन्त्य सौक्ष्म्य परमाणुओं में ही होता है, आपेक्षिक तो संघात के परिणाम की अपेक्षा वाला द्व्यणुकादि में होता है। वह इस प्रकार - आँवले से बोर छोटा होता है।

भा. स्थौल्य 2 प्र. - अन्त्य और आपेक्षिक। आपेक्षिक संघात परिणाम की अपेक्षा वाला ही होता है। उसमें अन्त्य सर्वलोकव्यापी महास्कंध में होता है। आपेक्षिक - बोर वि. से आँवले आदि में होता है।

भा. संस्थान अनेक प्रकार वाला। दीर्घ, ह्रस्व आदि से अनित्थन्त्व तक।

ही. (i) संस्थान - प्रकार 2 प्र. (a) आत्मा का और (b) अनात्मा का। (a) उसमें आत्मा के संस्थान → पृथ्वी - मसूर की दाल; अप् - पानी के बुलबुले; तेउ - सुई का समूह; वाउ - ध्वजा; वनस्पति - अनित्थन्त्व (जो संस्थान शब्द में नहीं कहा सकते क्योंकि उस प्रकार की कोई वस्तु नहीं है e.g. बादल); विकलेन्द्रिय - हुंडक; नारक - हुंडक; देव - समचतुरस्र, गर्भज मनुष्य/तिर्यंच - 6 (समचतुरस्र, न्यग्रोध, सादि, वामन, कुब्ज, हुंडक), संमूर्च्छिम मनुष्य/तिर्यंच - हुंडक।
(b) अजीव के संस्थान - 5 प्र. - परिमंडल, गोल, त्रिकोण, चोरस, लंब। प्रत्येक के 2 प्र. - घन, प्रतर। आयत के 3 प्र. - घन, प्रतर, श्रेणी। परिमंडल सिवाय प्रत्येक के पुनः 2 प्र. - ओज प्रदेश जन्य, युग्म प्रदेश जन्य। कुल 20 प्र. हुए।

(प्रतर = 2D, घन = 3D } श्रेणी - 1D)

1. ओज प्रदेश प्रतर गोल - 5 प्रदेश
2. युग्म प्रदेश प्रतर गोल - 12 प्रदेश

(चि. 1)

(ओज = Single, युग्म = Double)

(चि 2)

3. ओज प्रदेश घन गोल - 7 प्रदेश। चि. 1 में बीच वाले परमाणु के ऊपर नीचे 1-1 परमाणु रखने

DATE ___/___/123

4. युग्म प्रदेश घन गोल्य - 32 प्रदेश। युग्म प्रदेश प्रत्तर गोल्य के ऊपर 12 परमाणु उसी प्रकार रखना, फिर मध्य में 4-4 परमाणु ऊपर-नीचे रखना।
5. ओज प्रदेश प्रत्तर त्रिकोण - 3 प्रदेश। (चि.3)
6. युग्म प्रदेश प्रत्तर त्रिकोण - 6 प्रदेश।

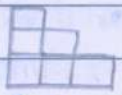
(चि.4)

7. ओज प्रदेश घन त्रिकोण - 35 प्रदेश। पहली ६ प्रत्तर → 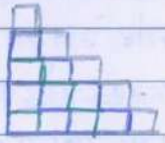 इस प्रत्तर पर 4 प्रत्तर रखना, जिनमें प्रत्येक पंक्ति में क्रमशः 1-1 परमाणु कम हो। इस प्रकार 5 प्रत्तरों में कुल परमाणु - 15+10+6+3+1 = 35।
8. युग्म प्रदेश घन त्रिकोण - 4 प्रदेश। चि. 3 में मध्य परमाणु पर 1 परमाणु रखना।
9. ओज प्रदेश प्रत्तर चौरस - 9 प्रदेश।

(चि.6)

10. युग्म प्रदेश प्रत्तर चौरस - 4 प्रदेश।

(चि.7)

11. ओज प्रदेश घन चौरस - 27 प्रदेश। चि. 6 में ऊपर-नीचे 9-9 प्रदेश रखना।
12. युग्म प्रदेश घन चौरस - 8 प्रदेश। चि. 7 में ऊपर 4 प्रदेश रखना।
13. ओज प्रदेश श्रेणी आयत - 3 प्रदेश। 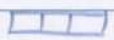
14. युग्म प्रदेश श्रेणी आयत - 2 प्रदेश।
15. ओज प्रदेश प्रत्तर आयत - 15 प्रदेश। (चि.8)
16. युग्म प्रदेश प्रत्तर आयत - 6 प्रदेश। 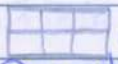 (चि.9)
17. ओज प्रदेश घन आयत - 145 प्रदेश। (चि. 8) में ऊपर-नीचे 15-15 परमाणु रखना।
18. युग्म प्रदेश घन आयत - 12 प्रदेश। (चि. 9) पर 4 परमाणु रखना।
19. प्रत्तर परिमंडल्य - 20 प्रदेश 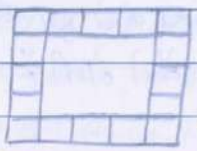 (चि. 10)
20. घन परिमंडल्य - 40 प्रदेश। चि. 10 पर 20 परमाणु रखना।

DATE ___/___/___

ये प्रदेशों की संख्या जघन्य जानना। उत्कृष्ट से सभी में अनंत प्रदेश हो सकते हैं।

आ. भेद - (ii) e.g. औत्करिक, चौर्णिक, खंड, प्रतर, अनुतर।

टी (i) भेद = द्रव्य के एकत्व रूप परिणाम का अलग होना, यह पुद्गल का परिणाम है, अन्य द्रव्य में भेद नहीं होने से।

(ii) औत्करिक = खोतरना e.g. लकड़ी में से बनाते भेरी वि.

चौर्णिक = प्रत्येक अवयव का चूर्ण करना e.g. आटा

खंड = प्रत्येक खंड से टुकड़े करना e.g. मिट्टी के ढेले।

प्रतर = बहुत पड़ उखेड़ना e.g. अभ्रक, भोजपत्र के पड़।

अनुतर = छीलना e.g. बाँस, लकड़ी, गन्ने का छिलका छीलना।

आ. अंधकार, छाया, आतप, और उद्योत पुद्गल के परिणाम से उत्पन्न होने वाले हैं। ये सभी स्पर्शादि पुद्गलों में ही होते हैं इसलिए पुद्गल तद्वान् हैं।

आ. यहाँ शिष्य पूछता है - स्पर्शादि और शब्दादि का सूत्र अलग क्यों किया गया? यहाँ कहते हैं - स्पर्शादि शुद्ध परमाणुओं में और स्कंधों में पारिणामज (अर्थात् स्वाभाविक) ही होते हैं किन्तु शब्दादि स्कंधों में ही तथा अनेक निमित्त से होते हैं इसलिए अलग किया गया।

आ. वे ये पुद्गल संक्षेप से 2 प्र. के होते हैं। वह इस प्रकार -

सू. अणवः स्कन्धाश्च 5-25॥

प्र. अणु और स्कंध - दो प्र. के पुद्गल होते हैं।

आ. कहा गया - परमाणु अंत्य कारण है, सूक्ष्म है, नित्य है, एक रस-गंध-वर्ण वाला और दो स्पर्श वाला है, तथा कार्य के लिंग वाला है।

टी (i) भावार्थ - बादर परिणाम भजने वाले प्रत्यक्ष दृश्य कार्य रूपी लिंग वाला अर्थात् कार्य से पहचाने जाने वाला।

आ. इसमें अणु बंधे हुए नहीं होते, स्कंध बंधे हुए होते हैं।

आ. यहाँ शिष्य पूछता है - यह द्विविधता कैसे होती है? यहाँ कहते हैं - स्कंध तो →

सू. सङ्घातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते ॥ 5-26॥

अ. संघात और भेदों से स्कंध उत्पन्न होते हैं।

भा. संघात से, भेद से, संघात-भेद से इस प्रकार 3 कारणों से द्विप्रदेशादि स्कंध उत्पन्न होते हैं। वह इस प्रकार- 2 परमाणु के संघात से द्विप्रदेश स्कंध, द्विप्रदेशी और अणु के संघात से त्रिप्रदेश स्कंध, इस प्रकार संख्य और असंख्य प्रदेशों के संघात से उतने प्रदेश वाला स्कंध होता है।

टि. (i) संघात यानि बंध। संयोग और बंध में अंतर- नैरन्तर्येणावयवप्राप्तिमात्रं संयोगः, अन्योन्यानुगाद्यिग्रहभावपरिणामः बन्धः।

भा. इन स्कंधों के भेद से द्विप्रदेशी तक स्कंध बनते हैं। और एक ही समय में होने वाले संघात-भेद से ये ही द्विप्रदेशादि स्कंध उत्पन्न होते हैं; अन्य परमाणु के संघात से और अन्य दिशा में भेद से उत्पन्न होते हैं।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है- अब परमाणु कैसे उत्पन्न होता है? यहाँ कहते हैं-

सू. भेदादणुः ॥ 5-27॥

अ. अणु भेद से उत्पन्न होता है।

भा. परमाणु भेद से ही उत्पन्न होता है, संघात से नहीं।

सू. भेदसङ्घाताभ्यां चाक्षुषाः ॥ 5-28॥

अ. भेद और संघात से चाक्षुष स्कंध उत्पन्न होते हैं।

भा. भेद-संघात से चाक्षुष स्कंध उत्पन्न होते हैं। अचाक्षुष तो यथोक्त संघात, भेद और संघात-भेद से उत्पन्न होते हैं।

टि. (i) भेद-संघात से उत्पन्न सभी स्कंध चाक्षुष नहीं होते। किन्तु चाक्षुष स्कंध भेद-संघात से ही उत्पन्न होते हैं, केवल संघात से नहीं।

(ii) चाक्षुष से शेष सभी इंद्रिय का भी ग्रहण करना।

(iii) अनन्तानन्त परमाणु वाला स्कंध, बादर परिणति वाला, भेद-संघात से उत्पन्न हो तो ही इंद्रियों का विषय बन सकता है।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है- 'धर्मादि होते हैं' इस प्रकार कैसे ग्रहण किया जाए? यहाँ कहते हैं-

DATE __/__/__

लक्षण से। तो सत् का लक्षण क्या है? यहाँ कहते हैं-

सू. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् 5-29॥

प. उत्पाद, व्यय और ध्रुवता से युक्त सत् होता है।

भा. उत्पाद-व्यय और ध्रुवत्व से युक्त सत् का लक्षण है। जो उत्पन्न होता है, जो नष्ट होता है, और जो ध्रुव है, वह सत् है; इससे अन्य असत् है।

भा यहाँ शिष्य पूछता है- इस प्रकार के लक्षण वाले सत् को हम स्वीकारते हैं; यह कहना चाहिए कि वह नित्य है अथवा अनित्य है? यहाँ कहते हैं-

सू. तद्भावाव्ययं नित्यम् 5-30॥

सू. ~~सत्~~ सत् का भाव (परिणाम) नष्ट नहीं होता, नष्ट नहीं होगा इसलिए वह नित्य है।

भा. (i) भावार्थ- जो सत् स्वभाव से कभी नष्ट नहीं होता अर्थात् जो सत् कभी असत् नहीं होगा और असत् कभी सत् नहीं होगा। पर्याय से बदलता रहेगा।

सू. अर्पितानर्पितसिद्धेः 5-31॥

भा. अर्पित (~~अ~~ विवक्षा से प्रधान) से अनर्पित (गौण) की सिद्धि होने से वस्तु एक साथ ~~उत्पाद~~ नित्य और अनित्य है।

→ प्रश्न.- सू. 5-3 में भी नित्य कहा और यहाँ वापस नित्य कहने की क्या जरूर थी? उ. यहाँ सू. 5-30 में नित्यता का लक्षण कहा है, इस लक्षण से वे द्रव्य नित्य हैं। उ. सू. 5-29 में द्रव्य को उत्पाद और व्यय से युक्त कहा, जिससे वह अनित्य है। 5-30 में नित्य कहा। जिससे वह द्रव्य एक साथ नित्य और अनित्य कैसे होता है? उ. सू. 5-31 सूत्र का अन्वय इस प्रकार है- ~~सत्~~ अर्पितान् अनर्पितसिद्धेः वस्तु नित्यानित्यम्।

(ii) भा. तीनों प्रकार का सत् और नित्य, दोनों ही अर्पित और अनर्पित से सिद्ध होते सकते हैं। अर्पित अर्थात् व्यावहारिक (जो अपेक्षा प्रधान विवक्षित हो), अनर्पित अर्थात् अव्यावहारिक (जो गौण विवक्षित हो)। वह सत् पुनः वह इस प्रकार- द्रव्यास्तिक, मातृकापदास्तिक, उत्पन्नास्तिक, पर्यायास्तिक। इनमें से द्रव्यास्तिक के अर्थात् एक द्रव्य, अथवा 2 द्रव्य अथवा बहुत सत् हैं, द्रव्यास्तिक का असत् विकल्प

नहीं होता। मातृकापदास्तिक के भी एक मातृकापद अथवा दो मातृकापद अथवा बहुत मातृकापद सत् हैं तथा एक अमातृकापद, दो अमातृकापद अथवा बहुत मातृकापद असत् हैं। उत्पन्नास्तिक के एक उत्पन्न, दो उत्पन्न अथवा बहुत उत्पन्न सत् हैं, एक अनुत्पन्न, दो अनुत्पन्न अथवा बहुत अनुत्पन्न असत् हैं। अर्पित (अपेक्षा से प्रधान) किए बिना सत् अथवा असत् नहीं कह सकते। पर्यायास्तिक के एक सद्भाव पर्याय में, दो असद्भाव पर्याय में अथवा बहुत असद्भाव पर्याय में अपेक्षित एक द्रव्य, दो द्रव्य अथवा बहुत द्रव्य सत् हैं; एक असद्भाव पर्याय में, दो असद्भाव पर्याय में अथवा बहुत असद्भाव पर्याय में अपेक्षित एक द्रव्य, दो द्रव्य अथवा बहुत द्रव्य असत् हैं। सत्- असत् रूप दोनों पर्याय में, दो उभय पर्याय में, बहुत उभय पर्याय में आदिष्ट एक द्रव्य, दो द्रव्य, अथवा बहुत द्रव्य सत् अथवा असत् कहने योग्य नहीं है, देश-आदेश से विकल्प करना।

प्र. यहाँ शिष्य पूछता है - आपके द्वारा कहा गया 'संघातभेदेभ्यः स्कन्धा उत्पद्यन्ते' (5-26) तो क्या संयोग मात्र से ही संघात होता है अथवा कोई विशेष है? यहाँ कहते हैं- संयोग होने पर बंधे परमाणु का संघात होता है। यहाँ शिष्य पूछता है - बंध कैसे होता है? यहाँ कहते हैं-

सू. स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः 5-32॥

अ. स्निग्ध और रूक्ष गुण से बंध होता है।

प्र. स्निग्ध (i) और रूक्ष (ii) कैसे स्पर्श हुए दो पुद्गलों का बंध होता है।

उ. (i) स्नेह और रूक्ष पुद्गल के स्पर्श गुण हैं। उनका परिणाम स्निग्ध और रूक्ष कहा जाता है। अणु एकगुण स्निग्धादि क्रम से संख्य, असंख्य, अनंत गुण स्निग्ध होते हैं।

(ii) सभी बंध संयोग पूर्वक ही होते हैं। संयोग के बाद पुद्गलों का परस्पर प्रतिघात होता है। प्रतिघात यानि एक देश के अवगाह में परस्पर प्रतिहनन करना। फिर बंध होता है।

सू. 5-26 की टीका में -> प्रतिघात 3 प्र.- (a) बंध (b) उपकाराभाव- लोकान्त में धर्म-अधर्म के उपकार का अभाव होने से परमाणु की गति रुक जाती है (c) वेग- परस्पर आमने-सामने वेग से आते परमाणुओं का टकराना।

DATE ___/___/___

प्रा. यहाँ शिष्य पूछता है- क्या यह एकांत है? यहाँ कहते हैं-

टी (i) क्या एकांत से सभी पुद्गलों का बंध होता है? (भावार्थ-)

सू. न जघन्यगुणानाम् ५-३३॥

अ. जघन्य गुण वाले पुद्गलों का बंध नहीं होता।

भा. जघन्य गुण स्निग्ध और जघन्य गुण रूक्ष परमाणुओं का परस्पर बंध नहीं होता।

टी (i) भावार्थ- एक गुण स्निग्ध का एक गुण रूक्ष के साथ बंध नहीं होता क्योंकि उस प्रकार की परिणाम शक्ति का अभाव है। परिणाम शक्ति क्षेत्र और काल के अनुरोध वाली, प्रयोग-विस्रसा की अपेक्षा वाली है। एक गुण स्निग्ध अथवा एकगुण रूक्ष थोड़ापन होने से ही एक गुण रूक्ष अथवा एक गुण स्निग्ध को परिणामित करने के लिए समर्थ नहीं है।

प्रा. यहाँ शिष्य पूछता है - आपके द्वारा कहा गया- जघन्यगुण वालों को छोड़कर स्निग्धों का रूक्ष के साथ और रूक्षों का स्निग्ध के साथ बंध होता है। अब तुल्यगुण वालों का क्या अत्यंत प्रतिषेध है? यहाँ कहते हैं- 'न जघन्यगुणानाम्' इस प्रकार अधिकार उतारकर यह कहते हैं-

सू. गुणसाम्ये सदृशानाम् ५-३५॥

अ. गुण का साम्य होने पर सदृश पुद्गलों का बंध नहीं होता।

भा. गुण साम्य होने पर समान पुद्गलों का बंध नहीं होता। वह इस प्रकार- तुल्य गुण वाले स्निग्ध का तुल्य गुण वाले स्निग्ध के साथ और तुल्य गुण वाले रूक्ष का तुल्य गुण रूक्ष पुद्गल के साथ बंध नहीं होता। यहाँ शिष्य पूछता है - सदृश ग्रहण क्या अपेक्षा रखता है? यहाँ कहते हैं- गुण का वैषम्य होने पर सदृश गुण वाले पुद्गलों का बंध होता है।

टी (i) भावार्थ- 'सदृश' पद का ग्रहण क्यों किया है? कौन-सी अपेक्षा वाला है? संख्या की अपेक्षा अथवा स्निग्ध-रूक्ष गुण की अपेक्षा?

(ii) यहाँ गुण साम्य या वैषम्य पद का ग्रहण स्निग्ध-रूक्ष की अपेक्षा वाला है। सदृश पद का ग्रहण गुण की संख्या/मात्रा की अपेक्षा वाला है।

आ. यहाँ शिष्य पूछता है - क्या सामान्य से ही गुण का वैषम्य होने पर सदृश पुद्गलों का बंध होता है? यहाँ कहते हैं -

सू. द्व्यधिकादिगुणानां तु ५-३५॥

अ. दो से अधिक आदि गुण वाले पुद्गलों का बंध होता है।

आ. दो से अधिक गुण वाले परमाणु आदि के सदृश पुद्गलों का बंध होता है। वह इस प्रकार - स्निग्ध का द्विगुण अधिक स्निग्ध के साथ, द्विगुणादि से अधिक स्निग्ध का एक गुण स्निग्ध के साथ, रूक्ष का भी द्विगुणादि अधिक रूक्ष के साथ, द्विगुण आदि से अधिक रूक्ष का एक गुण रूक्ष के साथ बंध होता है। एकादि गुण से अधिक ऐसे दो सदृश परमाणुओं का बंध नहीं होता। यहाँ तु शब्द व्यावृत्ति और विशेषण के अर्थ में है, प्रतिषेध (i) का व्यावर्तन करता है और बंध (ii) को विशेष करता है।

वि. (i) 'न जघन्यगुणानाम् ५-३३' सूत्र से 'न' का अधिकार चालू था, उस अधिकार की निवृत्ति 'तु' शब्द से हुई। ब

(ii) 'बंध' होता है इस प्रकार विशेष अर्थ 'तु' शब्द द्योतित करता है।

आ. यहाँ शिष्य पूछता है - परमाणु और स्कंधों में जो स्पर्शादि गुण हैं, वे क्या व्यवस्थित हैं या अव्यवस्थित हैं? यहाँ कहते हैं - अव्यवस्थित हैं। ~~कैसे~~ कैसे? परिणमन होने से। यहाँ शिष्य पूछता है - बंधाते हुए दो परमाणु का परिणाम गुणवत्त्व होने पर कैसे होता है? कहते हैं -

सू. बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ ५-३६॥

अ. बंध होने पर सम गुण वाला और अधिक गुण वाला परमाणु पारिणामिक होता है।

आ. बंध होने पर समगुण वाले का समगुण वाला परमाणु पारिणामिक होता है और हीन गुण वाले का अधिक गुण वाला परमाणु पारिणामिक होता है।

आ. यहाँ शिष्य पूछता है - आपके द्वारा कहा गया - द्रव्याणि जीवाश्च (५-२)। तो क्या द्रव्यों की प्रसिद्धि उद्देश (निर्देश मात्र) से ही है अथवा लक्षण से भी है? यहाँ कहते हैं - लक्षण से भी प्रसिद्धि है, वह (लक्षण) कहा जाता है -

DATE ___/___/___

सू. गुणपर्ययवद् द्रव्यम् 5-37॥

अ. गुण और पर्यय वाला द्रव्य है।

भा. गुणों को लक्षण से हम कहेंगे (सू. 40)। अन्य भाव और अन्य संज्ञा पर्यय होती हैं। वे दोनों जिसमें रहते हों वह द्रव्य। गुणपर्यायाः अस्य सन्ति अस्मिन् वा इति गुणपर्ययवत्।

वी. (i) भावाद् अन्यः भावः इति भावान्तरम्। भाव यानि अर्थविशेष। समभिरूढनय के अभिप्राय से जो इन्दन, शकन, पूदरण आदि अर्थ विशेष, वे ही भावभेद।
संज्ञान्तर यानि अन्य संज्ञा, इन्द्र, शक्र, पुरन्दर आदि।
(ii) सहभुवः गुणाः, क्रमभुवः पर्यायाः।

→ अ.- 5. आपके द्वारा काल के उपकार कहे गए किंतु काल द्रव्य तो कहा नहीं गया। अतः क्या काल द्रव्य है अथवा नहीं है। उ.-

सू. कालश्चेत्येके 5-38॥

अ. कुछ आचार्य कहते हैं- काल भी द्रव्य है।

सू. सोऽनन्तसमयः 5-39॥

अ. वह काल अनन्तसमय वाला है। उसमें वर्तमान समय एक ही है, अतीत और अनागत का अनन्तपन है।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है- आपके द्वारा कहा गया- 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम् 5-37', उसमें गुण कौन हैं? यहाँ कहते हैं-

सू. द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः 5-40॥

अ. द्रव्य के आश्रय वाले तथा स्वयं गुण से रहित ऐसे गुण होते हैं।

वी. (i) आश्रय यहाँ आधार-आधेय लक्षण वाला नहीं है, परिणामिपरिणाम संबंध है अर्थात् द्रव्य परिणमित होता है और ये गुण-पर्यय परिणामविशेष हैं।

भा. द्रव्य है आश्रय जिनका, वे द्रव्याश्रय। गुण नहीं हैं जिनके, वे निर्गुण।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है- आपके द्वारा कहा गया- 'अन्ये समाधिकौ पारिणामिकौ 5-36'

उसमें परिणाम क्या है? यहाँ कहते हैं-

सू. तद्भावः परिणामः ५-४१॥

स. द्रव्यों का भाव परिणाम है, (भाव अर्थात् स्वरूप)।

भा. धर्मादि द्रव्यों का और यथोक्त गुणों का स्वभाव, स्वतत्त्व, स्वरूप परिणाम है।

दी (i) द्रव्यों, गुणों की अन्य अवस्था की प्राप्ति ही परिणाम है। द्रव्य अथवा गुण स्वयं के स्वरूप को न छोड़ते हुए अन्य अवस्था को प्राप्त करते हैं, उसे परिणाम कहा जाता है। eg. आत्मा ज्ञान-दर्शन के उपयोग से अथवा नारकादि गतियों में अन्य-अन्य अवस्था को प्राप्त करती है, उसमें आत्म द्रव्य यथावत् स्थिर रहता है, यह द्रव्य का परिणाम है। इसी प्रकार शुक्ल रूप शुक्ल से कृष्ण में परिणमता है किन्तु सामान्य रूप तो यथावत् रहता है, यह गुण का परिणाम है।

भा. वह परिणाम २ प्र. का है-

सू. अनादिरादिमांश्च ५-४२॥

अ. वह परिणाम २ प्र.- अनादि और आदिमान्।

भा. उसमें अरूपी ऐसे (i) धर्म- अधर्म- आकाश और जीवों में अनादि परिणाम है।

दी (i) अरूपित्व, अगुरुलघु, असंख्य प्रदेशत्व। अनन्त प्रदेशत्व, अपेक्षा/निमित्तकारणत्व, जीवत्व-भव्यत्व-अभव्यत्वादि परिणाम उन-उन द्रव्यों के अनादि समझना।

सू. रूपिष्वादिमान् ५-४३॥

अ. रूपी द्रव्य में आदि वाला परिणाम होता है।

भा. रूपी द्रव्यों में (i) तो परिणाम अनेक (ii) प्रकार का और (iii) आदिमान् होता है। (iv)

दी (i) तु शब्द 'अनादि परिणाम' पद के समुच्चय (स्पर्शादि) अर्थ में है। पुद्गल में द्रव्यत्व, पुद्गलत्व, मूर्त्तत्व, सत्त्वादि अनादि परिणाम भी होते हैं।

(ii) द्व्यणुक, त्र्यणुकादि से अनंत तक।

(iii) दो अणु के बंध से द्व्यणुक उत्पन्न हुआ वह आदि, इस प्रकार आदिमान् परिणाम।

(iv) सभी द्रव्यों में कुछ परिणाम अनादि और कुछ ~~जन्म~~ आदि होते हैं। जैसे- किसी ने गति

DATE ___/___/___

की तो उसमें गतिमत्व उत्पन्न हुआ, धर्मद्रव्य में भी गतिउपग्राहकत्व उत्पन्न हुआ इत्यादि। यहाँ सूत्रकार ने विकल्प दिखाने के लिए इस प्रकार सूत्रन्यास किया है।
इस प्रकार के परिणाम को जीव में दिखाने के लिए सूत्र -

सू. योगोपयोगौ जीवेषु 5-44॥

अ. जीवों में योग और उपयोग परिणाम आदि वाले हैं।

भा. जीव अरूपि होने पर भी योग और उपयोग परिणाम आदिमान् होते हैं। वह (योग) 15 भेद वाला है (सू. 2-26 की टीका में Pg. 46, 45 पर)। वह (उपयोग) 12 प्र. वाला है। उसमें पहले कहा गया (सू. 2-8/9)। योग आगे कहा जाएगा (सू. 6-1)

इति श्री तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसङ्ग्रहे पञ्चमोऽध्यायः।

षष्ठोऽध्यायः

भा. यहाँ शिष्य पूछता है - जीव - अजीव कहे गए। अब आस्रव क्या है? इस प्रकार आस्रव की प्रसिद्धि के लिए यह कहते हैं -

सू. कायवाङ्मनः कर्म योगः 6-1॥

अ. काया, वचन और मन का व्यापार योग कहा जाता है।

भा. (i) (ii) काया में होने वाला कर्म, वचन में होने वाला कर्म, मन में होने वाला कर्म, (iii) इस प्रकार ये तीन प्रकार वाला योग है।

टी. (i) काये भवं कायिकं अथवा कायः प्रयोजनं अस्य कायिक। इत्यादि।

(ii) भावार्थ - शरीर रूप करण/साधन से आत्मा का जो वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला पर्याय, वह काय योग। इस प्रकार भाषा वर्गणा के संबंध से होने वाली वीर्य की परिणति, वह वचन योग। एवं मनोयोग। यहाँ भाषा वर्गणा के पुद्गल सत्यादि 4 भेद वाले नहीं होते किन्तु आत्मा का ज्ञान ही चार भेद वाला होता है, वचन में 4 भेद उपचार से कहे जाते हैं।

(iii) कायादि तीनों एक साथ मिलकर योग नहीं होते, तीनों स्वतंत्र योग हैं, यह बताने के लिए भाष्यकार ने तीनों पद अलग किए।

भा. काया और आत्म के प्रदेश के परिणाम जो गमनादि क्रिया के हेतु हैं, वह (i) काय योग। भाषा के योग्य पुद्गल से आत्म प्रदेश के परिणाम (ii) वचन योग। मन के योग्य पुद्गल से होने वाला आत्म प्रदेश का परिणाम (iii) मनोयोग।

(i) 7 भे.- (a) औदारिक काय योग - औदारिक काया के संबंध से होने वाला क्रिया का परिणाम। तिर्यंच-मनुष्यों को तथा केवलीसमुद्घात में 1 और 8वें समय में।

(b) औदारिकमिश्र योग - औदारिक और कार्मण शरीर के संबंध से उत्पन्न व्यापार। यहाँ औदारिक की मुख्यता होने 'औदारिक' संज्ञा साक्षात् रखी एवं कार्मण को 'मिश्र' पद से कहा। केवलिसमुद्घात में 2, 6 और 7वें समय में।

(c) वैक्रिय काय योग - विविध प्रकार की क्रिया का कारण ऐसे वैक्रिय शरीर का योग। नारक-देव एवं लब्धि वाले तिर्यंच-मनुष्यों में।

(d) वैक्रियमिश्र योग - वैक्रिय और औदारिक काया के सहचार वाला योग। लब्धि वाले तिर्यंच-मनुष्य जब वैक्रिय पुद्गल ग्रहण करते हैं तब।

(e) आहारक काय योग - ऋद्धि प्राप्त मुनि को आहारक काया का योग।

(f) आहारक मिश्र योग - मुनि जब आहारक पुद्गलों का ग्रहण करते हैं तब।

(g) कार्मण काय योग - कार्मण शरीर का व्यापार। विग्रह गति में और केवलिसमुद्घात में 3, 4, 5वें समय में।

तैजस शरीर का आहार पाचनादि व्यापार कार्मण काय योग में ही समाविष्ट है।

(ii) वचन योग 4 भे. - (a) सत्य = जो निश्चय और व्यवहार से सत्य है e.g. पाप से अटकना चाहिए।

(b) असत्य = सत्य का विपरीत। e.g. पाप-पुण्य कुछ होता ही नहीं है।

(c) सत्यासत्य = जिसमें सत्य-असत्य दोनों हो। e.g. ये गायें चरती हैं, वहाँ बैल भी हो सकते हैं।

(d) असत्यामृषा = जो सत्य भी नहीं है, असत्य भी नहीं है। e.g. 'त्वं गच्छ'।

(iii) वचन योग बिना मन योग नहीं होता, विचार शब्द बिना नहीं होते इसलिए मनो योग के भी यही 4 भेद।

भा. वह योग प्रत्येक 2 प्र. का है - शुभ और अशुभ। (i) उसमें हिंसा - (ii) स्तेय - अब्रह्मादि अशुभ कायिक योग। (iii) सावद्य - अनृत - परुष (कठोर) - पिशुन (चुगली) आदि का

DATE ___/___/___

अशुभ वाचिक योग। अभिध्या(iv) - व्यापाद - ईर्ष्या - असूयादि मानस अशुभ योग।

टि.

(i) प्र. क्रम का उल्लंघन क्यों किया? पहले शुभ बताकर प्रतिपादन अशुभ का क्यों किया?
उ. अशुभ सुनने से वैराग्य प्रगट होता है। वैराग्य से संविग्न हुआ श्रोता बाद में शुभ सुनने पर संसारानुबंधी शुभ योगों में फिसलता नहीं है।

(ii) हिंसादि के लक्षण 7-3।।9।। में कहे जाएँगे। वहाँ मन-वचन योग से निरपेक्ष मात्र काय योग की विवक्षा करना।

(iii) सावद्य - सत्य भी सावद्य वचन अशुभ है। eg. चोरों को मारो, हिंसक पशुओं को मारो।
अनृत - झूठ। eg. अचोर को चोर कहना।
परुष - कठोर वचन। eg. हे जात्य! तुझे धिक्कार हो।
पिशुन - प्रीति शून्यता होने से परोक्ष व्यक्ति के सत्य भी दोष कहना, चुगली।

(iv) अभिध्या - जीवों पर द्रोह का विचार। eg. इसके मरने पर हम सुखी रहें।
व्यापाद - उपाय सहित एक जीव को मारने का आरंभ। eg. इसका दुश्मन इसे मारने में समर्थ है अतः उसे इस पर गुस्सा कराऊँ (हारिभद्रीय टीका)।
ईर्ष्या - दूसरे के गुण, वैभवादि को सहन न करना। eg. यह स्त्री इसे पसंद है अतः इस स्त्री को इसका द्वेषी कैसे करूँ।
असूया - क्रोध विशेष। eg. यह राजपत्नी के साथ रत है तो भी स्वयं को शुद्ध वृत्ति वाला दिखाता है।

भा. इससे विपरीत शुभ योग होता है।

सू. स आस्रवः 6-2॥

स. ~~ये सब~~ वह योग आस्रव है।

भा. ~~वह~~ वो यह तीनों प्रकार का ही(i) योग आस्रव संज्ञा वाला है। शुभ और अशुभ कर्मों को ~~ग्र~~ ग्रहण करने से, वह योग आस्रव कहा जाता है। सरोवर के में पानी लाने और निकालने के स्रोत-मार्ग की तरह।

टि. (i) अपि समुच्चयार्थ में है। एक-एक योग भी और तीनों योग मिलकर भी आस्रव होते हैं।

सू. शुभ: पुण्यस्य 6-3॥

स. भा. शुभ योग पुण्य का आस्रव है।

सू. अशुभ: पापस्य 6-4॥

स. अशुभ योग पाप का आस्रव है।

भा. उनमें सद्वेद्य आदि पुण्य कहे जाएँगे। शेष पाप कहे जाएँगे।

टी. (i) 42 पुण्य ~~के~~ प्रकृति ⇒ साता वेदनीय, देव-मनुष्य-तिर्यंच आयु, उच्च गोत्र, पंचेन्द्रिय जाति, मनुष्य गति नाम कर्म, मनुष्यानुपूर्वी नाम कर्म, देव गति नाम, देवानुपूर्वी नाम, 5 शरीर, 3 अंगोपांग, प्रथम संघयण, प्रथम संस्थान, शुभ वर्ण-गंध-रस-स्पर्श, अगुरुलघुनाम, पराघात नाम, उच्छ्वास नाम, आतप नाम, उद्योत नाम, प्रशस्त विहायो गति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशकीर्ति, निर्माण, तीर्थंकर नाम।

(ii) 82 पाप प्रकृति ⇒ 5 ज्ञानावरण, 9 दर्शनावरण, असातावेदनीय, 26 मोहनीय की प्रकृति, (सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्र मोहनीय) नरकायु, नीच गोत्र, 5 अंतराय, नरक गति, नरकानुपूर्वी, 4 जाति, 5-5 संघयण-संस्थान, अप्रशस्त वर्ण-गंध-रस-स्पर्श, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयश कीर्ति, [तिर्यंचगतिनाम, तिर्यंचानुपूर्वी नाम]

सू. सकषायाकषाययो: साम्परायिकेर्यापथयो: 6-5॥

स. वह योग सकषाय और अकषाय ~~वाले~~ जीवों का क्रमश: सांपरायिक और ईर्यापथ कर्म का आस्रव होता है।

भा. वो यह तीनों प्रकार का योग सकषाय जीव और अकषाय जीवों का सांपरायिक और ईर्यापथ कर्म का आस्रव होता है। यथासंख्य और यथासंभव सकषाय को योग सांपरायिक के साथ है, अकषाय का योग एक समय की स्थिति वाले ईर्यापथ के साथ है।

(i) संपराय: प्रयोजनं अस्य सांपरायिक: आस्रव:। संपराय= संसार।

(ii) ईर्या = आगमानुसारिणी गति।

DATE __/__/____

सू: इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ६-६॥

अ. पूर्व यानि सांपरायिक आस्रव के ~~भेद~~ क्रमशः 5, 4, 5, 25 संख्या वाले इंद्रिय, कषाय, अव्रत, क्रिया भेद हैं।

भा. पूर्वस्य अर्थात् सांपरायिक को कहते हैं, सूत्रक्रम की प्रमाणता से। सांपरायिक के आस्रव भेद 5, 4, 5, 25 होते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह 5 अव्रत हैं। 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इत्यादि कहे जाएँगे (७-१३।१०।११।१२)। 4 क्रोध-मान-माया-लोभ अनन्तानुबंधी आदि कहे जाएँगे (8-10)। प्रमत्त जीव की 5 इंद्रियाँ। 25 क्रिया : उसमें ये क्रिया के निमित्त क्रमशः जानना। वह इस प्रकार- (i) सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-प्रयोग-समादान-ईर्यापथ, (ii) कोप-आधिकरण-प्रदोष-परितापन-प्राणातिपात, (iii) दर्शन-स्पर्शन-प्रत्यय-समन्तानुपात-अनाभोग, (iv) स्वहस्त-निसर्ग-विदारण-नयन-अनवकांक्षा, (v) आरंभ-परिग्रह-माया-मिथ्यादर्शन-अप्रत्याख्यान।

(i) ~~सम्यक्त्व~~-सम्यक्त्व के कारण वाली क्रिया, शुद्ध मोहनीय के दलिक अनुभवने रूप, प्रशम-संवेग-निर्वेद-अनुकंपा-आस्तिक्य लक्षण वाली श्रद्धा।

मिथ्यात्व- तत्त्वार्थ के अश्रद्धान के लक्षण वाली क्रिया। 3 भ.- आभिगृहीत, अनाभिगृहीत, संदेह। (a) आभिगृहीत - 363 कुवादि को। (b) अनाभिगृहीत- नहीं स्वीकारे देवता विशेष जिसने। (c) संदेह - प्रवचन में कहे किसी पद, अक्षर के अर्थ में संदेह होना- जरा भी श्रद्धा न होना।

प्रयोग= आत्मा में रहा मनवचादि का व्यापार। 3 योग से होने वाली पुद्गल ग्रहणादि रूप क्रिया।

समादान= तपस्वी को जो अपूर्व अपूर्व विरति प्रति आभिमुखता प्रगट होती है वह। (अभिग्रह लेना)

ईर्यापथ= ईर्यापथ कर्म के निमित्त वाली क्रिया।

(ii) कोप- 2 भ. (a) मिथ्यादृष्टि का पराभिभव में उद्यम (b) प्रमत्तसंयत की दुष्प्रयोग क्रिया।

आधिकरण- जिससे आत्मा दुर्गति प्रति अधिकार प्राप्त करे, वह आधिकरण/स्व विषयक क्रिया।

2 भ. (a) निर्वर्तन- हथियार बनाना (b) संयोजन- यंत्रों को जोड़ना। निर्वर्तन 2 भ. (a) मूल गुण- शरीर को मारने के लिये या मारना तलवार, शक्ति, मुद्गरादि बनाना (b) उत्तर गुण- हाथ-पैर को छेदने के लिये हथियार या बनाना साफ करनादि।

प्रदोष= द्वेष। प्रादोषिकी क्रिया - 2 भ. (a) जीव पर द्वेष- पुत्रकलत्रादि (b) अजीव पर- कौरे-कंकरादि।

परिताप- 2 भ. (a) स्व- पुत्रादि के वियोग से दुःखी जीव का सिर फोड़ना, स्वयं को मारना वि. स्व परिताप (b) पर परितापन- पुत्र कलत्र शिष्यादि को मारना।

प्राणातिपात- २प्र. ⓐ स्वप्राणातिपात - पर्वत से कूदना, अग्नि प्रवेशादि। ⓑ पर- मोह लोभ क्रोध से दूसरे की हत्या करना।

(iii) दर्शन- देखने की क्रिया। ⓐ जीव विषयक - राजा की सवारी, नट का नाच, मत्स्य - मेष - बैल का युद्धादि देखने में आदर ⓑ अजीव विषयक- देवकुल, सभा, बावड़ी, तालाब, Mercury आदि।

स्पर्शन- ⓐ जीव विषयक- स्त्री पुरुष नपुं के अंगस्पर्श की क्रिया। ⓑ अजीव विषयक- मृग के रोम, आदि का स्पर्श।

प्रत्यय- नए-नए अधिकरण रूप वस्तु को स्वबुद्धि से बनाना।

समन्तानुपात - स्त्री पुरुष नपुं पशु के संपात वाले देश में वस्तु परठवना। अथवा प्रमत्तसंयत के भक्तपान खुले रखे हो तब संपातिम जीवों का गिरना।

अनाभोग- अप्रत्यवेक्षित- अप्रमार्जित देश में शरीर या उपकरण का निक्षेप।

(iv) स्वहस्त - अभिमान से गुस्सा होकर अन्य पुरुष को हराकर वह काम स्वयं करना।

निसर्ग- बहुत काल से प्रवृत्त व्यक्ति को पाप कार्य में भाव से अनुज्ञा देना।

विदारण - दूसरे द्वारा आचरित अप्रकाशनीय आचरण को प्रकाशित करना।

आयन- स्वयं ले जाने की क्रिया करे या दूसरे के पास ले जवाये।

अनवकांक्षा- २प्र. ⓐ स्व - जिनोक्त कर्तव्य में प्रमाद से अनादर करना। ⓑ पर- जो दूसरे द्वारा अनादर कराता वह पुरुष दूसरे की अपेक्षा न रखे।

(v) आरंभ- पृथ्वीकायादि का उपघात।

परिग्रह- बहुत उपायों से कमाना, रक्षण करना, मूर्च्छा करना।

~~माया- मिथ्यात्व धु का अनुमोदन करने वाले की धर्म क्रिया।~~

माया- धर्म क्रिया में माया करने वाला।

मिथ्यादर्शन - मिथ्यात्व की अनुमोदना करने वाले की धर्म क्रिया।

अप्रत्याख्यान- कषायादि का प्रत्याख्यान नहीं करना।

सू. तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभाववीर्याधिकरणविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ६-७॥

अ. तीव्रभाव, मंदभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, वीर्य और अधिकरण के विशेष से कर्मबंध। आस्रव का विशेष होता है।

भा. इन ३७ साम्परायिक आस्रवों का तीव्रभाव - मंदभाव से, ज्ञातभाव - अज्ञातभाव से, वीर्यविशेष

DATE __/__/____

से और अधिकरण विशेष से विशेष होता है - लघु, लघुतर, लघुतम, तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम। आस्रव के विशेष से बंध विशेष होता है।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है - तीव्रमन्दादि भाव तो क्त प्रतीत हैं। और वीर्य जीव का क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक भाव है इस प्रकार कहा गया (2-4)। अब अधिकरण क्या होता है? यहाँ कहते हैं -

सू. अधिकरणं जीवाजीवा: 6-8॥

स. अधिकरण 2 प्र. - जीव और अजीव हैं।

भा. अधिकरण 2 प्र. - द्रव्य अधिकरण और भाव अधिकरण। उसमें द्रव्य अधिकरण छेदन-भेदनादि क्रिया है और 10 प्र. के (i) शस्त्र हैं। भाव (ii) अधिकरण 108 प्र. का है। ये दोनों जीव और अजीव अधिकरण हैं।

टि. (i) शस्त्र, अग्नि, विष, स्नेह, अम्ल, क्षार, (लवणादि), दुष्प्रयुक्त भाव, वचन, काया, अविरति।
(ii) भाव = आत्मा के परिणाम। (जीवाधिकरण)

→ अब - भाव अधिकरण के 108 प्र. -

सू. आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः 6-9॥

अ. आद्य यानि जीवाधिकरण, संरम्भ, समारंभ और आरंभ 3, योग 3, कृत-कारित-अनुमत 3, कषाय 4, इन प्रत्येक के संयोग से 108 भेद बताया है।

भा. आद्य यानि सूत्रक्रम के प्रामाण्य से जीवाधिकरण कहते हैं। वह संक्षेप से 3 प्र. का है - संरम्भ, समारंभ, आरंभ। ये पुनः प्रत्येक काय-वचन-मन के भेद से 3 प्र. के हैं, वह इस प्रकार - काय संरंभ, वाक्संरंभ, मनसंरंभ, कायसमारंभ, वाक्समारंभ, मन समारंभ, कायारंभ, वागारंभ, मन आरंभ। वह भी प्रत्येक कृत-कारित-अनुमत के भेद से 3 प्र. है, वह इस प्रकार - कृतकायसंरंभ, कारितकायसंरंभ, अनुमतकायसंरंभ, कृतवाक्संरंभ, कारितवाक्संरंभ, अनुमतवाक्संरंभ, कृतमनसंरंभ, कारित मन संरंभ, अनुमत मनसंरंभ, इस प्रकार समारंभ और आरंभ भी। वह भी पुनः प्रत्येक कषाय के भेद से 4 प्र. है। वह इस प्रकार - क्रोधकृतकायसंरंभ, मानकृत काय संरंभ, मायाकृत काय संरंभ, लोभ कृत काय संरंभ, क्रोधकारितकाय संरंभ, मान कारित काय संरंभ, माया कारित काय संरंभ,

लोभकारित काय संरंभ, क्रोधानुमतकायसंरंभ, मानानुमतकाय संरंभ, मायानुमतकाय संरंभ, लोभानुमतकाय संरंभ। इस प्रकार वचन और मनोयोग से भी कहना। उसी प्रकार समारंभ और आरंभ भी। वह इस प्रकार जीवाधिकरण संक्षेप से प्रत्येक (संरंभ, समारंभ, आरंभ) 36 भेद वाला हुआ, तीनों मिलकर 108 भेद होते हैं।
(संरंभ= संकल्प। परितापन से समारंभ होता है। व्यापादन प्राणिवध आरंभ होता है, इससे 3प्र. का योग जानना)

→ अब- अजीव अधिकरण-

सू. निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्वि-चतु-द्वि-त्रि- भेदाः परं ८-१०॥

अ पर यानि अजीव अधिकरण निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग, निसर्ग के स्वरूप हैं। इनके क्रमशः 2, 4, 2, 3 भेद हैं।

भा पर यानि सूत्रक्रम के प्रामाण्य से अजीव अधिकरण कहते हैं। वह संक्षेप 4प्र. वाला है। वह इस प्रकार- निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग, निसर्ग। उसमें (i) निर्वर्तना अधिकरण दो प्र.- मूलगुण निर्वर्तना और उत्तरगुण निर्वर्तना अधिकरण। उसमें मूलगुण निर्वर्तना 5-शरीर और वचन, मन, श्वासोच्छ्वास हैं। उत्तरगुण निर्वर्तना काष्ठ-पुस्त-चित्रकर्मादि। निक्षेप अधिकरण 4प्र.- वह इस प्रकार- अप्रत्यवेक्षित निक्षेप अधिकरण, दुष्प्रमार्जित निक्षेपाधिकरण, सहसा(ii) निक्षेपाधिकरण, अनाभोग(iii) निक्षेपाधिकरण। संयोग अधिकरण 2प्र.- भक्तपानसंयोजना अधिकरण और उपकरण संयोजना अधिकरण। निसर्ग(iv) अधिकरण 3प्र.- काय निसर्गाधिकरण, वचन निसर्ग अधिकरण, मनो निसर्गाधिकरण।

भावार्थ- निर्वर्तना यानि रचना। ऐसी रचना जो कर्मबंध का अधिकरण बने।
(i)
(ii) शक्ति अभाव से अचानक अप्रत्यवेक्षित या दुष्प्रमार्जित भूमि पर निक्षेप।
(iii) अनाभोग= अत्यंत विस्मृति। अप्रत्यवेक्षित या दुष्प्रमार्जित भूमि पर निक्षेप नहीं करने की अत्यंत विस्मृति।
(iv) कायादि के बाह्य व्यापार की अपेक्षा इसे अजीव अधिकरण कहा है। जीव अधिकरण में आत्मा के कंपन स्वरूप अन्तः परिणाम होता है।

आ यहाँ शिष्य पूछता है- आपके द्वारा कहा गया- सांपरायिकस्य सकषायाकषाययोः सांपरायिकस्य कषायोदयः,

6-5 ।। और सांपरायिक आस्रव 39 का कहा जाएगा (6-26)। तो क्या सभी कर्म का आस्रव समान है अथवा कोई प्रतिविशेष है। यहाँ कहते हैं- योगत्व सामान्य होने पर भी प्रकृति को प्राप्त कर आस्रव का विशेष होता है। वह इस प्रकार-

(i) ज्ञातार्थ- योग से इकट्ठे किए हुए कर्म का, आस्रवभेद होने से, 39 का परिणाम होता है।

सू. तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः 6-11॥

अ.भा. ज्ञान का, ज्ञानवालों का और ज्ञान के साधनों का (i) प्रदोष, (ii) निह्नव, (iii) मात्सर्य, (iv) अन्तराय, (v) आसादन, (vi) उपघात इस प्रकार ज्ञानावरण के आस्रव होते हैं। इनके द्वारा ज्ञानावरण कर्म बंधे जाते हैं। इस (vii) प्रकार ही दर्शनावरण कर्म के आस्रव हैं।

वि. (i) प्रदोष- प्रकृष्ट द्वेष। 'क्रिया रहित ज्ञान से क्या?' इस प्रकार ज्ञान का द्वेष, 'ज्ञानी तो परलोक की ईर्ष्या वाले हैं', यह ज्ञानी का द्वेष, 'शास्त्र में तो एक ही पाठ बार-बार आते हैं' इस्सा यह साधन का द्वेष।

(ii) निह्नव- वाचनाचार्य की निंदा या स्वयं के ज्ञान को छुपाना।

(iii) मात्सर्य- 'मेरे जैसा कोई न बने' ऐसी ईर्ष्या।

(iv) अंतराय- श्रवणादि में विघ्न करना।

(v) आशातना- अविधि आदि से ग्रहण करना वि। ज्ञान-ज्ञानी-साधन अनादर।

(vi) उपघात- मतिमोह से आहारादि न देकर ज्ञान-ज्ञानी का नाश।

(vii) दर्शन = श्रद्धा, दर्शनी = आचार्यादि, साधन = ग्रंथ-मोंदीरादि, ज्ञान की जगह इतना बोलना।

सू. दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य 6-12॥

अ.भा. (i) दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, परिदेवन, इस प्रकार ये आत्मा में रहे हुए, दूसरे को किए जाते, और स्व-पर दोनों को किए जाते असातावेदनीय के आस्रव हैं।

वि. (i) दुःख- शारीरिक पीड़ा। शोक- मानसिक पीड़ा। ताप- देह में होने वाली पीड़ा विशेष। आक्रन्दन- रोना। वध- चाबुकादि मारना। परिदेवन- चित्त नाश से बार-बार रोना। (हारिभद्रीय टीका)

(ii) शोक- उपकारक का संबंध टूटने से होती विकलता। ताप- निंदा वि. से मन खिन्न होने पर होता तीव्र संताप। (सर्वार्थ सिद्धि)

सू. भूतव्रत्यनुकम्पा दानं सरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य 6-13॥

अ. सर्व जीवों पर अनुकंपा, अगारी और अनागारी व्रतियों पर विशेष अनुकंपा, दान, सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा, बालतप, योग(i), क्षान्ति, शौच(ii) इस प्रकार सद्वेदनीय के आस्रव हैं।

टि. (i) लौकिक निरवद्य अनुष्ठान।

(ii) लोभ का संतोष रूपी पानी से प्रक्षालन।

सू. केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य 6-14॥

अ. परम ऋषि ऐसे केवली भगवंत का, अर्हत् द्वारा कहे गए सांगोपांग श्रुत का, चातुर्वर्ण संघ का, पञ्च महाव्रत के साधन रूप धर्म का और 4 प्र. के देवों का अवर्णवाद दर्शन मोह का आस्रव है।

सू. कषायोदयात् तीव्रात्मपरिणामश्चारित्रमोहस्य 6-15॥

अ. कषाय के उदय से तीव्र ऐसा आत्मपरिणाम चारित्र-मोह का आस्रव है।(i)

टि. (i) ये आस्रव सामान्य से कहे। विशेष से-

(a) स्त्रीवेद- शब्दादि विषयों में आसक्ति, ईर्ष्या, झूठ, वक्रता, परस्त्री में रति।

(b) पुरुषवेद- सरलता, कषायों की मंदता, स्वस्त्री में रति, अनीर्ष्या।

(c) नपुंसकवेद- तीव्र क्रोधादि से पशुओं का बंध, अनंग सेवनशीलता, शीलधारण करने वाली मिथ्याधर्म वाली स्त्रियों के साथ व्यभिचार करना, विषयों की तीव्रासक्ति।

(d) हास्य- अट्टहास्य, दीनता, काम पूर्वक हँसना, बहुत बोलना, हँसने का स्वभाव।

(e) शोक- शोक करना, दूसरे के दुःख में दुःखी या सुखी होना।

(f) रति- विविध प्रकार से, सर्व प्रकार से क्रीड़ा करना, दूसरे को प्रसन्न करना, खेलना, देशादि देखने की उत्सुकता।

(g) अरति- एक स्वामी या एक राजा होने पर दूसरा राजा बजाना, दूसरे की रति का नाश करना, पाप करने का स्वभाव, पाप क्रिया में प्रेरणा करना, असूया।

(h) भय- भयभीत रहना, दूसरे का पराभव करना, निर्दयता, त्रास देना।

(i) जुगुप्सा- सद्धर्म में लोगों की निंदा- जुगुप्सा।

DATE ___/___/___

परम धार्मिक साधुओं की गर्हा, दोष देखने से, दूसरे को कषाय-नोकषाय की उदीरणा करने से चारित्र मोह बंधता है।

सू. बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः 6-16॥
भा. बहु आरंभता और बहुपरिग्रहता नारक के आयुष्य के आस्रव हैं।
वि. (i) च शब्द से आरंभ और परिग्रह का समुच्चय। कोई कहते हैं च शब्द से 'तीव्रात्मपरिणाम' का अधिकार लिया है।

सू. माया तैर्यग्योनस्य 6-17॥
भा. माया तिर्यंच योनि के आयु का आस्रव है।
वि. (i) अधर्म देशना, नील-कापोत लेश्या परिणाम, अप्रत्याख्यानीय कषायादि, आर्तध्यान भी तिर्यंचायु के आस्रव हैं किंतु यहाँ 'माया' मुख्य है।

सू. अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य 6-18॥
भा. (i) अल्पारंभ, (ii) अल्पपरिग्रह, (iii) स्वाभाविक मार्दव, (iv) ऋजुता मनुष्यायु के आस्रव हैं। (v)
वि. (i) अल्प प्राणातिपातादि।
(ii) अल्प इच्छा अथवा अल्प राग
(iii) जाति-कुल-रूप-बल-लाभ-बुद्धि-वाक्चातुर्यक-श्रुत में स्वभाव से ही अल्प अभिमान।
(iv) मन-वचन-काया के विषय की वक्रता त्याग।
(v) च शब्द से प्रज्ञापनीयता, कापोत लेश्या परिणाम, धर्मध्यान, गुरु-देव पूजादि।

सू. निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् 6-19॥
भा. (i) निःशीलव्रत पन नारक-तिर्यंच-मनुष्य सभी के आयु का आस्रव है। च शब्द से यथोक्त भी।
वि. (i) शील = उत्तरगुण। उत्तरगुण से रहितपन। व्रत = मूलगुण।
भा. अब देवायु के क्या आस्रव हैं? यहाँ कहते हैं-

सू. सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि देवस्य 6-20॥

भा. सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा, बाल तप देवायु के आस्रव हैं।

भा. संयम, विरति, व्रत इस प्रकार एकार्थक शब्द हैं। हिंसा, झूठ, स्तेय, अब्रह्म, परिग्रह से विरति (अटकना) व्रत होता है, इस प्रकार कहा जाएगा (7-1)। संयमासंयम, देश-विरति, अणुव्रत इस प्रकार एकार्थक हैं। 'देशसर्वतोऽणुमहती' इस प्रकार भी कहा जाएगा (7-2)। अकामनिर्जरा अर्थात् (i) पराधीनता से और अनुरोध से अकुशल की निवृत्ति और आहारादि का निरोध।

भा. बालतप- बाल, मूढ़ (ii) इस प्रकार एकार्थक हैं। उस मूढ़ का तप, बालतप। वह अग्नि में प्रवेश, पर्वतादि से गिरना, जल में प्रवेशादि स्वरूप है। इस प्रकार वे सरागसंयम, संयमासंयमादि देव के आयुष्य के आस्रव हैं।

टी. (i) यहाँ क्रमशः लेना। पराधीनता से अकुशल की निवृत्ति और अनुरोध से आहारादि का निरोध। अकुशल यानि दौड़ना, कूदना, चढ़ना आदि, उसकी निवृत्ति यानि कोई बलवान द्वारा पकड़े जाने पर पराधीनता से भाग नहीं पाना। अनुरोध यानि दाक्षिण्यता, स्वजनादि की दाक्षिण्यता से उनके दुःख-संकट में स्वयं खान-पानत्याग

(ii) तत्त्व में सत्त्व का अभिनिवेश करने वाला।

भा. अब नाम कर्म के क्या आस्रव हैं? यहाँ कहते हैं-

सू. योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः 6-21॥

भा. काय-वचन-मन रूप (i) योगों की (ii) वक्रता और विसंवादन (iii) अशुभ (iv) नाम कर्म के आस्रव हैं। (v)

(i) वक्रता = माया। वक्रता स्वविषयक है

(ii) सम्यक् प्रतिपत्ति होने पर भी विपरीत बताना। विपरीत बताकर परस्पर स्नेहवाले पितापुत्रादि को लड़ाना। इस प्रकार विसंवादन पर विषयक है।

(iii) कूटसाक्षी, कूटमाप-तौल, पिशुन, मौखर्य, वशीकरण, परकुतूहलोत्पादन आदि भी अशुभ नाम कर्म के आस्रव हैं।

(iv) अशुभ नाम कर्म के उपभेद हैं।

DATE ___/___/___

सू: विपरीतं शुभस्य 6-22॥

भा. ये दोनों का विपरीत (i) शुभ (ii) नाम कर्म का आस्रव है।

(i) योगों की अवक्रता और वि-अविसंवादन।

(ii) शुभ नाम कर्म की 37 प्रकृति हैं।

भा. और दूसरा-

सू: दर्शनविशुद्धि र्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी सङ्घसाधुसमाधिवैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणि र्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकृत्त्वस्य 6-23॥

भा. प्रकृष्ट दर्शन विशुद्धि और (i) विनय संपन्नता। शील (ii) व्रतों में आत्यंतिक अप्रमाद, (iii) अनतिचार।

वि (i) विनय - 4 प्र. ज्ञान, दर्शन, चारित्र, उपचार। ज्ञान विनय - काल, विनय, बहुमान, उपधानादि। दर्शन विनय - निःशंक, निःकांक्षादि। चारित्र विनय - समिति-गुप्ति आदि। उपचार विनय - अभ्युत्थान, आसन दान, हाथ जोड़ना आदि। चारों प्रकार के विनय से संपन्न होना।

(ii) शील = पिंड विशुद्धि, समिति, भावना, प्रतिमा, अभिग्रहादि उत्तरगुण। व्रत = 5 महाव्रत + रात्रिभोजन विरति। इन दोनों में अत्यंत अप्रमाद, स्वीकारने से लेकर आयुक्षय तक।

प्रमाद 5 प्र. - निंदा, निद्रा, विकथा, इंद्रिय विषय, कषाय।

(iii) अनतिचार - सर्वज्ञ प्रणीत सिद्धांत अनुसार जरा भी अतिक्रमण न करे।

भा. ~~अभीक्ष्ण~~ (i) अभीक्ष्ण (ii) ज्ञानोपयोग और (iii) संवेग। (iv) यथाशक्ति त्याग और (v) तप। (vi)

वि (i) अभीक्ष्ण = बार-बार।

(ii) द्वादशांग प्रवचन रूप ज्ञान। उसमें बार-बार उपयोग देना, प्रणिधान करना अर्थात् वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा, धर्मोपदेश द्वारा बार-बार अभ्यास करना।

(iii) संसार पर वैराग्य। अनित्य- अशरण- अशुचि आदि के चिंतन से संसार के दुःख से भय का परिणाम।

(iv) यथाशक्ति यानि सत्त्व का उत्कर्ष। सत्त्व के उत्कर्ष पूर्वक त्याग और तप।

(v) त्याग यानि अनुग्रह के योग्य जीवों को अनुकंपा दान, साधुओं को सुपात्र दान।

(vi) तप - 12 प्रकार का आगे आएगा।

भा. संघ और साधुओं की (i) समाधि तथा (ii) वैयावृत्य करना। (iii) अरिहंतों में, आचार्यों में,

बहुश्रुतों पर और प्रवचन पर परम भाव[iv] की विशुद्धि से युक्त भक्ति[v]।

(i) ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप पुरुषार्थ से मोक्ष को साधने वाले साधु।

(ii) समाधि = समाधान, स्वस्थता, निरुपद्रवत्व।

(iii) व्यावृत = उनके कार्य-अनुष्ठान में प्रवण। व्यावृत्तस्य भावः वैयावृत्त्यम्। उन्हें प्रासुकाहार, उपधि, शय्या, भेषज, विश्रामणादि करना।

(iv) भाव = चित्त परिणाम। विशुद्धि = निर्मलता।

(v) सातिशय कीर्तन, वंदन, सेवा, प्रतिष्ठा-पूजा-प्रक्षालादि।

भा. सामायिकादि आवश्यक[i] अनुष्ठानों की भाव[ii] से अपरिहाणि[iii]। अहंकार छोड़कर सम्यग्दर्शन आदि मोक्षमार्ग की करण[iv] और उपदेश[v] से प्रभावना। अरिहंत भगवान् के शासन के अनुष्ठान करने वाले श्रुतधरों और बाल-वृद्ध-तपस्वी-शैक्षक-ग्लानादि का संग्रह[vi]-उपग्रह[vii]-अनुग्रह[viii] करना, वही प्रवचनवत्सलत्व।

(i) आवश्यक अनुष्ठान - 6 प्रकार का संयम, इच्छामिच्छादि सामाचारी वि.।

(ii) भाव से यानि एकाग्रमन से, उपयोग पूर्वक। यदि अनुपयोग पूर्वक क्रिया करे तो शुभ बंध या निर्जरा नहीं होते।

(iii) यथाविहित काल में सेवन, अन्यून, अनतिरिक्त वि. क्रा।

(iv) करण यानि स्वयं करना, श्रद्धा पूर्वक।

(v) मार्ग का, मार्ग के फलरूप ऐकान्तिक सुख का प्रकाशन।

(vi) संग्रह यानि संघानुष्ठान-श्रुताध्ययन, चोयण, ~~प्रतिचोयणा~~ के लिए उपसंपदा करनेवाले साधुओं का आत्मालोचना पूर्वक स्वीकार करना।

(vii) उपग्रह यानि वस्त्र-पात्र को प्राप्त करना, बहुत गुण वाले क्षेत्र में ~~जाकर~~ साधु को ले जाना।

(viii) अनुग्रह - ब गोचरी पानी वसति का दानादि।

भा. ये गुण समस्त अथवा व्यस्त तीर्थंकर नाम कर्म के आस्रव हैं।

सू. परात्मनिन्याप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य 6-24॥

भा. परनिंदा, आत्मप्रशंसा, पर के सद्गुण का आच्छादन, और स्व के असद्गुण का उद्भावन नीच गोत्र कर्म के आस्रव हैं।[ii]

(i) जाति-कुल-रूप-बलादि का मद।

DATE ___/___/___

सू. तद्विपर्ययौ नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य 6-25॥

अ. उत्तर यानि उच्चगोत्रकर्म के उससे विपरीत तथा नीचैर्वृत्ति और अनुत्सेक आस्रव है।

भा. उत्तर यानि सूत्रक्रम के प्रामाण्य से उच्चगोत्र को कहते हैं। नीचगोत्र के आस्रव का विपरीत, (ii) नीचैर्वृत्ति और (iii) अनुत्सेक उच्चगोत्र के आस्रव हैं।

टी. (i) परगुण प्रशंसा, आत्म निंदा, पर में सद्गुण प्रकाशन- असद्गुणाच्छादन और स्वयं में सद्गुणाच्छादन।

(ii) नीचैर्वृत्ति यानि नीचे रहकर वर्तन करना अर्थात् विनय मन-वचन-काया विनय से ओत-प्रोत रहना।

(iii) उत्सेक= गर्व, अहंकार। अनुत्सेक अर्थात् श्रुतजात्यादि का अहंकार नहीं करना।

सू. विघ्नकरणमन्तरायस्य 6-26॥

भा. दानादि (i) में विघ्नकरना अन्तराय कर्म का आस्रव है।

टी. (i) दान= विशिष्ट परिणाम पूर्वक खुद की वस्तु पर पर के स्वामित्व को स्थापना।

लाभ= कोई वस्तु की प्राप्ति।

भोग= मनोहारी शब्दादि विषयों का अनुभव।

उपभोग= अन्नपान-वस्त्र-स्त्र्यादि का सेवन।

वीर्य= विशिष्ट चेष्टा के लक्षण वाला आत्मपरिणाम।

भा. (ii) ये 8 प्रकार के सांपरायिक कर्मबंध के अलग-अलग आस्रव विशेष होते हैं।

टी. (i) 'तत्प्रदोषनिह्नव..' (6-11) से लेकर 'विघ्नकरण..' (6-26) तक।

इति श्रीतत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे षष्ठोऽध्यायः।

सप्तमोऽध्यायः

भा. यहाँ शिष्य पूछता है- साता वेदनीय के आस्रवों में आपके द्वारा कहा गया 'भूतव्रत्यनुकम्पा..(6-13)'। उसमें व्रत क्या है अथवा व्रती कौन है? यहाँ कहते हैं-

सू. हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ७-१॥

भा. हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह से अटकना व्रत है।

भा. हिंसा, अनृतवचन, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह से काय-वचन-मन द्वारा अटकना व्रत है। विरति, अर्थात् जानकर, श्रद्धा करके इनसे अटकना। उपरम, निवृत्ति, उपरम, विरति इस प्रकार एकार्थक हैं।

टि (i) ज्ञान और श्रद्धा पूर्वक ही चारित्र होता है।

सू. देशसर्वतोऽणुमहती ७-२॥

भा. इन हिंसादि से एक देश में विरति अणुव्रत और सर्व प्रकार से विरति महाव्रत है।

टि (i) स्थूलप्राणातिपात- स्थूल जीवों की हिंसा से विरति, सूक्ष्म की छूट अथवा संकल्प की छूट, आरंभ से विरति।

स्थूल मृषावाद- कूटसाक्षी आदि स्थूल से विरति, मर्म मर्म प्रयोगादि सूक्ष्म की छूट।

स्थूल अदत्तादान- हरणादि स्थूल से विरति, दूसरे को परेशान करने के लिए उसकी वस्तु छुपाना अथवा तृण जैसी छोटी वस्तु लेने स्वरूप सूक्ष्म की छूट।

स्थूल मैथुन- स्वदारा में संतोष, परपरिगृहीत का त्याग, अपरिगृहीत वेश्यादि की छूट।

स्थूल परिग्रह- इच्छापरिमाण की छूट, बाकी का त्याग।

(ii) इन महाव्रतों को मूलगुण कहा जाता है। ५-महाव्रत के साथ रात्रिभोजन विरमण व्रत भी मूलगुण है।

(iii) रात्रिभोजन विरति के कारण →

पूर्वपक्ष- उद्गमादि दोष से रहित और दिन में ग्रहण किए आहार को रात में खाने में दोष नहीं।

उत्तर- गृहीत आहार को उपाश्रय में लाकर थोड़ी विश्राम कर तुरंत ही वापरना चाहिए अन्यथा कालातिक्रांत दोष होता है।

पूर्वपक्ष- रात को ही होरने जाने और आहार करने के क्या दोष?

उत्तर- (a) ईर्यापथ की विशुद्धि न हो (b) दाता के गमनागमन का दोष (c) गीले हाथ-भाजनादि देख नहीं सकते (d) रात में चक्षु से देखे बिना वापरना पड़े।

पूर्वपक्ष- ज्योत्स्ना, रत्न अथवा दीपक के प्रकाश में वापरे तो।

उत्तर- दीपक में अग्निकाय का आरंभ, रत्न में मूर्च्छा-परिग्रह, ज्योत्स्ना तो कभी-कभी ही होती है

DATE ___/___/_____

तथा आगम में भी रात्रि भोजन का निषेध।

सू. तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥७-३॥

अ. उन व्रतों की स्थिरता के लिए 5-5 भावना प्रत्येक व्रत की होती है।

भा. उन 5 प्र. के व्रतों की स्थिरता के लिए प्रत्येक व्रत की 5-5 भावना होती है।

टी (i) यहाँ तत् शब्द से महाव्रत का अधिकार लेना। 'अणुव्रतों की वधबन्धादि' अतिचार के परिहार रूप भावना आगे कही जाएगी।

भा. वह इसके प्रकार- अहिंसा व्रत की (i) ईर्यासमिति, मनोगुप्ति, (ii) एषणा समिति, (iii) आदान निक्षेपण समिति, (iv) भात्पोकित पान भोजन।

टी (i) आर्तरौद्र ध्यान का अपचार और धर्मध्यान में उपयोग।

(ii) एषणा 3 प्र.- गवेषणा, ग्रहण, ग्रास। उसमें असमित मुनि को छहों काय की विराधना का दोष लगता है। अतः यहाँ सभी इन्द्रियों का उपयोग रखना।

(iii) औधिक - औपग्रहिक उपधि को लेने-रखने में प्रत्युपेक्षणा-प्रमार्जना।

(iv) उजाले वाले स्थान में पात्र में रहे पिंड को चक्षु आदि के उपयोग पूर्वक प्रत्यवेक्षणा कर वापरना।

भा. सत्य वचन व्रत की (i) अनुवीचि भाषण, क्रोध प्रत्याख्यान, लोभ प्रत्याख्यान, (अभय प्रत्याख्यान) अशीरुत्व हास्य प्रत्याख्यान।

टी (i) देखकर, विचारकर, समझकर बोलना।

भा. अस्तेय व्रत की (i) अनुवीचि अवग्रह याचन, (ii) अभीक्ष्ण अवग्रह याचन, (iii) इतना इस प्रकार अवग्रह अवधारण, समानधार्मिकों से अवग्रह याचन, (v) अनुज्ञापित पानभोजन।

टी (i) विचारकर अवग्रह की याचना करना चाहिए। वसति के स्वामी से याचना करना अन्य से नहीं।

(ii) पूर्व में त्यक्त्य अवग्रह में मल मूत्र त्याग अथवा हाथ-पैर-पात्र धोने के लिए बार-बार अवग्रह याचना।

(iii) वसति ग्रहण करते समय ही परिमाण का अवधारण करना, जिससे उस स्थान में कायोत्सर्गादि करने पर स्वामी को अड़चन न हो।

(iv) पान-भोजन शुद्ध जानकर गुरु द्वारा अनुज्ञा प्राप्त कर वापरे। उपलक्षण से उपधि भी लेना।

भा. ब्रह्मचर्य की स्त्री-(i) पशु-(ii) पंडक(iii) से संसक्त शयनासन का वर्जन, राग से युक्त स्त्री(iv) कथा का वर्जन, स्त्रियों की मनोहर इंद्रियाँ देखने का वर्जन, पूर्व क्रीड़ा का अनुस्मरण, प्रणीतरस भोजन का वर्जन।

(i) स्त्री - 2प्र. सचित्त, अचित्त। सचित्त स्त्री में देवी और मानुषी। अचित्तस्त्री में काष्ठ में खोतरी हुई, पुतली, चित्रादि।

(ii) पशु में घोड़ी, गधी, गाय, भैंस, बकरी, भेड़ आदि में मैथुन संभव है।

(iii) इनसे युक्त उपाश्रय, संथारा, आसनादि।

(iv) देश-जाति-कुल-वस्त्र-भाषा-गति-विलास-ईशारे-हास्य-लीला-कटाक्ष-प्रणय-कलह-शृंगारादि की कथा।

भा. आकिञ्चन्य(i) व्रत की 5 इंद्रियों के विषय स्पर्श-रस-गंध-वर्ण-शब्दों की मनोज्ञ प्राप्ति में गृद्धि का वर्जन, अमनोज्ञ की प्राप्ति में द्वेष वर्जन।

(i) किञ्चन = बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह।

→ अव.- सर्वव्रतों की सामान्य भावना-

सू. हिंसादिष्विहामुत्र चापायावद्यदर्शनम् 7-5॥

अ. हिंसादि पापों में इस लोक में अपाय दर्शन और परलोक में अवद्य दर्शन विचारे।

भा हिंसादि 5 आस्रवों में इस व्रत के विषय में इस लोक में अपाय दर्शन और परलोक में अवद्य दर्शन विचारे। वह इस प्रकार-

हिंसा- हिंसक जीव नित्य उद्वेग करने वाला और नित्य वैर से बंधा हुआ होता है, अतः इस लोक में ही वह वध-बंध-परिक्लेशादि को प्राप्त करता है और परलोक में अशुभ गति को प्राप्त करता है तथा गर्हित होता है इसलिए हिंसा से अटकना ही श्रेयस्कर है।

तथा झूठ बोलने वाला अश्रद्धेय होता है। यहाँ ही जिह्वाछेदादि को और मिथ्या वचन से दुःखी हुए जीव तथा बांधे हुए वैर वाले जीवों से जिह्वाछेद से भी अधिक दुःख के हेतुओं को प्राप्त करता है। और परलोक में अशुभ गति को प्राप्त करता है और गर्हित होता है इसलिए मिथ्या वचन से अटकना ही श्रेयस्कर है।

तथा चोर दूसरे के द्रव्य के हरण में आसक्त-चित्त वाला सभी को उद्वेग करने

DATE ___/___/___

वाला होता है। यहाँ ही वह अभिघात, वध, हाथ-पैर-कान-नाक-होठ के छेदन-भेद भेदन, सर्वस्वहरण, वध्यपान (मारकर खून पीना), मारणादि को प्राप्त करता है और परलोक में अशुभ गति को प्राप्त करता है और गर्हित होता है, इसलिए चोरी से अटकना ही श्रेयस्कर है।

तथा ब्रह्म विभ्रम से चलित मन वाला, तुच्छ विषयों में आसक्त इंद्रियों वाला, मद से अंध, हाथी जैसा निरंकुश अब्रह्मचारी सुख को प्राप्त नहीं करता। और कार्य-अकार्य को नहीं जानने वाला, मोह से अभिभूत वह, ऐसा कोई अकुशल कार्य नहीं है, जिसे वह प्रारंभ नहीं करता। व और यहीं परदारागमन से उत्पन्न व वैरपरम्परा-लिंगछेद-वध-बंध-द्रव्य अपहरणादि अपायों को प्राप्त करता है। और परलोक में अशुभ गति को प्राप्त करता है तथा गर्हित होता है इसलिए अब्रह्म से अटकना ही श्रेयस्कर है।

तथा मांसभक्षी अन्य पक्षियों को मांसपेशी है हाथ में जिसके ऐसा पक्षी शिकार होता है, इसी तरह परिग्रहवाला तस्करादि का शिकार होता है। और अर्जन-रक्षण-क्षय से उत्पन्न दोषों को प्राप्त करता है। ईंधन से अग्नि की तरह इसकी तृप्ति नहीं होती है और लोभ से ग्रस्त होने से वह कार्य-अकार्य की अपेक्षा रहित होता है। और परलोक में अशुभ गति को प्राप्त करता है। "यह लोभी है" इस प्रकार निंदित होता है इसलिए परिग्रह से अटकना ही श्रेयस्कर है। और दूसरा-

सू दुःखमेव वा 7-5॥

अ अथवा हिंसादि पापों में दुःख को ही विचारे।

भा अथवा हिंसादि विषयक दुःख को ही विचारे। जिस प्रकार दुःख मुझे अप्रिय है, इस प्रकार सभी जीवों को अप्रिय है, इस प्रकार हिंसा से अटकना ही श्रेयस्कर है। जिस प्रकार मिथ्यावचन से कहा हुआ मुझे पहले बहुत-तीव्र दुःख हुआ है और होता है इस उसी प्रकार सभी जीवों को, इस प्रकार मिथ्या वचन से अटकना ही श्रेयस्कर है। जिस प्रकार मुझे इष्ट द्रव्य के वियोग में पहले दुःख हुआ है और होता है उसी प्रकार सर्व जीवों को, इस प्रकार चोरी से

रुकना ही श्रेयस्कर है।
तथा मैथुन रागद्वेषात्मक होने से दुःख ही है। स्पर्श सुख तो है ना! वह सुख नहीं है। कैसे? खुजली के रोग से पुक्त की तरह अब्रह्मरूप व्याधि के प्रतीकार रूप होने से। इस असुख में मूढ को ही सुख का अभिमान होता है। वह इस प्रकार- चमड़ी-खून और मांस में रही तीव्र खुजली से परेशान आत्मा लकड़ी के पुंछे ~~का टुकड़ा~~, पत्थर, नाखून, मोतियों द्वारा छिले हुए शरीर वाला, खून से गीला, खुजली करता हुआ दुःख को ही सुख मानता है। उसी तरह मैथुन का सेवी भी, इस प्रकार मैथुन से अटकना ही श्रेयस्कर है।
तथा परिग्रह वाला अप्राप्त परिग्रह में कांक्षा से, प्राप्त में रक्षण से, नष्ट में शोक से उत्पन्न दुःख को ही ~~सुख~~ प्राप्त करता है इस प्रकार परिग्रह से अटकना ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार भावना करते हुए व्रती को व्रतों की स्थिरता होती है।

सू. मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु ७-६॥
अ. जीवों में मैत्री, गुणाधिक में प्रमोद, क्लिष्ट जीवों में कारुण्य और अविनेयोजीवों में माध्यस्थ भावना विचारना।
भा. क्रमशः विचारना चाहिए। सर्व जीवों में मैत्री भावना- मैं सर्व जीवों को क्षमा करता हूँ, सभी जीवों पर मेरी मैत्री है, किसी के साथ मेरा वैर नहीं है।
गुणाधिकों में प्रमोद भावना- प्रमोद अर्थात् विनय प्रयोग। वंदन-स्तुति-वर्णवाद-वैयावच्च करणादि से सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र-तप में अधिक ऐसे साधुओं में दूसरे या स्वयं, उभय द्वारा की हुई पूजा से उत्पन्न, सर्व इन्द्रियों से व्यक्त, मन का हर्ष।
क्लेश प्राप्त करते जीवों में कारुण्य- करुणता, अनुकंपा, दीन का अनुग्रह, इस प्रकार एकार्थक हैं। वह कारुण्य महामोह से अभिभूत, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभंगज्ञान की परिणति वाले, विषयों में तृष्णा रूपी अग्नि से अत्यंत जलते हुए मन वाले, हित की प्राप्ति और अहित के परिहार में विपरीत प्रवृत्ति वाले, विविधदुःखों से दुःखी, दीन-कृपण-अनाथ-बाल-भोले-वृद्ध जीवों में विचारे। इस प्रकार भावना करता हितोपदेशादि से उन पर अनुग्रह करे।

DATE ___/___/___

अविनेय जीवों में माध्यस्थ- माध्यस्थ, औदासीन्य, उपेक्षा इस प्रकार एकार्थक शब्द हैं।

टी. अविनेय अर्थात् (i) मिट्टी के पिंड और काल की दीवाल जैसे, (ii) ग्रहण-धारण-विज्ञान-ईहा-अपोह से रहित, महामोह से अभिभूत, दुष्ट आग्रह वाले। उनमें माध्यस्थ विचारे। उनमें वक्ता के हितोपदेश की सफलता नहीं होती है।

टी. (i) मिट्टी के पिंड जैसा निश्चेतन, मिट्टी हितोपदेश को भी ग्रहण नहीं करती, वैसे ये भी हित ग्रहण नहीं करते।

(ii) ग्रहण = हितोपदेश स्वीकारना।
धारण = ग्रहण किए हुए को नहीं भूलना।
विज्ञान = निश्चित विश्वास, अनुभव।
ईहा = तत्त्वान्वेषिणी जिज्ञासा।
अपोह = विचारणा के बाद दोष वाले पक्ष का त्याग।

भा. और दूसरा-

सू. जगत्कायस्वभावौ च संवेगवैराग्यार्थम् ७-७॥

स. जगत् और काया के स्वभावों को संवेग और वैराग्य के लिए विचारे।

भा. जगत् और काया के स्वभावों को संवेग-वैराग्य के लिए विचारे। उसमें जगत्स्वभाव- द्रव्यों का अनादि और आदिमान् परिणाम से युक्त (i) उद्भव-(ii) तिरोभाव-स्थिति-(iii) अन्यता-(iv) अनुग्रह-(v) विनाश।

टी. (i) तिरोभाव - वैस्रसिक विनाश।
(ii) अन्यता - सर्व द्रव्यों की परस्पर भिन्नता।
(iii) अनुग्रह - जीवों के परस्पर उपकार।
(iv) विनाश - प्रायोगिक विनाश।

भा. काय स्वभाव- अनित्यता, दुःखहेतुता, निःसारता, अशुचिता। इस प्रकार भावना करते हुए इस जीव को संवेग और वैराग्य होता है। उसमें संवेग अर्थात् संसारभीरुता, आरंभ और परिग्रहों में दोष दर्शन से अरति, धर्म और धार्मिकों में बहुमान, धर्मश्रवण और धार्मिक दर्शन में मन की प्रसन्नता, उत्तर-उत्तर गुण स्वीकारने में श्रद्धा।

DATE __/__/'15

वैराग्य यानि शरीर के भोग और संसार से निर्वेद, निर्वेद से उपशान्त हुए जीव का बाह्य-अभ्यंतर उपाधियों में अनभिष्वंग।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है- आपके द्वारा कहा गया 'हिंसादिभ्यो विरतिर्व्रतम् ७-१'। उसमें हिंसा क्या है? यहाँ कहते हैं-

सू. प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ७-८॥

अ. प्रमत्त जीव के योग से होने वाला प्राण व्यपरोपण हिंसा है।

भा. जो प्रमत्त[i] जीव काय-वचन-मनो योग[ii] से प्राणों[iii] का व्यपरोपण[iv] करता है,[v] वह हिंसा[vi] है। हिंसा, मारण, प्राणातिपात, प्राणवध, देहान्तरसंक्रमण, प्राण व्यपरोपण इस प्रकार एकार्थक हैं।

टि. (i) प्रमाद ५ प्र.- कषाय, विकथा, इंद्रिय, निद्रा, मद्य। कषायादि के निमित्त से होने वाला आत्म परिणाम प्रमाद है। प्रमाद से युक्त जीव प्रमत्त।

(ii) प्रमत्त जीव का जो व्यापार-चेष्टा वह योग।

(iii) १० प्राण- ५ इंद्रिय, आयुष्यकर्म, मन-वचन-काय, श्वासोच्छ्वास।

(iv) जीव को, आत्मा को द्रव्य प्राणों से अलग करना।

(v) प्रमत्त लिखने द्वारा ग्रंथकार यह दर्शाते हैं कि प्रमत्त जीव ही हिंसक है, अप्रमत्त हिंसक नहीं है। प्रमत्त जीव अवश्य ही हिंसक है।

(vi) हिंसा- द्रव्य और भाव। परमार्थ से आत्मा के परिणाम ही हिंसा-अहिंसा है। द्रव्य से वह जीव मरे या न मरे, वह आवश्यक नहीं है। यथा.

ⓐ कोई ज्ञानी, आत्मोपयोग वाले, श्रद्धालु, समिति-गुप्ति युक्त मुनि, मार्ग में कीड़ी पर पैर रखते हुए, पैर को पीछे खींचने में असमर्थ कीड़ी की हिंसा करते हैं। ~~किन्तु वह अहिंसा है।~~ यहाँ द्रव्य हिंसा, भाव अहिंसा।

ⓑ शिकारी ने शिकार पर बाण छोड़ा किन्तु शिकार बच गया। यहाँ द्रव्य अहिंसा, भाव हिंसा।

ⓒ शिकारी ने शिकार को मारा। यहाँ द्रव्य-भाव हिंसा।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है- अब अनृत क्या होती है? यहाँ कहते हैं-

DATE ___/___/___

सू. असदभिधानमनृतम् 7-9॥

अ. प्रमत्त योग से होने वाला असद् कथन अनृत है।

टी. असत् यानि अप्रशस्त, आप्त प्रणीत, निषिद्ध।

प्र. 1. यहाँ 'मिथ्या' या 'मृषा' पद का ग्रहण नहीं कर 'असत्' पद का ग्रहण क्यों किया।

उ. 'मृषा' पद से सिर्फ मृषावाद का ही ग्रहण होता किन्तु असत् पद से 3 प्रकार के वचन आते हैं। वे 3 प्र. भाष्य में बताते हैं -

भा. असद् यानि सद्भाव का प्रतिषेध, अर्थान्तर और गर्हा। उनमें सद्भाव प्रतिषेध अर्थात् सद्भूत अर्थ को छुपाना और असद्भूत अर्थ को प्रगट करना। वह इस प्रकार - आत्मा नहीं है, परलोक नहीं है इत्यादि भूत अर्थ को छुपाना; श्यामाक[i] तंदुल मात्र प्रमाण वाला यह आत्मा है, अंगुठे के पर्व जितना यह आत्मा है, आदित्य[ii] वर्ण वाला और निष्क्रिय[iii] यह आत्मा है[iv] इत्यादि असद् अर्थ का प्रगटीकरण।

टी. (i) श्यामाक = धान्य विशेष।

(ii) आदित्य वर्ण = भास्वर स्वरूप वाला।

(iii) आत्मा सर्व लोक में व्याप्त होने गमनागमन - वीक्षण - भोजनादि क्रिया रहित है। ये क्रियाएँ तो काय - मन - वचन से होती है।

(iv) इन सभी पक्षों का खंडन है।

भा. अर्थान्तर - जो गाय को घोड़ा और घोड़े को गाय कहता है।

गर्हा यानि हिंसा - परुषता - पैशुन्य आदि से युक्त सत्य वचन भी गर्हित ही होता है।

टी. (i) आदि शब्द से कटु, शठ, दंभ, संदिग्ध, अहित, अमित, विकथादि।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है - अब स्तेय क्या होता है? यहाँ कहते हैं -

सू. अदत्तादानं स्तेयम् 7-10॥

अ. नहीं दिया हुआ ग्रहण करना स्तेय है।

भा. चोरी की बुद्धि[i] से दूसरे के द्वारा नहीं दिए हुए अथवा दूसरे द्वारा परिगृह[ii] किए हुए तृणादि द्रव्यों का ग्रहण स्तेय है।

टी. (i) स्तेयबुद्धि प्रमत्त को होती है।

(ii) दूसरे द्वारा परिग्रह नहीं किया हुआ और शास्त्र द्वारा आज्ञा दिया हुआ द्रव्य ग्रहण करने में अदत्तादान नहीं है।

प्र. यहाँ शिष्य पूछता है- अब अब्रह्म क्या है? यहाँ कहते हैं-

सू. मैथुनमब्रह्म 7-11॥

अ. प्रमत्तयोग से मैथुन अब्रह्म होता है।

भा. स्त्री और पुरुष का मिथुनै भाव अथवा मिथुन कर्म अथवा मिथुन, वह अब्रह्म(ii)।

(i) मिथुन यानि युगल। ~~यह~~ युगल के २ भेद- दोनों सचेतन, एक सचेतन- एक अचेतन।
पहले विकल्प वेदोदय वाला पुरुष देव-मनुष्य-तिर्यंच स्त्री या नपुं. या पुरुष का स्वहस्तादि का संपर्क करे, इसी प्रकार स्त्री भी। द्वितीय विकल्प में पुरुष स्त्री की प्रतिमा-काष्ठादि अथवा चित्र अथवा मृतशरीर का संपर्क करे, इसी प्रकार स्त्री भी पुरुष की प्रतिमादि, काष्ठशलाकादि।
मैथुन द्रव्य से रूप में अथवा रूपसहगत द्रव्यों में। रूप अर्थात् अचेतन द्रव्य, रूप-सहगत अर्थात् रूप-शरीर के साथ रहे जीव द्रव्य।

(ii) असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण बड़ा होने से आत्मा ब्रह्म कहा है। मैथुन, अनुस्मृति संस्कार, स्पृहा, इंद्रियालोक, वृष्यरस (पुष्टिरस भोजन अथवा औषधी), विकथा, सत्कार (अब्रह्म प्रति आदर), संसक्त (स्त्री आदि से संसक्त वसति), सेवा (अब्रह्म सेवन) इन १० अब्रह्म का त्याग कर ब्रह्म- आत्मा में चरना, वह ब्रह्मचर्य।
यद्यपि अनुकूल होने से अब्रह्म दुस्त्यज्य है किन्तु अशुचि आदि भावना समूह से विवेक पूर्वक त्याग किया जाता है।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है- अब परिग्रह क्या होता है? यहाँ कहते हैं-

सू. मूर्च्छा परिग्रहः 7-12॥

अ. प्रमत्तयोग से मूर्च्छा परिग्रह होता है।

भा. चेतना वाले और अचेतन ऐसे ~~बाह्य~~(i) अभ्यन्तर(ii) द्रव्यों में मूर्च्छा(iii) परिग्रह है।
इच्छा, प्रार्थना, काम, अभिलाष, कांक्षा, गृद्धि, मूर्च्छा इस प्रकार एकार्थक है।

(i) बाह्य विषय- राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यादर्शन, हास्य, रति, अरति, भय,

DATE ___/___/___

शोक, जुगुप्सा, वेद।

(ii) बाह्य विषय - वास्तु, क्षेत्र, धन, धान्य, शय्या, आसन, यान, कुप्य, द्विपद, त्रिपद, चतुष्पद।

(iii) राग-द्वेष-मोह के मूल वाला लोभ का परिणाम ही मूर्च्छा है। वह प्रमत्त को ही होता है।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है - व्रतों को हम स्वीकारते हैं। अब व्रती कौन है? यहाँ कहते हैं -

सू. निःशल्यो व्रती ७-१३॥

अ. शल्य रहित व्रती होती है।

भा. माया-निदान-मिथ्यादर्शन ये 3 शल्यों से रहित निःशल्य व्रती होता है। व्रत होते हैं जिसे वह व्रती। इस प्रकार शल्य रहित व्रतवाला व्रती होता है।

सू. अगार्यनगारश्च ७-१४॥

अ. व्रती दो प्र. - अगारी और अनगार।

भा. वो यह व्रती दो प्रकार वाला होता है - अगारी (i) और अनगारी (ii), अर्थात् श्रावक (iii) और श्रमण (iv)।

(i) अगार होता है जिसे वह अगारी। अगार यानि आरंभ और परिग्रह।

अगारी 2 प्र. - (a) जिसने सम्यक्त्व के साथ अणुव्रत और उत्तरगुण स्वीकारे हो (b) मात्र सम्यग्दर्शन को धारण करने वाले।

अणुव्रत के स्वीकार के 6 भांगे - द्विविध-त्रिविध, द्विविध-द्विविध, द्विविध-एकविध, एकविध त्रिविध, एकविध-द्विविध, एकविध-एकविध। इस प्रकार 5 अणुव्रत के 5×6=30 भांगे। जिसने उत्तरगुण स्वीकारे उसे 31 भांगे, सम्यग्दर्शन स्वीकारे उसे 32 भांगे।

(ii) 2 प्र. अनगार - गच्छवासी और गच्छनिर्गत। गच्छवासी आचार्यादि 5 प्र., गच्छनिर्गत जिनकल्पी - परिहारविशुद्धि - प्रतिमा प्रतिपन्न इत्यादि। साध्वी प्रवर्तिनी आदि 5 प्र. सदा गच्छवासी ही।

इन भेदों में व्रत का भेद नहीं है किन्तु सामाचारी भेद तो बहुत है।

(iii) प्रतिदिवसं यतिभ्यः सकाशात् साधूनां ~~अस्माकीणां~~ अगारिणां च सामाचारीं शृणोति इति श्रावकः।

(iv) प्रव्रज्यादिवसादारभ्य गुरूपदेशात् स्वाध्यायादिकं श्राम्यति, तपश्चरति इति श्रमणः।
प्र. यहाँ शिष्य पूछता है- इन दोनों में क्या भेद है? यहाँ कहते हैं-

सू. अणुव्रतो ऽगारी 7-15॥
उ. अगारी अणुव्रत वाला होता है।
भा. अणु= स्थूल हैं व्रत जिसके वह अणुव्रत वाला। इस प्रकार अणुव्रत धारण करने वाला श्रावक अगारी होता है। और दूसरा-

सू. दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकपौषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभाग-व्रतसम्पन्नश्च 7-16॥
उ. (ii) दिग्, देश, अनर्थदंड-विरति, सामायिक, पौषधोपवास, उपभोग-परिभोग परिमाण, अतिथि संविभाग व्रत से सम्पन्न अगारी होता है।(iii)
प्र. (i) अगारी के 5 अणुव्रत का वर्णन-कर गुणव्रत और शिक्षाव्रत बताते हैं।
गुण्यन्ते=संख्यायन्ते इति गुणाः, जिनकी संख्या परिमित की जाए वे गुणव्रत। ये गुणव्रत अणुव्रत की तरह ही एकबार ग्रहण कर यावज्जीव पाले जाते हैं। गुण-व्रत 3 होते हैं- दिशापरिमाण, भोग-परिभोग परिमाण, अनर्थदंड विरति।
शिक्षा= अभ्यास। अभ्यास के पद= स्थान रूप व्रत, वे शिक्षापदव्रत। ये व्रत 4 होते हैं- सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास, अतिथि संविभाग। उनमें सामायिक और देशावकाशिक प्रतिदिन उच्चरित करते हैं। पौषधोपवास और अतिथि संविभाग निपत्त दिन, पर्वतिथि पर ही किए जाते हैं।
ये शिक्षाव्रत अणुव्रतों की दृढ़ता के लिए होते हैं।
(ii) च शब्द गुण-शिक्षाव्रत का अणुव्रतों के साथ समुच्चय करने के लिए।
भा. दिग्व्रतादि इन उत्तरव्रतों से संपन्न अगारी व्रती होता है।
उनमें दिग्व्रत यानि तिर्च्छी-ऊपर-नीचे दसों दिशाओं के गमन के परिमाण का यथाशक्ति अभिग्रह करना। उससे पर सर्वजीवों पर प्रयोजन से अथवा प्रयोजन बिना सर्वसावद्य योगों का निक्षेप होता है।
देशव्रत यानि अपघरक-गृह-ग्राम-सीमादि विषयक यथाशक्ति प्रविचार के लिए

DATE __/__/____

परिमाण का अभिग्रह करना। (iii) उससे पर सर्व सावद्य योग का निक्षेप होता है।

टी. (i) व्रत करने से त्याग- सावद्य योगों का निक्षेप यानि निरसन।

(ii) अपवरक यानि घर का एक देश।

(iii) दिग् और देश व्रत में क्या अंतर ? उ. दिग्व्रत गुणव्रत है अतः एकबार ग्रहण कर यावज्जीव पालना चाहिए और देसव्रत शिक्षाव्रत है अतः प्रतिदिन उच्चरना चाहिए। दिग् परिमाण तो यावज्जीव अनुसार बड़ा होता है, देशव्रत रोज़ दिग् परिमाण में भी संक्षेप करने के लिए है। प्र. यहाँ क्रम क्यों उल्टा है, आगम में तो पहले गुणव्रत फिर शिक्षाव्रत है? उ. उपरोक्त अंतर को स्पष्ट करने के लिए ही क्रमभेद किया है।

भा. अनर्थदंड- उपभोग (i) और परिभोग (ii) इस अगारी- व्रती के अर्थ (iii) हैं। उससे व्यतिरिक्त जो हो, वह अनर्थ। उस अनर्थ (iv) के लिए दंड, अनर्थदंड। उससे विरत होना व्रत है।

टी. (i) उपभोग = एक बार भोगने की वस्तु eg. आहारादि।

(ii) परिभोग = अनेक बार भोगने की वस्तु eg. वस्त्र-गंध-अलंकारादि)

(iii) अर्थ = प्रयोजन। प्रयोजन बिना की वस्तु = अनर्थ।

(iv) इस अर्थ से ~~ब~~ आत्मा को होने वाला दंड, वह अर्थदंड। अनर्थ के लिए आत्मा को होने वाला दंड अनर्थदंड।

भा. सामायिक यानि काल का अभिग्रह करके सर्व सावद्य योगों का त्याग।

भा. पौषध-उपवास यानि पौषध में उपवास। पौषध, पर्व इस प्रकार एकार्थक हैं। वह पर्व पौषध अष्टमी, चतुर्दशी, पूनम अथवा कोई अन्य तिथि को अभिग्रह कर चतुर्थादि उपवासी ~~द्वारा~~, छोड़ दिया है स्नान (i)-अनुलेपन-गंध-माल्य-अलंकार जिसने, जो है सर्व सावद्य योग जिसने, ~~कुश-संथारा-फलकादि में से कोई एक संथारा कर कायोत्सर्ग अथवा~~ और धर्म जागरिका में तत्पर श्रावक द्वारा कुश-संथारा-फलकादि में से कोई एक संथारा कर कायोत्सर्ग अथवा वीरासनादि अथवा निषद्या (सोते हुए) में से कोई एक स्थिति में रहकर अनुष्ठित किया जाता है।

टी. (i) स्नान= पानी से न्हाना। अनुलेपन= चंदन-कुंकुम-कस्तूरी आदि द्वारा।

भा. उपभोग-परिभोग व्रत यानि अशन-पान-खादिम-स्वादिम-गंध-माल्यादि का, आभरण-अलंकार-शयन-आसन-गृह-यान-वाहनादि का और बहु (ii) सावद्यों का वर्जन, अल्प सावद्यों का भी परिमाण करना।

हि. (i) बहु सावद्य यानि १८ कर्मादान।

प्रा. अतिथिसंविभाग यानि न्याय से प्राप्त, कल्पनीय अन्नपानादि द्रव्यों का उत्कृष्ट आत्मा के अनुग्रह की बुद्धि से देश-काल-श्रद्धा-सत्कार के क्रम से युक्त (ii) साधुओं को दान।

हि. देश = ~~छोड़~~ छोटे चावल, कोद्रव, गेहूँ आदि की निष्पत्ति करने वाला।

काल = सुभिक्ष - दुर्भिक्षादि।

श्रद्धा = पात्रादि की अपेक्षा वाला विशुद्ध ऐसा चित्त का परिणाम।

सत्कार = अभ्युत्थान - आसन - दान - वंदन - अनुव्रजनादि।

इनके क्रम से युक्त अर्थात् दान के लिए उन्हें विनंति करना, लेने जाना, देश-काल के योग्य ठहराना, फिर छोड़ने जाना।

(i) आत्मा अर्थात् स्वयं का अनुग्रह।

प्रा. और दूसरा-

सू. मारणान्तिकीं संलेखनां जोषिता ७-१७॥

अ. वह अगारी मरण काल के पास आने पर संलेखना करता है।

प्रा. काल-संघयण-दौर्बल्य-उपसर्ग के दोष से (i) धर्म और (ii) आवश्यक की परिहानि जथा मरण को नज़दीक जानकर, अणोदरी-चतुर्थ-षष्ठ-अष्टमभक्तादि से आत्मा को संलेखकर (iii) संयम स्वीकार कर, चारों प्रकार के आहार का यावज्जीव प्रत्याख्यान कर, उत्तमव्रतों से संपन्न, भावना (iv) और अनुप्रेक्षा में तत्पर, स्मृति (v) और समाधि की बहुलता वाला, मरण समय पर संलेखना करने वाला श्रावक उत्तम (vi) अर्थ का आराधक होता है।

हि. (i) धर्म - १० विध क्षमादि।

(ii) आवश्यक - साधु के लिए प्रत्युपेक्षणादि, गृहस्थ के लिए वंदन-वैयावच्च-पौषधादि।

(iii) शरीर में खून-चर्बी वि. को कम कर तथा आत्मा के कषायादि कम कर।

(iv) भावना - पूर्वोक्त ५ महाव्रत की भावना, मैत्र्यादि।

अनुप्रेक्षा - आगे कही जाने वाली अनित्यादि।

(v) स्मृति - गृहीत व्रत-नियमादि।

समाधि - चित्त की स्वस्थता

(vi) उत्तमार्थ= मोक्ष।
भा. ये दिग्व्रतादि शील होते हैं। 'निःशल्यो व्रती' (7-13) इस प्रकार वचन से कहा गया है कि व्रती हमेशा सम्यग्दृष्टि होता है। उसमें-

सू. शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः 7-18॥
अ सम्यग्दृष्टि के 5 अतिचार- शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा, संस्तव।
भा. शंका कांक्षा विचिकित्सा अन्यदृष्टिप्रशंसा संस्तव इस प्रकार ये 5 सम्यग्दृष्टि के अतिचार हैं। अतिचार, व्यतिक्रम, स्खलित इस प्रकार एकार्थक हैं।
जाने हैं जीव-अजीवादि तत्त्व जिसने, भगवन के शासन को भाव से स्वीकारने वाला, असंहार्यमति वाला, सम्यग्दृष्टि जीव का अरिहंत द्वारा कहे गए और केवलज्ञान-आगम से गम्य ऐसे अत्यंत सूक्ष्म अतीन्द्रिय अर्थों जो संदेह 'ऐसा होता है अथवा नहीं' ~~इस~~, वह शंका।
वि. (i) परकीय आगमों से जिसकी मति निंदित हो, हरण कर ली गई हो, वह संहार्यमति। ऐसी मति नहीं है जिसकी वह असंहार्यमति।
भा. ऐहलौकिक और पारलौकिक विषयों में आशंसा करना कांक्षा। वह सम्यग्दृष्टि का अतिचार है। कैसे? नाम कांक्षा करने वाला गुण-दोष विचारे बिना समय यानि सिद्धांत का अतिक्रमण करता है।
वि. (i) इहलोके भवा ऐहलौकिकाः विषयाः। ex. साधुओं को बौद्ध ने भक्तेश बिना का धर्म बताया है, वे स्नानानुलेपन-शयनादि सुख भोगते हैं, परिव्राजक-भौत-ब्राह्मणादि भी विषय सुखों को भोगते हुए परलोक में सुख प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार परलोक में समझना।
(ii) प्र. कांक्षा तो जीव तत्त्वों में श्रद्धा करते हुए ही करता है, अतः वह अतिचार कैसे?
(iii) भावार्थ- कांक्षा करने वाला जीव संसार के अनुबंध वाली चिंतन करता है, जो सिद्धांत में प्रतिषिद्ध है अतः उससे सम्यग्दर्शन में भी अतिचार लगता है।
भा. विचिकित्सा (i) अर्थात् 'ऐसा (ii) भी होता है' इस प्रकार की मति विप्लुति। (iii) (iv) (v)
वि. (i) भावार्थ- क्रिया के फल में संदेह करना। मुझे इस क्रिया का फल मिलेगा या नहीं।
(ii) 'ये क्रिया तो निष्फल भी होती है' जैसे किसान के बीज बोने की क्रिया कभी

निष्फल होती है - कभी सफल' इस प्रकार 'यह भी और यह भी' ऐसा संदेह।
(iii) मति का घूमना, कुछ निश्चय नहीं होना।
(iv) प्र. शंका और विचिकित्सा में अंतर क्या ? उ. शंका पदार्थ विषयक, विचिकित्सा क्रिया के फल विषयक।
(v) आगम में विचिकित्सा का अर्थ - साधु-साध्वी की निंदा-जुगुप्सा होता है।
भा. अन्य दृष्टि यानि अर्हत् शासन से व्यतिरिक्त दृष्टि। वह 2 प्र. - अभिगृहीत(i) और अनभिगृहीत(ii) करना। उनसे युक्त क्रियावादी(iii), अक्रियावादी, अज्ञानी और वैनयिकों की प्रशंसा(iv) और संस्तव(v) सम्यग्दृष्टि के अतिचार हैं।
(i) सांख्य, बौद्धादि
(ii) जो सभी धर्मों को समान माने।
(iii) क्रियावादी - आत्मा को अस्तित्वादि मानते हैं। इनके 180 भेद।
अक्रियावादी - आत्मा के अस्तित्व अस्तित्वादि नहीं मानते। इनके 84 भेद।
अज्ञानिक - मिथ्याज्ञान वाले। इनके 67 भेद।
वैनयिक - ये विनय मात्र को स्वीकारते हैं। इनके 32 भेद।
कुल 363 भेद। ये सभी अभिगृहीत मिथ्या वाले हैं।
(iv) प्रशंसा - वे पुण्यशाली हैं, उनका मार्ग अच्छा है, उनके आगम निर्दोष हैं इस प्रकार उनके समक्ष या परोक्ष प्रशंसा करना।
(v) संस्तव - संवसन - भोजन - आलाप आदि से परिचय।
भा. यहाँ शिष्य प्रश्न करता है - प्रशंसा - संस्तव में क्या भेद है। यहाँ कहते हैं - ज्ञान और दर्शन गुण के प्रकर्ष का भाव से प्रकाशन प्रशंसा। संस्तव तो सोपध(i) और निरुपध है अर्थात् सद्-असद् गुण का प्रकाशन।
टी. (i) उपधा = माया। सोपध = माया सहित, निरुपध = माया रहित। (हारिभद्रीय टीका)

सू. व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ 7-19 ॥
अ. व्रत और शील में क्रमशः 5-5 अतिचार होते हैं।
भा. 5 व्रतों में और 7 शीलों (उत्तरगुण) में क्रमशः 5-5 अतिचार होते हैं। हम आगे कहेंगे। वे वह इस प्रकार -

सू. बन्ध-वध-च्छविच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः 7-20॥

अ. स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत के अतिचार- बंध, वध, छविच्छेद, अतिभारारोपण, अन्नपान निरोध।

भा. त्रस और स्थावर जीवों का बंध और वध, काष्ठादि का त्वक्छेद, पुरुष-हाथी-अश्व-गाय-भैंसादि का अतिभार-आरोपण और उनका ही अन्नपान निरोध अहिंसाव्रत के अतिचार हैं।

सू. मिथ्योपदेश-रहस्याभ्याख्यान-कूटलेखक्रिया-न्यासापहार-साकारमन्त्रभेदाः 7-21॥

अ. स्थूल मृषावाद विरमण व्रत के अतिचार-मिथ्योपदेश, रहस्याभ्याख्यान, कूटलेख क्रिया, न्यासापहार, साकारमन्त्रभेद।

भा. ये मिथ्योपदेशादि ६ सत्यवचन के अतिचार होते हैं।
इनमें मिथ्योपदेश यानि (i) प्रमत्तवचन, अयथार्थवचनोपदेश, विवादों में (ii) अतिसंधान का उपदेश इत्यादि।

टी. (i) प्रमत्तवचन - पर को पीड़ा उत्पन्न करने वाला वचन।

(ii) अतिसंधान = छल कपट।

भा. रहस्याभ्याख्यान यानि स्त्री-पुरुष (i) का ~~अन्यत्र~~ परस्पर अथवा अन्य (ii) का हास्य-क्रीड़ा (iii)-आसंगादि से रहस्य का राग से संयुक्त कहना।

टी. (i) कोई दंपत्ति हो, उन्हें परस्पर एक-दूसरे के लिए झगड़ाना। जैसे- स्त्री को कहे कि तेरा पति तो अन्य स्त्री में आसक्त है इत्यादि।

(ii) अन्य का अर्थात् कोई भी पुरुषादि का। (iii) हास्य-क्रीड़ा के लिए ऐसा कहे।

भा. कूटलेख क्रिया लोक में प्रसिद्ध है। न्यासापहार यानि विस्मरण (i) किए हुए पर के निक्षेप का ग्रहण।

टी. (i) जो निक्षेप करने वाला है, वह भूल जाए कि कितने स्थापित किए थे, तो उसे कम देना।

भा. साकार (i) मंत्रभेद - पैशुन्य (ii) और गुह्यमंत्र भेद।

टी. (i) आकार यानि शरीर के अवयवों के साथ समवायी क्रिया अर्थात् Body language। उस आकार के साथ अविनाभाव वाला जो ~~मंत्र~~ अभिप्राय वह मंत्र, उसको प्रगट करना।

DATE / / 161

(iii) प्रीतिं शूनयति इति पिशुनः तस्य भावः पैशुन्यम्। दो लोगों में प्रीति हो तो उनमें आकारों से एक के अभिप्राय को जानकर दूसरे को इस प्रकार कहे, जैसे उनकी प्रीति-नाश हो।

सू. स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्धराज्यातिक्रम-हीनाधिकमानोन्मान-प्रतिरूपकव्यवहाराः 7-22॥

प्र. स्थूल अदत्तादान वि. व्रत के अतिचार- स्तेनप्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिक-मानोन्मान, प्रतिरूपकव्यवहार।

भा. ये ५ स्तेयव्रत के अतिचार हैं। उनमें स्तेन विषयक हिरण्यादि का प्रयोग करना- (i) स्तेन प्रयोग। चोरों द्वारा लाए हुए द्रव्य को मूल्य बिना अथवा खरीद कर ग्रहण करना- तदाहृतादान।

वि. (i) जैसे चोरों को प्रेरणा करना २५.- चोरी की प्रेरणा करना और ताले तोड़ने के उपकरण देना-सीखाना।

भा. विरुद्ध (ii) राज्यातिक्रम स्तेयव्रत का अतिचार है। विरुद्ध राज्य होने पर सभी ग्रहण स्तेय युक्त होता है।

वि. (i) दो राजा परस्पर विरुद्ध हो, उनके राज्य की व्यवस्था का उत्थंघन करना।

भा. हीनाधिक (i) मानोन्मान- कूट तराजू और कूट मान से ठगाई वि. से युक्त खरीदना, बेचना और (ii) वृद्धि प्रयोग।

वि. (i) मान - कुडवादि। उन्मान - तराजू आदि।

(ii) वृद्धि प्रयोग यानि ब्याज। ब्याज कम या ज्यादा लेना अथवा देना।

भा. प्रतिरूपक व्यवहार यानि सोने-चांदी आदि (ii) द्रव्यों की प्रतिरूप क्रिया और (iii) व्याजीकरण इस प्रकार ये ५ स्तेय व्रत के अतिचार हैं।

वि. (i) आदि-से घी तैल दूध वि.।

(ii) प्रतिरूप यानि नकली बनाना।

(iii) व्याजीकरण- यानि दूसरे के गाय-भैंस वि. अपहरण कर उनके सींग को गरम किए हुए कात्तिंगी (ककड़ी या तरबूज विशेष) के रस से इच्छानुसार मोड़ कर रखें, जिससे उनका मालिक पहचान न सके।

DATE ___/___/___

सू. परविवाहकरणेत्वरपरिगृहीतापरगृहीतागमनानङ्गक्रीडातीव्रकामाभिनिवेशाः ७-२३॥

अ. स्थूल मैथुन वि. व्रत के अतिचार- परविवाहकरण, इत्वर परिगृहीतागमन, अपरिगृहीतागमन, अनंगक्रीड़ा, तीव्रकामाभिनिवेश।

~~अ. परविवाहकरण, इत्वरपरिगृहीत~~

हि. (i) गृहस्थ का स्थूल मैथुन व्रत - २७. ⓐ स्वदारासन्तोष - स्वयं की स्त्री का ही सेवन करे, अन्य सभी का त्याग ⓑ परपरिगृहीतागमनत्याग - दूसरे द्वारा स्वीकारी हुई स्त्री का त्याग किन्तु दूसरे द्वारा नहीं स्वीकारी हुई ऐसी कुमारी, वेश्या आदि का सेवन करे। इन दोनों के अलग-अलग अतिचार यथासंभव विचारना।

(ii) स्वसंतान के सिवाय अन्य संतान का विवाह करना।

(iii) इत्वरी यानि थोड़े समय के लिए पैसे दिए हो तब वह परिगृहीता होने से व्रत वाले पुरुष को अगम्य है। अथवा इत्वर यानि थोड़ा, ~~थोड़ा गमन~~ परिगृहीता का थोड़ा गमन करना। इसमें स्वस्त्री संतोष और परपरित्याग दोनों व्रत वालों को अतिचार लगता है।

(iv) अपरिगृहीता यानि वेश्या, कुलटा, जिसका पति परदेश गया है, विधवा। इस इनके सेवन में स्वस्त्रीसंतोषव्रत वाले को अतिचार है, परपरित्याग वाले को नहीं।

(v) यह स्वस्त्री संतोष और परस्त्री त्याग, दोनों का अतिचार है।

(vi) तीव्रकामाभिनिवेश यानि अन्य सभी व्यापार छोड़कर काम के अध्यवसाय वाला होना। यह भी स्वस्त्री संतोष और परस्त्री त्याग, दोनों का अतिचार है।

सू. क्षेत्रवास्तु-हिरण्यसुवर्ण-धनधान्य-दासीदास-कुप्य-प्रमाणातिक्रमाः ७-२४॥

अ. स्थूल परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचार- ये ५ होते हैं - क्षेत्रवास्तु के प्रमाण का अतिक्रम, हिरण्यसुवर्ण के प्रमाण का अतिक्रम, धनधान्य के प्रमाण का अतिक्रम, दासी-दास के प्रमाण का अतिक्रम, कुप्य के प्रमाण का अतिक्रम।

हि. (i) क्षेत्र - धान्य की उत्पत्ति की भूमि, खेत। २७. ⓐ सेतु - जिस खेत में अरघट्टादि से सिंचन हो ⓑ केतु - जिस खेत में वारिश के पानी से धान्य उत्पन्न हो।

(ii) वास्तु = घर। उ॰ ⓐ खात = भोयरा, गर्भगृहादि। ⓑ उच्छ्रित = महलादि। ⓒ खातोच्छ्रित = नीचे गर्भगृह हो, ऊपर महल बनाया हो।

(iii) हिरण्य = घड़ी हुई अथवा नहीं घड़ी हुई चांदी।

(iv) सुवर्ण = सुवर्ण के ग्रहण से रत्नादि भी जानना।

(v) धन = गाय, भैंस, बकरी वि. चतुष्पद।
धान्य = चावल, मूँग, अडद वि.।

(vi) दासी-दास = द्विपद। नौकरादि, पत्नी, हंस-मोर-मुर्गा वि. पक्षी।

(vii) कुप्य = लोहा, तांबा, मिट्टी वि. के बर्तन आदि।

सू. ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तर्धानानि 7-25॥

अ/भा. ऊर्ध्वव्यतिक्रम(i), अधो व्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्र वृद्धि(ii), स्मृति(iii) का अन्तर्धान इस प्रकार ये 5 दिग्व्रत के अतिचार हैं। स्मृति का अन्तर्धान यानि स्मृति का भ्रंश।

टी. (i) बँधी हुई मर्यादा से आगे जाना।

(ii) एक दिशा में प्रमाण कम कर दूसरी दिशा में बढ़ाना।

(iii) व्रत अथवा व दिशा का परिमाण भूल जाना।

सू. आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः 7-26॥

अ/भा. द्रव्य का (i) लाना, प्रेष्य(ii) प्रयोग, शब्दानुपात(iii), रूपानुपात(iv), पुद्गल(v) क्षेप इस प्रकार ये 5 देशव्रत के अतिचार हैं।

टी. (i) दूसरे को द्रव्य लाने की प्रेरणा करना।

(ii) किसी को जबरजस्ती से भेजना।

(iii) नियत भू प्रदेश में रहकर खांसी वि. शब्द करना जिससे बाहर रहे संबंधी उसके पास आवे। शब्दानुपात यानि शब्द की तरफ जाने वाला, वह संबंधी शब्दानुपात कहा जाता है।

(iv) प्रयोजन होने पर शब्दोच्चार न करे किन्तु शरीर बताए। उसे देखकर बाहर से उसके पास आने वाला रूपानुपात कहा जाता है।

(v) कंकर, पत्थर फेंकना।

DATE __/__/____

सू. कन्दर्प-कौत्कुच्य-मौखर्या-ऽसमीक्ष्याधिकरणोपभोगाधिकत्वानि 7-27॥

अ. अनर्थदंड विरति व्रत के अतिचार- कंदर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण, उपभोगाधिकत्व।

भा. कंदर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण, उपभोगाधिकत्व इस प्रकार ये 5 अनर्थदंड विरति के अतिचार हैं। उनमें कंदर्प यानि राग से युक्त असभ्य वाक्प्रयोग (ii) और हास्य। कौत्कुच्य यानि ये दोनों ही दुष्ट काय प्रचार से संयुक्त। असंबद्ध (i) बहु बोधना मौखर्य। असमीक्ष्य (iii) अधिकरण लोक में प्रसिद्ध है। उपभोगाधिकत्व (iv) भी लोक में प्रसिद्ध है।

टी. (i) सभ्यार्हः इति सभ्यः। न सभ्यः असभ्यः।

(ii) पूर्वापर संबंध बिना।

(iii) बिना विचारे, उपयोग बिना कुछ भी कार्य करना।

(iv) उपभोग की वस्तुएँ आवश्यकता से अधिक लेना।

सू. योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि 7-28॥

अ. काय दुष्प्रणिधान, वाग् दुष्प्रणिधान, काय दुष्प्रणिधान, अनादर (ii), स्मृति (iii) का अनुपस्थापन इस प्रकार ये 5 सामायिक व्रत के अतिचार होते हैं।

टी. (i) नियत वेला में न करना अथवा जैसे-तैसे करना, अथवा एकाग्रता रहित करना।

(ii) 'मैंने सामायिक की है (प्रतिपत्ति) या नहीं?' इस प्रकार भूल जाना। (कर्तव्य) (क्रिया)

सू. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादाननिक्षेपसंस्तारोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि 7-29॥

अ. अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित भूमि में उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित वस्तु का ग्रहण या निक्षेप, अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित भूमि में संथारा करना, अनादर, स्मृति का अनुपस्थापन इस प्रकार ये 5 पौषधोपवास व्रत के अतिचार हैं।

सू. सचित्त-सम्बद्ध-संमिश्रा-ऽभिषव-दुष्पक्वाहाराः 7-30॥

अ. सचित्ताहार, सचित्त संबद्धाहार (i), सचित्तसंमिश्राहार (ii), अभिषवाहार (iii), दुष्पक्वाहार (iv) इस प्रकार ये 5 उपभोग व्रत के अतिचार हैं।

टी (i) पके हुए फलादि, बीज से युक्ताहार।
(ii) पुष्प, फल, तिल, आदि से मिश्र मोदकादि।
(iii) कुंथु, चींटी, वि. सूक्ष्म जंतु से मिश्र।
(iv) जो कच्चा हो अथवा दुःख से पके वह। eg. कोपड़ मूंग गेहूं चावल वि.।

सू. सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः 7-31॥

अ/आ अन्नादि द्रव्य को (i) सचित्त पर रखना, सचित्त से ढाँकना, 'यह दूसरे का है' इस प्रकार परव्यपदेश, (ii) मात्सर्य, (iii) कालातिक्रम इस प्रकार ये 5 अतिथिसंविभाग व्रत के अतिचार हैं।

टी (i) नहीं देने की बुद्धि से ऐसा करने पर अतिचार होता है।
(ii) पर की उन्नति से वैमनस्य होना मात्सर्य अथवा कषाय से युक्त चित्त से देना, वह मात्सर्य। eg. साधु माँगे तो गुस्सा करना, अन्न होते हुए भी नहीं देना अथवा 'उस भिखारी ने दिया तो मैं क्या उससे भी नीच हूँ?' इस प्रकार ईर्ष्या से देना।
(iii) साधुओं के भिक्षाकाल के पहले या बाद में पौषधोपवासी भोजन करे, भिक्षाकाल के बाद या पहले अन्न दे।

सू. जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानकरणानि 7-32॥

अ/आ जीविताशंसा मरणाशंसा (i) मित्रानुराग सुखानुबंध निदानकरण इस प्रकार ये मारणांतिक संलेखना के 5 अतिचार हैं।

टी (i) अनशन ग्रहण किया हो और कोई उसका आदर-प्रशंसा न करे तब ऐसा मन होता है।
(ii) मित्र से पुत्रादि भी लेना।
आ. इसलिए इन सम्यक्त्व-व्रत-शील के उल्लंघन रूप 65 अतिचारों में अप्रमाद करना चाहिए।

टी (i) अपाय के दर्शन से।
आ. यहाँ शिष्य पूछता है - व्रत और व्रती कहे गए। अब दान क्या होता है? यहाँ कहते हैं -

DATE ___/___/___

सू. अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् 7-33॥

अ/भा. आत्मा और पर के अनुग्रह के लिए स्वयं के अन्नपानवस्त्रादि द्रव्य का पात्र में त्याग करना दान है।

वि (i) अनुग्रह यहाँ निर्जरारूप लेना।

(ii) अन्नादि द्रव्य स्वयं के ही होना चाहिए।

(iii) पात्र - 2प्र. अरिहंत और साधर्मिक। अरिहंतों को पुष्प, नैवेद्य, धूप, दीप, चामरादि देना। साधर्मिक 2प्र. - साधु और श्रावक।

→ अ. - दान की क्रिया समान होने पर भी फल में अंतर -

सू. विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः 7-34॥

भ. विधि, द्रव्य, दाता, पात्र के विशेष से दान का विशेष होता है।

भा. विधि के विशेष से, द्रव्य के विशेष से, दाता के विशेष से और पात्र के विशेष से उस दानधर्म का विशेष होता है और उसके विशेष से फल का विशेष होता है।
उसमें विधि का विशेष - देशसंपत्ति, कालसंपत्ति, श्रद्धा, सत्कार, क्रम, कल्पनीयत्व इत्यादि।

वि (i) जीव-जंतु रहित देश

(ii) काल - रात्रि में दान न करो। दिन में भोजन के उचित काल में जब शुद्ध आहार हो तब।

(iii) अभ्युत्थानादि विनय।

(iv) क्रम से दान दे - पहले पंचमहाव्रतधारी, फिर रोगी-सज्जी-दीर्घ-चावत्य अथवा जिस देश में जैसा क्रम हो।

(v) 42 दोष शुद्ध।

(vi) आदि से आनंदित होकर स्वयं पर अनुग्रह मानते हुए दान दे।

भा. द्रव्यविशेष - अन्नादि का ही सार-जाति-गुण के उत्कर्ष का योग।
दाता विशेष - ग्रहण करनेवाले पर (i) अनसूया, त्याग में (ii) अविषाद, (iii) अपरिभाविता, देने (iv) की इच्छा वाले, देते हुए और दिये देने वाले की प्रीति का योग, (v) कुशल अभिसंधिता, दृष्ट (vi) फल की अनपेक्षिता, (vii) निष्कपटपन, (viii) अनिदानपन।

वि (i) लेने वाले साधु पर द्वेष का अभाव।

(ii) देने के बाद खेद का अभाव - 'अरे! मैंने बहुत दे दिया'।

(iii) अपरिभाविता यानि अनादर।
(iv) साधु के दर्शन होने पर हर्ष पामे। 'पहले मैंने दान दिया, दे रहा हूँ, दूँगा' इसके लिए हर्ष पामे।
(v) ज्ञानावरणीयादि कर्मों को जो छेदे वह कुशल। अभिसंधि यानि अभिप्राय। कुशल अभिसंधि है जिसे वह कुशलाभिसंधि। अर्थात् निर्जरा की अपेक्षा वाला।
(vi) ऐहलौकिक फल राज्यादि अथवा पारलौकिक स्वर्गादि, संक्षेप में सांसारिक फल की अनपेक्षा।
(vii) उपधा यानि माया।
प्रा. पात्र विशेष - सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र से संपन्नता।

इति श्री तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे सप्तमोऽध्यायः।

अष्टमोऽध्यायः

प्रा. आस्रव कहे गए। बंध को हम कहेंगे। उसकी प्रसिद्धि के लिए यह कहा जाता है-

सू. मिथ्यादर्शना-ऽविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः 8-1॥
स. मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग बंध के हेतु हैं।
प्रा. मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग इस प्रकार ये ५ बंध के हेतु हैं। उसमें सम्यग्दर्शन से विपरीत मिथ्यादर्शन। वह दो प्र. - अभिगृहीत और अनभिगृहीत। उसमें जानबूझकर असम्यग्दर्शन का परिग्रह करना, वह अभिगृहीत, यह अज्ञानिकादि 363 कुवादियों को होता है, शेष अनभिगृहीत।
यथोक्त ऐसी विरति से विपरीत अविरति।
टी. (i) सू. 7-18 में कहा गया।
(ii) 'हिंसानृत... 7-1' से बिल्कुल विपरीत।
प्रा. प्रमाद (i)-स्मृति का अनवस्थान, कुशल (क्रियानुष्ठानों) में अनादर और योग-दुष्प्रणिधान। कषाय मोहनीय में कहे जाएँगे। योग (ii) प्र. के पूर्व में कहे।
टी. (i) इंद्रिय के दोष से मोक्षमार्ग की शिथिलता = प्रमाद (हरिभद्रीय टीका)।

DATE ___/___/___

(iii) किस गुणस्थानक में कौन-से बंध हेतु -

	गुणस्थान	मिथ्यात्व	अविरति	प्रमाद	कषाय (25)	योग (15)
1.	मिथ्यात्व	✓	✓	✓	✓	13 (आहारक काय योग ✗ आहारक मिश्र काय योग)
2.	सास्वादन	✗	✓	✓	✓	13 "
3.	मिश्र	✗	✓	✓	✓	10 (औदारिक मिश्र, वैक्रिय मिश्र, कार्मण काय योग ✗)
4.	अविरत	✗	✓	✓	21 (अनं. 4 ✗)	13 (" ✓)
5.	विरत	✗	देश विरति	✓	17 (अप्रत्या. ✗)	11 (औदारिक मिश्र और कार्मण काय योग ✗)
6.	प्रमत्त	✗	✗	✓	13 (प्रत्याखा 4 ✗)	13 (आहारक काय योग और आहारक मिश्र काय योग ✓)
7.	अप्रमत्त	✗	✗	✗	13 (4 सं + 9 नोकषाय)	11 (वैक्रिय मिश्र और कार्मण मिश्र ✗)
8.	अपूर्वकरण	✗	✗	✗	"	9 (वैक्रिय और आहारक काय योग ✗)
9.	अनिवृत्ति	✗	✗	✗	"	9 [4 मन 4 वचन और 1 औदारिक काय योग]
10.	सूक्ष्म संपराय	✗	✗	✗	1 (1 सं. लोभ ✓)	9
11.	उपशांत मोह	✗	✗	✗	✗	9
12.	क्षीण मोह	✗	✗	✗	✗	9
13.	सयोगी केवली	✗	✗	✗	✗	7 (प्रथम और अंतिम मन-वचन योग औदारिक, औदारिक मिश्र और कार्मण काय योग) (2-2 मन-वचन योग बंद) (औ. मि. और कार्मण ✓)
14.	अयोगी केवली	✗	✗	✗	✗	✗

(iv) इन मिथ्यादर्शनादि बंध हेतुओं में पूर्व-पूर्व का हेतु होने पर बाद वाले अवश्य होते हैं। बाद-बाद वाला होने पर पूर्वों का नियम नहीं है।

(v) बीप्सा।

सू. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते 8-2॥

अ. कषाय सहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है।

भा. जीव (i)कषाय सहित होने से कर्म के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करता है। कर्म के योग्य (ii)8प्र. के पुद्गल ग्रहण में कर्म के शरीर के (iii)ग्रहण योग्य। (iv)'नाम प्रत्ययाः सर्वतो... 8-25' आगे कहा जाएगा।

टी.
(i) 5 प्र. के बंध हेतुओं में कषाय की प्रधानता बताने के लिए।
(ii) 8 वर्गणा- औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, भाषा, प्राणापान, मन, कर्म।
(iii) अग्रहण योग्य वर्गणा का वर्जन।
(iv) बंध की क्या व्यवस्था है? इस प्रश्न का उत्तर भाष्यकार ने दिया।

सू. स बन्धः 8-3॥

अ. वह पुद्गलग्रहण बंध होता है।

भा. जो यह कार्मण शरीर द्वारा पुद्गल ग्रहण से किया हुआ बंध है। वह बंध (i)5 प्र. का होता है।

टी.
(i) एक स्वरूप वाला बंध भी कार्य भेद से 5 प्र. का-

सू. प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्तद्विधयः 8-4॥

अ. ~~प्रकृति, स्थिति~~ (i)प्रकृतिबंध, (ii)स्थितिबंध, (iii)अनुभावबंध, (iv)प्रदेशबंध - ये 4 प्रकार हैं। उसमें-

भा.
(i) कर्म और आत्मा की एकता के लक्षण वाला।
(ii) वह पुद्गल आत्म प्रदेशों में कब तक रहेगा।
(iii) शुभ-अशुभ, तीव्र-मंद आदि।
(iv) प्रदेशों पर कर्म पुद्गलों का ~~परिमाण~~ परिमाण।

सू. आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनामगोत्रान्तरायाः 8-5॥

अ. आद्य-पहला प्रकृतिबंध→ज्ञान-दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अंतराय।

भा. आद्य यानि सूत्र क्रम के प्रामाण्य से प्रकृतिबंध को कहते हैं। वह (i)8 प्र. का है। वह इस प्रकार- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्क, नाम, गोत्र, अन्तराय।

टी.
(i) मूल प्रकृति बंध।

DATE ___/___/___

भा: और दूसरा -

सू. पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् 8-6॥

भा. यह 8 प्र. का प्रकृतिबंध भी ~~प्र~~ प्रत्येक के 5 भेद, 9 भेद, 2 भेद, 28 भेद, 4 भेद, 42 भेद, 2 भेद और 5 भेद वाला है, इस प्रकार क्रमशः जानना। इससे आगे जो हम कहेंगे। वह इस प्रकार -

सू. मत्यादीनाम् 8-7॥

प्र. ज्ञानावरण के 5 प्र. - मत्यादि ज्ञान के 5 आवरण।

भा. मति आदि ज्ञानों का आवरण 5 प्र. का है - मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधि ज्ञानावरण, मनः पर्यायज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण। मत्यादि ज्ञानों के 5 (i) आवरण होते हैं।

टी (i) इन 5 में से केवलज्ञानावरण सर्व घाती है, शेष 4 देश घाती है।

सू. चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिवेदनीयानि च 8-8॥

भा. चक्षु दर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा वेदनीय, निद्रा निद्रा वेदनीय, प्रचला वेदनीय, प्रचला प्रचला वेदनीय, स्त्यानर्द्धि (ii) वेदनीय इस प्रकार दर्शनावरण 9 भेद वाला है। (iii)

टी (i) स्त्यान यानि स्थिर चित्त वाला आत्मा। अर्थात् एक प्रकार की ~~नि~~ नींद विशेष। उस स्त्यान की ऋद्धि = स्त्यानर्द्धि → उस निद्रा के उदय से अर्ध चक्री तुल्य बल प्राप्त होना। अथवा उस स्त्यान की गृद्धि = स्त्यानगृद्धि → मांस मोदक दंतादि के उदाहरण से प्रसिद्ध आकांक्षा विशेष।

(ii) ~~सू~~ सूत्र में च शब्द समुच्चय के लिए।

सू. सदसद्वेद्ये 8-9॥

भा. सद्वेद्य और असद्वेद्य वेदनीय दो प्रकार का है।

टी (i) सत् शब्द प्रशंसा अर्थ में। शरीर और मन के द्वार से आत्मा को इष्ट

DATE __/__/'71

सुख परिणाम रूप सद्वेद्य।

सू. दर्शनचारित्रमोहनीयकषायनोकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विषोडशनवभेदाः सम्यक्त्व-मिथ्यात्वतदुभयानि कषायनोकषायावनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरण-संज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साः स्त्रीपुंनपुंसकवेदाः 8-10॥

अ. मोहनीय कर्म के दो भेद - दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के 3 भेद - सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय। चारित्र मोहनीय के दो भेद- कषाय वेदनीय और नोकषाय वेदनीय। कषाय के 16 भेद - अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान, संज्वलन ये 4 भेद प्रत्येक के - क्रोध मान माया लोभ। नोकषाय के 9 भेद - हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्री वेद पुंवेद नपुंसक वेद।

भा. (i) 3, 2, 16, 9 भेद क्रमशः होते हैं। मोहनीय कर्म बंध 2 प्र. दर्शनमोहनीय नामक और चारित्रमोहनीय नामक। उसमें (ii) दर्शनमोहनीय 3 भेद वाला है। वह इस प्रकार - मिथ्यात्व वेदनीय, सम्यक्त्व वेदनीय, सम्यग्मिथ्यात्व वेदनीय।

अ. (i) मोहनीय कर्म के 28 भेद दिखाने के लिए यह लिखा।

(ii) दर्शनीय मोहनीय में बंध तो एक मिथ्यात्व मोहनीय प्रकृति का ही होता है।

भा. चारित्र मोहनीय नामक कर्म दो प्र. - कषायवेदनीय और (i) नोकषाय वेदनीय। उसमें कषाय वेदनीय नामक 16 भेद वाला है वह इस प्रकार - ~~अ~~ (ii) अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभ। इस प्रकार (iii) अप्रत्याख्यानकषाय, (iv) प्रत्याख्यान कषाय, (v) संज्वलन कषाय इस प्रकार प्रत्येक के क्रोध-मान-माया-लोभ 16 भेद।

अ. (i) नो शब्द अल्प अर्थ में। जो कषाय बिना स्वयं का कार्य नहीं कर सकते, अल्प कषाय द्वारा ही कार्य करते हैं, वे नोकषाय।

(ii) अनंत संसार का अनुबंध करने से अनन्तानुबंधी।

(iii) जो आत्मा को अल्प प्रत्याख्यान भी न करने दे, वह अप्रत्याख्यान कषाय (देश विरति का घात करने वाला।

(iv) प्रत्याख्यान यानि ↓ सर्व विरति। इसका आवरण करने वाला ~~प्र~~ प्रत्याख्यानावरण।

(v) सर्व विरति वाले यति को भी दुःसह परिषह आने जो ज्वलित करें, वे संज्वलन।

DATE ___/___/___

भा. नोकषाय वेदनीय 9 भेद वाला है। वह इस प्रकार- हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्री वेद, नपुंसक वेद, इस प्रकार नोकषाय वेदनीय नौ प्रकार का है। उसमें पुरुषवेदादि के तृण[i] की अग्नि, काष्ठाग्नि[ii], करीषाग्नि[iii] दृष्टांत हैं। इस प्रकार मोहनीय के 28 भेद होते हैं।

टी:
(i) पुरुषवेद अतिशय जलते हुए घास की तरह जल्दी बुझ जाता है।
(ii) काष्ठ के ढेर से वृद्धि को प्राप्त अग्नि की तरह स्त्री वेद जल्दी नहीं बुझता है।
(iii) दिशाओं में घूमती ऐसी गोबर के कंडे की अग्नि की तरह नपुंसक वेद बहुत लंबे काल में बुझता है।

भा. अनंतानुबंधी कषाय सम्यग्दर्शन का उपघात करने वाला है। उसके उदय से सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता और पूर्व में उत्पन्न हुआ भी गिर जाता है। अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से विरति नहीं होती है। प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से देश विरति होती है, उत्तम चारित्र की प्राप्ति नहीं होती है। संज्वलन कषाय के ~~मंद~~ उदय से यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति नहीं होती।

भा. क्रोध कोप रोष द्वेष भंडन[ii] भाम इस प्रकार एकार्थक हैं। इस क्रोध के तीव्र-मध्य-विमध्य-मंद भाव के आश्रय वाले दृष्टांत होते हैं। वह इस प्रकार- पर्वत पर रेखा समान, भूमि पर रेखा समान, बालु रेती पर रेखा समान, पानी पर रेखा समान। उसमें पर्वत पर रेखा समान - जिस प्रकार प्रयोग-विस्रसा ~~समुदय~~-मिश्र में से कोई भी एक हेतु से पर्वत पर उत्पन्न रेखा कभी भी जुड़ती नहीं है, इस प्रकार इष्ट वियोग-अनिष्ट योग-अभिलषित की अप्राप्ति आदि में से किसी भी एक हेतु से जिसे क्रोध उत्पन्न हुआ है, वह मृत्यु तक भी मिटता नहीं है, अन्य भव का भी अनुबंध वाला होता है, चाटु क्रियादि रहित होता है, तीव्र परिणाम वाला और पश्चात्ताप के परिणाम रहित होता है। इस प्रकार के क्रोध में मरे हुए जीव नरकों में उत्पन्न होता है। भूमि पर रेखा समान - जिस प्रकार सूर्य की किरणों के ताप से, स्नेह ग्रहण करने से, वायु से हत होने पर ऐसी भूमि पर उत्पन्न रेखा वर्षा से संधाई जाती है और 8[iii] महिने की उत्कृष्ट स्थिति वाली होती है, इस प्रकार यथोक्त निमित्त वाला, अनेक प्रकार के स्थान वाला और दुःख से शांत हो ऐसा क्रोध जिसे होता है, वह पृथ्वी रेखा समान है। इस प्रकार के क्रोध में मृत जीव तिर्यंच

योनि में उत्पन्न होता है।
बालुरेखा समान- जिस प्रकार बालु रेती में काष्ठ-शलाका-शर्करादि में से किसी एक हेतु से उत्पन्न रेखा वायु बहने आदि से ~~संधा जाती है~~ एक महिने के पहले ही जुड़ जाती है, इस प्रकार यथोक्त निमित्त वाला क्रोध जिसे (ii) एक दिन-रात, पक्ष, मास, ४ मास अथवा एक वर्ष रहता है, वह बालुरेती रेखा समान है। उस प्रकार के क्रोध में मृत जीव ~~मन्य~~ मनुष्यों में उत्पन्न होता है।
जलरेखा समान- जिस प्रकार पानी में दंड-शलाका-उंगली वि. क में से कोई भी हेतु से उत्पन्न रेखा पानी के द्रवत्व के कारण तुरंत ही जुड़ जाती है, इस प्रकार यथोक्त निमित्त से उत्पन्न क्रोध विद्वान्- अप्रमत्त मुनि के पश्चात्ताप से उत्पत्ति के बाद ही शांत होता है, वह जल रेखा समान है। उस प्रकार के क्रोध में ~~इन~~ मृत जीव देवों उत्पन्न होते हैं।
जिन्हें ये चारों प्रकार के क्रोध नहीं होते, वे निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

B. (i) भंडन = कलह। भाम = ईर्ष्या सहित क्रोध।
(ii) इस अप्रत्याख्यावरण क्रोध की उत्कृष्ट स्थिति एक सात्व, जघन्य ४ महिने।
(iii) प्रत्याख्यानावरण क्रोध एक दिन से लेकर उत्कृष्ट एक सात्व तक।

भा. (i) मान स्तम्भ गर्व उत्सेक अहंकार दर्प मद समय इस प्रकार एकार्थक हैं। इस मान के तीव्रादि भाव के आश्रित दृष्टांत हैं। वह इस प्रकार- पर्वत स्तंभ समान, हड्डी के स्तंभ समान, लकड़ी के स्तंभ समान, घास के स्तंभ समान। इनका उपसंहार और निगमन क्रोध के दृष्टांतों द्वारा कहा गया।

A. (i) मान = हमेशा आत्मा की पूजा की कांक्षा होने से।
स्तंभ = झुकने का अभाव।
गर्व = जात्यादि ४ प्र।
उत्सेक = ज्ञानादि से आत्मा का अभिमान।
अहंकार = मैं ही रूप-सौभाग्य से संपन्न हूँ इत्यादि।
दर्प = बल से किया हुआ।
मद = शराब के नशे वाले जैसे दुष्ट आलाप होने से।
समय = दूसरों की हँसी उड़ाने से।

DATE ___/___/___

आ. माया पणिधि उपधि निकृति आचरण वंचना दंभ कूट अतिसंधान अनार्जव इस प्रकार एकार्थक हैं। उस माया के तीव्रादि भाव के आश्रय वाले दृष्टांत हैं। वह इस प्रकार- बांस की जड़ की गांठ समान, मेढ़ के सींग समान, गोमूत्र के आकार समान, निर्लेखन यानि कीचड़ निकालने के साधन समान। यहाँ भी उपसंहार और निगमन क्रोध के दृष्टांतों द्वारा कहे गए।

(i) माया= जीव के तिर्यंच योनि में जन्म का अनुमान जिससे कर सके, वह।
पणिधि= व्रत के अपरिणाम में आसक्ति।
उपधि= बाह्य चेष्टा से जो ढँक जाए, वह अर्थात् बाह्य चेष्टा से मन के अलग परिणाम।
निकृति= जिससे दूसरे को हराया जाए (निकृति= पराभव)।
आचरण= जिस उपाय से दूसरे को चलादिया जाए, खाया जाए।
वंचना= ठगाई।
दंभ= कपट।
कूट= जिससे दूसरा छला जाए।
अतिसंधान= अतिशय मित्रता करना, मन के भाव उसे न बताना, फिर उसका विनाश करना।
अनार्जव= सरलता का अभाव।

आ. लोभ राग गार्ध्य इच्छा मूर्च्छा स्नेह कांक्षा अभिष्वंग इस प्रकार एकार्थक हैं। उस लोभ के तीव्रादि भाव के आश्रित दृष्टांत होते हैं। वह इस प्रकार- लाख के रंग समान, बैलगाड़ी के पहिए की धुरी पर रहे काले रंग समान, दीपक की मेस के रंग समान और हल्दी के रंग समान। यहाँ उपसंहार और निगमन क्रोध के दृष्टांतों द्वारा कहे गए।

(i) इच्छा= वैलोक्य विषयक।
(iii) मूर्च्छा= उत्कृष्ट मोह की वृद्धि।
स्नेह= पुत्र-पत्न्यादि विषयक।
कांक्षा= भविष्य काल विषयक इच्छा।
अभिष्वंग= आसक्ति।

भा. इन क्रोधादि 4 कषायों के शत्रु रूप प्रतिघात के हेतु हैं। वह इस प्रकार- क्रोध का क्षमा, मान का मार्दव, माया का आर्जव, लोभ का संतोष।

सू. नारक-तैर्यग्योन-मानुष-दैवानि 8-11॥

अ. आयु कर्म 4 भेद वाला- नारक, तैर्यग्योन, मानुष, दैव।

भा. दी. उ) नरकस्य इदं इति नारकम्, इस प्रकार चारों का जानना।

सू. गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसङ्घातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपराघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तास्थिरादेययशांसि सेतराणि तीर्थकृत्त्वं च 8-12॥

भ. गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बंधन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति, इतर सहित ऐसी प्रत्येक-शरीर-त्रस-सुभग-सुस्वर-शुभ-सूक्ष्म-पर्याप्त-स्थिर-आदेय-यश और तीर्थंकरत्व, ये नाम कर्म के 42 भेद हैं।

भा. गतिनाम, जातिनाम, शरीरनाम, अंगोपांगनाम, निर्माणनाम, बंधननाम, संघातनाम, संस्थान नाम, संहनन नाम, स्पर्शनाम, रस नाम, गंध नाम, वर्ण नाम, आनुपूर्वी नाम, अगुरुलघुनाम, उपघातनाम, पराघातनाम, आतपनाम, उद्योतनाम, उच्छ्वास नाम, विहायोगति नाम। इत्तर सहित प्रत्येक शरीरादि के नाम। वह इस प्रकार- प्रत्येक शरीर नाम, साधारण शरीर नाम, त्रस नाम, स्थावर नाम, सुभगनाम, दुर्भग नाम, सुस्वरनाम, दुःस्वरनाम शुभ नाम, अशुभनाम, सूक्ष्म नाम, बादर नाम, पर्याप्तनाम, अपर्याप्त नाम, स्थिर नाम, अस्थिर नाम, आदेय नाम, अनादेय नाम, यशो नाम, अयशो नाम, तीर्थंकर नाम इस प्रकार ये मूलभेद से 42 प्रकार वाला नाम कर्म है।

दी. उ) पिंड प्रकृति बताई।

भा. उत्तर नाम अनेक प्रकार का है। वह इस प्रकार- गतिनाम 4 प्र. नरकगति नाम, तिर्यग्योनिनाम, मनुष्यगति नाम, देवगति नाम।
जाति नाम के मूल भेद 5 हैं। वह इस प्रकार एकेन्द्रियजाति नाम, द्वीन्द्रिय जाति नाम, त्रीन्द्रिय जाति नाम, चतुरिन्द्रिय जाति नाम, पंचेन्द्रिय जाति नाम।

DATE ___/___/_____

एकेन्द्रिय जातिनाम अनेक प्रकार का है। वह इस प्रकार- पृथ्वीकायिक नाम, अप्कायिक जाति नाम, तेजः कायिक जाति नाम, वायुकायिक जातिनाम, वनस्पतिकायिक जातिनाम।
उसमें पृथ्वीकायिक जाति नाम अनेक प्रकार का है। वह इस प्रकार- शुद्ध पृथ्वी, शर्करा, वालुका, उपल, शिला, लवण, ऊषस्, (i) त्रपु, तांबा, सीसा, चांदी, सोना, वज्र, हरिताल, हिंगुल, मनसिल, सस्यक, संजन, प्रवाल, अभ्रक, अभ्रवालिका जाति नामादि। (ii) गोमेदक, रुचक, अंक, स्फटिक, लोहिताक्ष, जलावभास, वैडूर्य, चंपुकांत, सूर्यकांत, जलकांत, मसारगल्ल, अश्मगर्भ, सौगन्धिक, पुलक, अरिष्ट, कांचन, मणि जाति नाम आदि।
अप्कायिक जाति नाम अनेक प्रकार का है। वह इस प्रकार- उपकल्पेद, अवश्याय, नीहार, हिम (बरफ), घनोदधि, शुद्ध पानी जाति नाम आदि।
तेजकायिक जाति नाम अनेक प्रकार का है। वह इस प्रकार- अंगार, ज्वाल, अलात, अर्चि, मुर्मुर, शुद्धाग्नि जाति नाम।
वायु कायिक जाति नाम अनेक प्रकार का है। वह इस प्रकार- उत्कलिक, मण्डलिक, झंझिक, घनवात, संवर्तक जाति नाम आदि।
वनस्पति कायिक जाति नाम अनेक प्रकार का है। वह इस प्रकार- कंद, मूल, स्कंध, त्वचा, काष्ठ, पत्र, (ii) प्रवाल, पुष्प, फल, गुल्म, गुच्छ, लता, वल्ली, तृण, पर्व, काय, सेवाल, पनक, वलक, कुहन जाति नाम आदि।
इस प्रकार द्वीन्द्रिय जाति नाम अनेक प्रकार का है। इस प्रकार त्रेइन्द्रिय, चउरिंद्रिय जाति नाम आदि भी अनेक प्रकार का है।
शरीर नाम ५ प्र. का है। वह इस प्रकार- औदारिक शरीर नाम, वैक्रिय शरीर नाम, आहारक शरीर नाम, तैजस शरीर नाम, कार्मण शरीर नाम।
अंगोपांग नाम ३ प्र. का है। वह इस प्रकार- औदारिक शरीर अंगोपांग नाम, वैक्रिय शरीर अंगोपांग नाम, आहारक शरीर अंगोपांग नाम। फिर से एक-एक अनेक प्रकार का है। वह इस प्रकार- अंग नाम, यानि सिर नाम, छाती नाम, पीठ नाम, बाहु नाम, पेर नाम, पाद नाम। उपांग नाम कर्म अनेक प्रकार का है। वह इस प्रकार- स्पर्श नाम, रस नाम, घ्राण नाम, चक्षु नाम, श्रोत्र नाम। तथा मस्तिष्क, कपाल, (iv) कृकाटिका, शंख, ललाट, तालु, गाल, ~~क्षी~~ हनु, चिबुक, दाँत, होंठ, भ्रू (eyebrow), आँख, कान, नाक आदि सिर के उपांगों के नाम है। इस प्रकार सभी अंगों के उपांगों के

नाम हैं।

(i) त्रपु = टीन, रांगा।
सीसक = सीसा, Mercury।
सस्यक = एक प्रकार का मूल्यवान् पत्थर।
प्रताल = मूँगा। (ये सभी पत्थर के नाम)

(ii) (ये सभी रत्न विशेष के नाम)

(iii) प्रवाल = अंकुर
गुल्म = झाड़ियाँ

(iv) कृकाटिका = गर्दन का पीछे का भाग।
शंख = सिर के पीछे की हड्डी।
हनु = जबड़ा
चिबुक = दाढ़ी

आ. (i) जाति में लिंग की व्यवस्था और आकृति की व्यवस्था का नियामक निर्माण नाम कर्म।

ई. (i) भावार्थ - एकेन्द्रियादि जाति में स्त्री-पुरुष-नपुंसक लिंग की व्यवस्था और आकृति अर्थात् सभी अवयवों के आकार बनाने का नियामक यह निर्माण कर्म।

उ. Engineer की तरह।

आ. (ii) निर्मित ऐसे शरीर की प्राप्ति होने पर उन्हें बांधने वाला बन्धन नाम कर्म। अन्यथा शरीर बालु रेती से बने पुरुष की तरह बंधे बिना होते।

ई. (i) Cement की तरह।

आ. बंधे हुए शरीरों का भी उचय विशेष से विशेष संघात को करने वाला संघात नाम कर्म, लकड़ी - मिट्टी का पिंड - लोहे के पिंड के संघात की तरह।

ई. (i) संघात यानि Density। शरीर में Density कम-ज्यादा करने वाले।

आ. संस्थान नामकर्म 6 प्र. का। वह इस प्रकार - समचतुरस्रनाम, न्यग्रोधपरिमंडलनाम, सादिनाम, कुब्जनाम, वामननाम, हुंडनाम।
संहनननामकर्म 6 प्र. का। वह इस प्रकार - वज्रर्षभनाराचनाम, अर्धवज्रर्षभनाराच नाम, नाराचनाम, अर्धनाराचनाम, कीलिकानाम, सृपाटिकानाम।

DATE __/__/____

स्पर्शनाम ८ प्र. कठिननामादि। रस नाम अनेक प्रकार का तिक्त नामादि। गंध नाम अनेक प्रकार का सुरभिगंध नामादि। वर्ण नाम अनेक प्रकार का कालक नामादि।

गति में उत्पन्न होने की इच्छा वाले और अन्तर्गति में वर्तते जीव को उस गति अभिमुख, आनुपूर्वी से (विशिष्ट देश के क्रम से) उस गति का प्राप्त कराने में समर्थ आनुपूर्वीनाम। अन्य कहते हैं निर्माण से निर्मित शरीर के अंगोपांगों के निवेश के क्रम का नियामक आनुपूर्वी नाम।

(i) अगुरुलघु परिणाम का नियामक अगुरुलघुनाम।

हि. यहाँ गुरुत्व, लघुत्व, गुरुलघुत्व तीनों परिणाम का निषेध है। जिस कर्म से जीवों को स्वयं का शरीर भारे या हल्का न लगे, वह अगुरुलघु।

(i) शरीर के अंगोपांग का उपघात करने वाला उपघात नाम कर्म अथवा स्वपराक्रम (ii) और स्व विजय आदि का उपघात करने वाला उपघात नाम कर्म।

हि. (i) जिस कर्म से दूसरे द्वारा शरीर के अंगोपांग उपघात किए जाए।

(ii) जिस कर्म से अच्छे शरीर वाला व्यक्ति भी निर्बल बने, अथवा उसकी विजय हो तो भी वह पराजित हुआ ऐसा व्यवहार हो।

(i) दूसरे को त्रास-प्रतिघातादि करने वाला पराघात नामकर्म।

हि. (i) भावार्थ- जिस कर्म के उदय से दूसरे हार जाए, उसकी ओजस्विता से कोई भी आकर्षित होकर हार जाए, किसी सभा में वाणी से दूसरों को हराए।

(i) आतप का सामर्थ्य उत्पन्न करने वाला आतप नामकर्म।

हि. मात्र सूर्य में ही संभव है।

(i) प्रकाश का सामर्थ्य उत्पन्न करने वाला उद्योत नामकर्म।

हि. (i) अनुष्ण प्रकाश- खद्योत, चंद्रादि मणि-रत्नों में।

(i) श्वासोच्छ्वास के पुद्गल ग्रहण करने का सामर्थ्य उत्पन्न करने वाला उच्छ्वास नामकर्म। (ii) इच्छा और शिक्षा की ऋद्धि के निमित्त वाले आकाश गमन को उत्पन्न करने वाला विहायो गति नाम कर्म। अलग शरीर की रचना करने वाला प्रत्येक शरीर नाम कर्म। अनेक जीवों का एक ही साधारण शरीर रचने वाला साधारण शरीर नाम कर्म।

DATE __/__/19

दी. (i) ऊर्ध्वगामी वायु प्राण, अधोगामी वायु अपान।

(ii) गति 2 प्र. ⓐ शुभ- हंस, हाथी, बैल आदि की। ⓑ अशुभ- ऊँट, सियार आदि की।
लब्धि - देवों को। ऋद्धि - तपस्वियों को।

भा. त्रस भाव की रचना करने वाला त्रसनाम कर्म। स्थावर भाव की रचना करने वाला स्थावर नाम। सौभाग्य रचने वाला सुभग नाम। दौर्भाग्य रचने वाला दुर्भग नाम। सुस्वरता करने वाला सुस्वर नाम। दुःस्वरता करने वाला दुःस्वर नाम कर्म।

दी. (i) सुभग यानि मन को प्रिय, चाहने योग्य, उसका भाव बनाने वाला। जो मन को अप्रिय हो, वह दुर्भग।

(ii) जिन स्वरों को बोलने या सुनने पर प्रीति उत्पन्न हो।

भा. शुभ भाव से शोभा और मांगल्य करने वाला शुभ नाम कर्म। उससे विपरीत करने वाला अशुभ नाम कर्म। सूक्ष्म शरीर रचने वाला सूक्ष्म नाम। बादर शरीर रचने वाला बादर नाम।

पर्याप्ति 6 प्र. की। वह इस प्रकार - आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इंद्रिय पर्याप्ति, प्राणापान पर्याप्ति, भाषापर्याप्ति। पर्याप्ति यानि ~~क्रिया की~~ आत्मा की क्रिया की परिसमाप्ति। उसमें शरीर-इंद्रिय-वचन-मन-प्राणापान के योग्य दलिक द्रव्य को ग्रहण करने रूप क्रिया की परिसमाप्ति आहार पर्याप्ति। ग्रहण किए हुए दलिक को शरीर स्वरूप में संस्थापित करने की क्रिया की परिसमाप्ति शरीर पर्याप्ति। संस्थापन यानि रचना, घड़ना। त्वचा आदि इंद्रिय रचने की क्रिया की परिसमाप्ति इंद्रिय पर्याप्ति। श्वासोच्छ्वास की क्रिया के योग्य द्रव्य ग्रहण करने और छोड़ने की शक्ति की रचने की क्रिया की परिसमाप्ति प्राणापान पर्याप्ति। भाषा के योग्य द्रव्य ग्रहण करने और छोड़ने की शक्ति रचने की क्रिया की परिसमाप्ति भाषा पर्याप्ति। मनोवर्गणा के योग्य द्रव्य ग्रहण करने और छोड़ने की शक्ति रचने की क्रिया की परिसमाप्ति मन पर्याप्ति है, इस प्रकार कोई कहते हैं। ~~इन पर्याप्तियों का~~ एक साथ शुरु हुई इन पर्याप्तियों की समाप्ति क्रम से होती है, बाद-बाद वाली सूक्ष्म होने से। यहाँ (i) सूत कातने और लकड़ी कोतरने के दृष्टांत हैं। क्रमशः (ii) दृष्टांत हैं- घर के लिए दलिक ग्रहण करना, स्तंभ-स्थूणा, पूर्वेशा द्वार, निर्गम द्वार, स्थान-शयनादि क्रिया रचना। पर्याप्ति रचने वाला पर्याप्ति नाम

DATE ___/___/___

कर्म। अपर्याप्ति रचने वाला अपर्याप्ति नाम कर्म। अपर्याप्ति नाम कर्म अर्थात् जिस कर्म से आत्मा द्वारा पर्याप्ति के परिणाम के योग्य दलिक द्रव्य ग्रहण न किए जाएँ।

द्वि. (i) सूत कातना शुरू किया जाए। जाड़ा सूत कातने में ज्यादा समय नहीं लगता, पतला सूत कातने में ज्यादा समय लगता है, वैसे ही पर्याप्ति के योग्य वर्गणा सूक्ष्म होने बाद-बाद में ज्यादा समय लगता है।
लकड़ी से चोरस थंभे बनाने में ज्यादा समय नहीं लगता किंतु पुतली बनाने में सूक्ष्म होने से बहुत समय लगता है।

(ii) यह पर्याप्ति को दृष्टांत से समझाते हैं - जैसे घर बनाने के लिए दलिक यानि लकड़ी वि. ग्रहण करना आहार पर्याप्ति समान है। इस लकड़ी से pillar बनेगा, इससे खूंटी बनेगी इस प्रकार सोचा जाता है, यह शरीर पर्याप्ति समान है; पुद्गल ग्रहण करने के बाद इन पुद्गलों से शरीर बनेगा, वह शरीर पर्याप्ति। फिर घर में कितने द्वार-खिड़की बनाना, प्रवेश द्वार पूर्व में बनाना की उत्तर दिशा में? इस प्रकार विचारा जाता है; यह इंद्रिय पर्याप्ति समान है। इंद्रिय पर्याप्ति भी आत्मा के उपभोग रूप है। इसी प्रकार प्राणापान और भाषा पर्याप्ति भी उपभोग रूप होने से यही दृष्टांत है। फिर घर बनने पर यहाँ शयन, यहाँ kitchen आदि बनाया जाता है, वह मन पर्याप्ति जैसा है।

प्र. स्थिरत्व करने वाला स्थिर नाम कर्म। इससे विपरीत अस्थिर नाम कर्म। आदेय भाव करने वाला आदेय नाम कर्म। इससे विपरीत अनादेय नाम कर्म। यश करने वाला यश नाम कर्म। इससे विपरीत अयश नाम कर्म। तीर्थंकरत्व करने वाला तीर्थंकर नाम कर्म।

द्वि. (i) सिर, हड्डी, दाँत वि. में स्थिरता। कान, त्वचा वि. में अस्थिरता।

(ii) वचन की प्रमाणता होना, लोग बहुत विनय करे।

प्र. उन-उन भावों को नमाए, वह नाम। इस प्रकार उत्तर भेद सहित नाम कर्म के भेद अनेक प्रकार के जानना।

द्वि. (i) अभिमुख करे, प्राप्त कराए।

सू. उच्चैर्नीचैश्च 8-13॥

प्र. गोत्र कर्म के २ भे.- १-उच्च गोत्र और नीच गोत्र।

भा. उच्च गोत्र और नीच गोत्र। उसमें उच्च गोत्र (i) देश-जाति-कुल-स्थान-मान-सत्कार-ऐश्वर्यादि के उत्कर्ष को करने वाला। विपरीत नीच गोत्र कर्म चंडाल-मुष्टिक(ii)-व्याध-मत्स्यबंध-दासी वि. को रचने वाला।

(i) देश में आर्य देश। जाति=पिता का अन्वय। कुल=माता का अन्वय। स्थान= प्रभु के समीप में रहना। मान= पूजा। सत्कार= अभ्युत्थान, आसनदान, हाथ जोड़ना वि.। ऐश्वर्य= हाथी-घोड़े-रथ-पैदल सैनिक वि.।

(ii) मुष्टिक= कसाई।

सू. दानादीनाम् 8-14॥

प्र. भा. अंतराय ५ भे.। वह इस प्रकार- दान(i) की अंतराय, लाभ(ii) की अंतराय, भोग(iii) की अंतराय, उपभोग(iv) की अंतराय, वीर्य(v) की अंतराय।

वि. (i) द्रव्य और ~~लेनेवाला~~ लेने वाला पास में होने पर भी तथा दान महाफल वाला है ऐसा जानने पर भी जो दान न दे, उसे दानांतराय कर्म का उदय है।

(ii) कोई दाता हो। ~~उस दाता~~ वह दाता किसी व्यक्ति के मांगने पर भी, वस्तु होने पर भी न दे, वह लाभांतराय का उदय।

(iii) भोगने योग्य वस्तु होने पर भी जो भोग न सके, उसे भोगांतराय का उदय।

(iv) उपभोग के योग्य वस्तु होने पर भी जो भोग न सके, उसे उपभोगांतराय का उदय।

(v) सशक्त और पुष्ट शरीर वाले युवान में भी बल न होना, उसे वीर्यांतराय का उदय। इस वीर्यांतराय कर्म का एकेंद्रिय में संपूर्ण उदय होता है। द्विइंद्रिय से लेकर 12वें गुणस्थान के द्विचरमसमय तक इसका क्षयोपशम होता है।

भा. प्रकृति बंध कहा गया। अब स्थिति बंध को हम कहेंगे।

वि. (i) इस प्रकार उत्तर प्रकृति के 122 भेद हैं। उसमें से सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय को छोड़कर 120 प्रकृति का बंध होता है।

उत्तर प्रकृति के 122 भेद- ज्ञानावरणीय ५, दर्शनावरणीय ९, वेदनीय २, मोहनीय २८, आयुष्य ४, नाम ६७, गोत्र २, अंतराय ५। नामकर्म ६७ भेद- गति ४, आनुपूर्वी ४, जाति ५,

DATE / /

शरीर (5) [बंधन और संघात शरीर नाम कर्म के अंतर्गत], संस्थान-संहनन 6-6, अंगोपांग 3, विहायोगति 2, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, त्रस-स्थावर, सूक्ष्म-बादर, पर्याप्त-अपर्याप्त, प्रत्येक-साधारणशरीर, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, सुभग-दुर्भग, सुस्वर-दुःस्वर, आदेय-अनादेय, यश-अयश, निर्माण, तीर्थंकर।

→ अब. कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति-

सू. आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः 8-15॥

अ/आ. आदि से तीन कर्म प्रकृति ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय और[(i)] अन्तराय प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति 30 कोटाकोटी सागरोपम है।[(ii)]

टि. (i) सूत्र में च शब्द 'अन्तराय' के समुच्चय के लिए।

(ii) ~~इस~~ इन कर्म प्रकृतियों का अबाधा काल 3000 वर्ष है। जहाँ[से] कर्म उदयावलिका में आकर अनुभव किया जाए, वहाँ से लेकर कर्म क्षीण होने तक बाधाकाल। बंध से लेकर कर्म जहाँ तक उदय न हो वहाँ तक अबाधा काल।

सू. सप्ततिर्मोहनीयस्य 8-16॥

अ/आ. मोहनीय कर्म प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति 70 कोटाकोटी सागरोपम है।[(i)]

टि. (i) अबाधा काल 7000 वर्ष।

सू. नामगोत्रयोर्विंशतिः 8-17॥

अ/आ. नाम और गोत्र कर्म प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति 20 कोटा कोटी ~~सम~~ सागरोपम है।[(i)]

टि. (i) अबाधा काल 2000 वर्ष।

सू. त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाण्यायुष्कस्य 8-18॥

अ/आ. आयुष्य कर्म प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति 33 सागरोपम है।[(i)]

टि. (i) एक करोड़ पूर्व का तीसरे भाग अधिक ऐसे 33 सागरोपम आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति है। अबाधा काल- एक करोड़ पूर्व का तीसरा भाग।

→ अब. → कर्मों की जघन्य स्थिति-

सू. अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य 8-19॥

अ/भा. वेदनीय कर्म प्रकृति की अपर यानि जघन्य स्थिति 12 मुहूर्त है।

सू. नामगोत्रयोरष्टौ 8-20॥

अ/भा. नाम और गोत्र कर्म की प्रकृति की जघन्य स्थिति 8 मुहूर्त है।

सू. शेषाणामन्तर्मुहूर्तम् 8-21॥

अ/भा. वेदनीय-नाम-गोत्र कर्म प्रकृतियों से शेष ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय-आयुष्य-अन्तराय कर्म प्रकृतियों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

★ कर्मों की उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट एवं जघन्य स्थिति तथा अबाधा काल :-

	कर्म	उत्कृष्ट		जघन्य	
		स्थिति	अबाधा	स्थिति	अबाधा
1.	ज्ञानावरण 5	30 कोडा कोड़ी सागरोपम	3000 वर्ष		
2.	दर्शनावरण 9			~~जघन्य~~ अंतर्मुहूर्त (निद्रा पंचक सिवाय)	अंतर्मुहूर्त
3.	अंतराय 5				
4.	वेदनीय (2)				
	असाता	30 कोड़ाकोड़ी सागरो.	3000 वर्ष	पल्योपम के असंख्यभाग न्यून 3/7 सागरोपम	अंतर्मुहूर्त
	साता	15 कोड़ा कोड़ी सागरो.	1500 वर्ष	12 मुहूर्त	"
*	निद्रा पंचक	30 को. को. सागरो.	3000 वर्ष	पल्योपम के असंख्य भाग न्यून 3/7 सागरोपम	"
5.	गोत्र (2)				
	नीच	20 कोड़ाकोड़ी सागरो.	2000 वर्ष	पल्योपम के असंख्य भाग न्यून 2/7 सा.	"
	उच्च	10 कोड़ा कोड़ी सागरो.	1000 वर्ष	8 मुहूर्त	"
6.	आयुष्य (4)				
	देव - नरक	33 सागरोपम	1 क्रोड़ पूर्व का तीसरा भाग	10000 वर्ष	"
	मनुष्य - तिर्यंच	3 पल्योपम (पूर्व क्रोड़ के तीसरे	"	क्षुल्लक भव	"

DATE ___/___/___

7. मोहनीय (26)				
मिथ्यात्व मोहनीय	70 कोड़ा कोड़ी सागरो.	7000 वर्ष	पल्योपम के असंख्य भाग न्यून 1/7 सागरोपम	अंतर्मुहूर्त
अनंतानुबंधी कषाय	40 कोड़ा कोड़ी सागरो.	4000 वर्ष	पल्योपम के असंख्य भाग न्यून 4/7 सागरोपम	"
अप्रत्याखान कषाय	"	"	"	"
प्रत्याखानीय कषाय	"	"	"	"
संज्वलन क्रोध	"	"	2 मास	"
सं. मान	"	"	1 मास	"
सं. माया	"	"	1/2 मास	"
सं लोभ	"	"	अंतर्मुहूर्त	"
पुरुष वेद	10 कोड़ा कोड़ी सागरो.	1000 वर्ष	8 वर्ष	"
स्त्री वेद	15 कोड़ा कोड़ी सागरो.	1500 वर्ष	पल्योपम के असंख्य भाग न्यून 2/7 सागरोपम	"
नपुंसक वेद	20 कोड़ा कोड़ी सागरो.	2000 वर्ष	"	"
हास्य	10 कोड़ा कोड़ी सागरो.	1000 वर्ष	"	"
रति	"	"	"	"
अरति शोक भय जुगुप्सा	20 कोड़ा कोड़ी सागरो.	2000 वर्ष	"	"

8. नाम (67)	उत्कृष्ट स्थिति	अबाधा
मनुष्य गति, मनुष्य आनुपूर्वी	15 कोड़ा कोड़ी सागरोपम	1500 वर्ष
(i) नरक गति आदि 37	20 कोड़ा कोड़ी सागरोपम	2000 वर्ष
(ii) देव गति आदि 11	10 कोड़ा कोड़ी सागरोपम	1000 "
न्यग्रोध संस्थान, वज्रनाराच संहनन	12 "	1200 "
सादि संस्थान, नाराच संहनन	14 "	1400 "
कुब्ज संस्थान, अर्ध नाराच संहनन	16 "	1600 वर्ष
(iii) वामन संस्थानादि 8	18 "	1800 "
आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, तीर्थंकर	अंत: कोड़ा कोड़ी सागरोपम	अंतर्मुहूर्त

DATE / / 185

		जघन्य	
(iv)	मनुष्यगति आदि 53	पल्योपम के असंख्य भाग न्यून 2/7 सागरोपम	अंतर्मुहूर्त
(v)	देवगति आदि 10	पल्योपम के असंख्य भाग न्यून 2/7 सहस्र सागरोपम	"
	आहारकशरीर, आहारक अंगोपांग, तीर्थंकर	अंत: कोड़ा कोड़ी सागरोपम	"
	यशकीर्ति	8 मुहूर्त	"

(i) नरक गति, तिर्यग्गति, एकेन्द्रिय जाति, पञ्चेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, वैक्रिय शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, हुंक हुंडक संस्थान, औदारिक अंगोपांग, वैक्रिय अंगोपांग, सेवार्त संघयण, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, नरकानुपूर्वी, तिर्यगानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति, त्रस-स्थावर, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयश, निर्माण | 37

(ii) देवगति, देवानुपूर्वी, समचतुरस्र संस्थान, वज्रर्षभनाराच संहनन, प्रशस्त विहायोगति, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश | 11

(iii) वामन संस्थान, कीलिका संहनन, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण | 8

(iv) मनुष्य गति, तिर्यग्गति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक-तैजस-कार्मण शरीर, 6 संस्थान, औदारिक अंगोपांग, 6 संहनन, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, तिर्यग्-मनुष्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति, त्रस-स्थावर, शुभ-अशुभ, सुभग-दुर्भग, सुस्वर-दुःस्वर, सूक्ष्म-बादर, पर्याप्त-अपर्याप्त, प्रत्येक-साधारण, स्थिर-अस्थिर, आदेय-अनादेय, निर्माण, अयश | 53

(v) देवगति-मनुष्य गति, एक-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय जाति, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, नरक-देवानुपूर्वी | 10

↳ सूत्र 8-18, 8-19, 8-20 की टीका में |

भा. स्थिति बंध कहा गया। अनुभाव बंध को हम कहेंगे।

→ अब → रस बंध की व्याख्या -

DATE ___/___/___

सू. विपाकोऽनुभावः ८-२२॥

अ. कर्म का विपाक अनुभाव है।

भा. सभी प्रकृतियों का फल विपाकोदय अनुभाव (i) होता है। विविध प्रकार का पाक विपाक। वह (ii) उसी प्रकार भी होता है और अन्य प्रकार भी। (iii)

वि. (i) कर्म के फल का अनुभव - शुभ-अशुभ, तीव्र-मंद।

(ii) उस कर्म का विपाक, जिस प्रकार, जिस अध्यवसाय से, जितना रस बांधा गया, उसी प्रकार से अनुभव किया जाता है अथवा अन्य प्रकार से भी अनुभवा जाता है।

(iii) प्रकृति के पुद्गल विपाकी वि. ५ प्रकार - ४ प्रकार के कर्म में कोई कर्म पुद्गलों में ही फल देता है अर्थात् पुद्गलों को ही विविध प्रकार से परिणामित करता है, वह पुद्गल विपाकी कर्म। इन प्रकृतियों का फल आत्मा पुद्गलों द्वारा भोगता है। संहनन, संस्थान, वर्ण, स्पर्श, रस, गंध, अंगोपांग, शरीर ५ प्र, अगुरुलघु, पराघात, उपघात, उद्योत, आतप, इतर सहित प्रत्येक-स्थिर-शुभ।

(b) भव विपाकी - कोई प्रकृति भव द्वारा फल देती है, वह भव विपाकी। आयुष्य कर्म।

(c) क्षेत्र विपाकी - कोई कर्म अन्य क्षेत्र में फल देता है, वह। आनुपूर्वी।

(d) जीव विपाकी - कोई कर्म जीव को फल देता है, वह। e.g. ज्ञानावरणीयादि शेष सभी प्रकृति।

e.g. ज्ञानावरणीय कर्म जीव के ज्ञान को प्रगट नहीं होने देता।

→ अन्य प्रकार से जीव कैसे विपाक को अनुभवता है -

भा. कर्म के विपाक को अनुभव करता जीव कर्म के (i) निमित्त से ही अनाभोग वीर्य पूर्वक कर्म का संक्रम करता है। मूल प्रकृति से अभिन्न ऐसी सर्व प्रकृतियों में संक्रम होता है किंतु मूल प्रकृतियों में नहीं होता। क्योंकि बंध (ii) निमित्त और विपाक निमित्त से अन्य जातीय है।

वि. (i) उपयोग वाले जीव की चेष्टा, वह आभोग वीर्य है। उपयोग रहित आत्मा का सामर्थ्य, विशिष्ट क्रिया का परिणाम, वह अनाभोग वीर्य है। कर्म संक्रमण अनाभोग वीर्य द्वारा होता है।

(ii) सभी मूल प्रकृतियों का बंध निमित्त अलग-अलग है। जैसे ज्ञानावरण का तद्प्रदोषनिह्नव आदि, असद्वेदनीय का 'दुःखशोकतापादि'। इस कारण से मूल प्रकृति भिन्न जातीय है, अतः उनमें संक्रम नहीं होता। दूसरा कारण - उन मूल प्रकृतियों का विपाक निमित्त भी अलग है।

जैसे - ज्ञानावरण का क्षयोपशम विशेषग्राहि, दर्शनावरण सामान्यग्राहि इत्यादि।

भा. और उत्तर प्रकृतियों में दर्शन मोह[i] - चारित्र मोह[ii] का, सम्यग् मिथ्यात्व[iii] वेदनीय का, और आयुष्य[iv] का संक्रम नहीं होता। क्योंकि जात्यंतर[v] के अनुबंध वाला विपाक निमित्त अन्य जाति वाला है।

टी. (i) पूर्व में कहा सभी उत्तर प्रकृतियों का संक्रम होता है, ये उनमें से अपवाद हैं।

(ii) दर्शन मोह = दर्शन सप्तक = ५ अनंतानुबंधी कषाय + सम्यक्त्व मोहनीय + मिश्र मोहनीय + मिथ्यात्व मोहनीय। शेष अप्रत्याख्यानीय कषायादि चारित्र मोह हैं। उनमें दर्शन मोह और चारित्र मोह का परस्पर संक्रमण नहीं होता।

(iii) मिश्र मोहनीय का बंध न होने पर भी मिश्र का सम्यक्त्व मोहनीय में संक्रम होता है किंतु सम्यक्त्व मो. का मिश्र मो. में संक्रम नहीं होता। तथा सम्यक्त्व मो. और मिश्र मो. में मिथ्यात्व मोहनीय का संक्रम नहीं होता।

(iv) आयुष्य के ५ प्र. देव नरक तिर्यंच मनुष्य। इन चारों प्रकारों में परस्पर संक्रम नहीं होता।

(v) भावार्थ - विपाक जात्यंतर अनुबंध वाला है अर्थात् विपाक जात्यंतर के अनुसार होता है। कर्म की जाति भिन्न होती है तो विपाक भी भिन्न होता है। यहाँ दर्शन मोह, चारित्र मोह वि. के विपाक का निमित्त भिन्न होने से वे अन्य जाति वाली है। उनके विपाक के साथ आस्रव भी भिन्न होते हैं।

भा. अपवर्तन[i] तो सभी प्रकृतियों का होता है। वह आयुष्य कर्म के साथ कहा गया।

टी. (i) अपवर्तन यानि दीर्घ स्थिति को कम करना।

सू. स यथानाम ८-२३॥

अ. वह अनुभाव (रस) गति[i] नाम आदि के नाम अनुसार फल देता है।

भा. टी. (i) गति, जाति आदि भाव वाले जीव को ही ज्ञानावरणादि का उदय होता है इसलिए यहाँ गतिनाम शेष सभी कर्मों के उपलक्षण स्वरूप लिया है।

सू. ततश्च निर्जरा ८-२४॥

म. उसके बाद अर्थात् विपाक-फल के बाद कर्म की निर्जरा होती है।

भा. उस अनुभाव के बाद कर्म निर्जरा[i] होती है। निर्जरा, क्षय, वेदना इस प्रकार एकार्थक है।

DATE ___/___/___

यहाँ सूत्र में चशब्द अन्य हेतु की अपेक्षा वाला है, 'तपसा निर्जरा च' इस प्रकार कहा जाए।

हि. निर्जरा दो प्र.- (a) विपाकज - अर्थात् कर्मोदय से होनेवाली, संसार समुद्र में डूबते जीव को ~~अत्मा~~ विपाककाल में आए हुए शुभाशुभ कर्म की उस प्रकार फल के उपभोग से स्थिति क्षय होने पर जो कर्म की निवृत्ति, वह विपाकजा निर्जरा।

(b) अविपाकज - जो कर्म विपाक काल को प्राप्त नहीं हुआ उसे उपक्रम संबंधी क्रिया विशेष के सामर्थ्य से उदीरणा कर उदयावलिका में डालकर भोगना, वह अविपाकजा निर्जरा। Short में, विपाकजा निर्जरा यानि उदय ; अविपाकजा निर्जरा यानि उदीरणा।

भा. अनुभावबंध कहा गया, प्रदेशबंध को हम कहेंगे।

सू. नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाढस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेषु अनन्तानन्तप्रदेशाः 8-25॥

सु. नाम यानि कर्म के निमित्त से, सर्व ओर से, योग विशेष से, सूक्ष्म, एक क्षेत्र में अवगाढ, स्थिर, सभी आत्मप्रदेशों में अनंतानन्त प्रदेश वाले अनंत कर्म स्कंध बंधते हैं।

हि. अब→ यहाँ 8 प्रश्न हैं। उन 8 प्रश्नों के उत्तर इस सूत्र में देते हैं।

प्र.1 (i) कर्म पुद्गल किस कारण से बंधे जाते हैं?

भा. (i) नाम के प्रत्यय वाले पुद्गल बंधे जाते हैं। नाम है प्रत्यय इनका, वो ये नामप्रत्ययाः। नाम के निमित्त वाले, नाम के हेतु वाले, नाम के कारण वाले इस प्रकार अर्थ है।

हि. (i) नाम अर्थात् गति, जाति, शरीर आदि योग कर्म बंध के निमित्त हैं। यहाँ कुछ दूसरे भी अर्थ हैं - (a) अन्य आचार्य नामप्रत्यय यानि बंधन नाम कर्म कहते हैं। बंधन नाम कर्म नए ग्रहण किए हुए पुद्गलों को शरीर के अन्य पुद्गलों से जोड़ता है। (b) प्रत्यय यानि जो जान कराए वह प्रत्यय (प्रत्यायति इति प्रत्ययः) पुद्गल ज्ञानावरण, दर्शनावरणादि नाम से जाने जाते हैं अतः नाम से ही प्रदेशबंध के योग्य पुद्गलों का स्वरूप जाना जाता है।

प्र.2 पुद्गल को बांधता जीव पुद्गलों को एक दिशा प्रदेश से बांधता है अथवा सर्व दिशा प्रदेश से?

भा. (i) तिर्च्छी, ऊपर और नीचे, इस प्रकार सभी दिशाओं से पुद्गल बंधते हैं।

हि. (i) भावार्थ - सप्तमी के अर्थ में तस् प्रत्यय है। सर्व प्रदेशों से सर्व जीवप्रदेश जितने स्थान में रहे पुद्गलों को जीव तिर्च्छी 8 दिशा, ऊपर-नीचे 1-1 दिशा, सभी दिशाओं से ग्रहण

करता है।

प्र.३ वह बंध सभी जीवों में समान है कि असमान? अर्थात् सभी जीव समान पुद्गल ग्रहण करते हैं कि कम-ज्यादा भी ग्रहण करते है?

उ. (i) योगी विशेष से अर्थात् काय-वचन-मन की क्रिया योग के विशेष कर्म बंध होता है।

टी. योग यानि काया-मन-वचन की क्रिया, व्यापार। उस व्यापार का तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम ऐसे जो भेद हैं (विशेष हैं), उन भेद के कारण बंध भी प्रकृष्ट-मध्यम वि.भेद वाला होता है।

प्र.४ सूक्ष्म पुद्गल बंध योग्य हैं कि बादर?

उ. (i) सूक्ष्म पुद्गल बंधते हैं, बादर नहीं।

टी. (i) यहाँ सूक्ष्म का अर्थ बहुत सूक्ष्म लेना। अनंतानंत प्रदेश वाली औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, भाषा, प्राणापान, मनो वर्गणा को उल्लंघकर सूक्ष्म परिणाम वाली कर्म वर्गणा में भी ग्रहण योग्य पुद्गल बंधते हैं।

प्र.५ कहाँ रहे हुए पुद्गलों को जीव ग्रहण करता है? जिस आकाश प्रदेश में जो जीव प्रदेश है, उस जीव प्रदेश में वहीं रहे पुद्गल बंधते हैं या अन्य प्रदेश के भी पुद्गल बंधते हैं।

उ. (i) एक क्षेत्र में अवगाढ़ पुद्गल बंधते हैं, अन्य क्षेत्र में अवगाढ़ पुद्गल नहीं बंधते हैं।

टी. (i) भावार्थ- जीव प्रदेशों के साथ एक क्षेत्र में रहे स्कंध ही रागादि स्नेह गुण से आत्मा में लगते हैं क्योंकि आत्मा के आश्रय बिना रहे पुद्गलों में रागादि स्नेह भाव का परिणाम नहीं होता।

प्र.६ स्थिति परिणति वाले पुद्गल बंधते हैं कि गति परिणति वाले?

उ. (i) स्थिति पुद्गल बंधते हैं, गति को प्राप्त पुद्गल नहीं बंधते हैं।

टी. (i) भाष्य में च शब्द अवधारणार्थ है। अर्थात् स्थिर पुद्गल ही बंधते हैं, वेग वाले पुद्गल वहाँ से पसार हो जाते हैं।

प्र.७ आत्मा के सर्व प्रदेशों में पुद्गल बंधते हैं कि कोई प्रदेश में ही बंधते हैं?

उ. (i) सभी प्रकृतियों के पुद्गल सर्व आत्म प्रदेशों में बंधते हैं। (ii) प्रत्येक आत्म प्रदेश अनंत कर्म प्रदेशों से (स्कंधों) बंधा हुआ है।

टी. (i) सभी आत्म प्रदेशों में आस्रव समान होने से संपूर्ण आत्मा में पुद्गल बंधते हैं।

(ii) असंख्य प्रदेश रूप आत्मा में एक एक प्रदेश ज्ञानावरण के अनंत स्कंधों से बंधा हुआ है। इसी प्रत्येक प्रकृति के अनंत स्कंध प्रत्येक प्रदेश में बंधे हुए हैं। भाष्य में प्रदेश शब्द स्कंध अर्थ वाला है क्योंकि प्रकृष्टा देशाः संन्ति यस्मिन् स प्रदेश, ऐसी व्युत्पत्ति होती है।

प्र.8 एक साथ कितने प्रदेश वाले स्कंध का बंध होता है - संख्य, असंख्य, अनंत कि अनंतानंत ?

भा. अनंतानंत प्रदेश वाले कर्म ग्रहण के योग्य पुद्गल बंधते हैं, संख्य, असंख्य या अनंत प्रदेश वाले नहीं। क्यों? क्योंकि वैसे प्रदेश ग्रहण के अयोग्य हैं।

भा. यह प्रदेश बंध होता है। 8 प्रकार के ये सभी कर्म पुण्य और पाप रूप हैं। उसमें -

सू. सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् 8-26॥

अ./भा. भूतव्रत्यनुकंपादि हेतु वाला सद्वेद्य, केवलिश्रुतादि के वर्णवादादि हेतु वाला सम्यक्त्व मो, हास्य वेदनीय, रति वेदनीय, पुरुषवेदनीय, शुभ आयुष्य (मनुष्य और देव), शुभ नाम कर्म (i) गतिनामादि, शुभ गोत्र यानि उच्चगोत्र इस प्रकार ये 8 प्रकार के कर्म पुण्य (ii) हैं। इससे अन्य पाप (iii) हैं। (iv)

टि. (i) गति नामादि में 37 प्रकृति पुण्य।

(ii) कम्मपयडी ग्रंथ में 42 पुण्य प्रकृति होती है। उनमें सम्यक्त्व मो, हास्य, रति और पुरुषवेद का ग्रहण नहीं है।

(iii) पुण्य और पाप की प्रकृतियाँ सू. 6-5 में लिखी है।

(iv) केवलज्ञानावरण सिवाय 5 ज्ञानावरण, 5 अंतराय, 9 नोकषाय, 4 संज्वलन कषाय, अवधिदर्शन, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन ये प्रकृतियाँ देश घाती हैं। इनके सिवाय शेष प्रकृतियाँ सर्व घाती हैं। 4 कर्म ही घाती हैं - ज्ञान-दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय।

कोई आचार्य कहते हैं कि सम्यक्त्व-हास्य-रति-पुरुषवेद मोहनीय कर्म घाती होने से पाप हैं। कोई कहते हैं कि जो जीव को प्रीति करे वह पुण्य, तो ये चारों प्रकृतियाँ भी जीव को प्रीति उत्पन्न करती है।

इति श्रीतत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसङ्ग्रहेऽष्टमोऽध्यायः।

समाप्तिवासर: - आसो वद 9, 2072।

स्थान - Kuvala

DATE __/__/__

नमो नमः श्रीगुरु राम-जगच्चन्द्रसूरये ॥

DATE / /

ग्रंथ

S. No.		Pg. No.
1.	तत्त्वार्थ सूत्र अ. 9,10	1
2.	सर्वार्थसिद्धि	68
3.	तत्त्वार्थ सूत्र अ. 5	77
4.	धर्मरत्नप्रकरण	88
5.	बत्रिंशिका चतुष्क	145

नमो नमः श्रीगुरुराम-जगच्चन्द्रसूरये॥

मा.व. 9, 2072
Kuvale

DATE __/__/ 1.

नवमोऽध्यायः

भा. बंध कहा गया। संवर को हम कहेंगे।

सू. आस्रवनिरोधः संवरः 9-1॥

अ. आस्रव का निरोध संवर है।

भा. कहे अनुसार काय योगादि 42 प्रकार के आस्रव का निरोध संवर[i] है।[ii]

टी. (i) आत्मा के कर्मग्रहण के हेतु रूप परिणाम का अभाव संवर है।

(ii) संवर 2 प्र.- (a) सर्व संवर - बादर और सूक्ष्म योग निरोध के समय (14वें गुणस्थान में)।
(b) देश संवर - चारित्र की प्राप्ति से जीव देश संवर के परिणाम वाला होता है।

→ अब:- देश संवर का ही प्रतिपादन करते हैं-

सू. स गुप्ति-समिति-धर्मा-ऽनुप्रेक्षा-परीषहजय-चारित्रैः 9-2॥

अ. वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र द्वारा होता है।

भा. वो यह संवर इन गुप्त्यादि उपायों द्वारा होता है। और दूसरा-

सू. तपसा निर्जरा च 9-3॥

अ. तप से निर्जरा और संवर होता है।

भा. तप 12 प्र. का कहा जाएगा (9-19/20)। उससे संवर और निर्जरा होती है।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है- आपके द्वारा कहा गया कि गुप्त्यादि उपायों द्वारा संवर होता है। उसमें गुप्त्यादि क्या है? यहाँ कहते हैं-

सू. सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः 9-4॥

अ. मन-वचन-काया इन योगों का सम्यक् निग्रह करना गुप्ति है।

भा. सम्यग् यानि प्रकारों से जानकर[i] और सम्यग्दर्शन पूर्वक स्वीकार[ii] कर तीन प्र. के योग का निग्रह करना गुप्ति है। काय गुप्ति, वचन गुप्ति, मनोगुप्ति इस प्रकार 3 योग है।

टी. (i) काय योग के औदारिकादि, मन और वचन योग के सत्य-असत्यादि भेदों को आगम

DATE ___/___/___

से जानकर

(ii) इस प्रकार ये योग कर्म बंध के हेतु हैं, इस प्रकार ये योग कर्म निर्जरा के हेतु हैं; इस प्रकार श्रद्धा पूर्वक समझकर, स्वीकार कर।

भा. उसमें (i) शयन, आसन, आदान-निक्षेप, स्थान, चंक्रमण में काया की चेष्टा का नियम काय गुप्ति है।

टी (i) शयन- रात्रि में ही, ग्लानादि को छोड़कर दिन में नहीं। रात्रि में भी प्रथम प्रहर बीत जाने पर गुरु को पूछकर प्रमाणयुक्त वसति में, एक साधु की उठाथ जगह में. प्रमार्जना कर, भूमि- संथारा- उत्तरपट्टा- शरीर को पूंजकर, सामायिक- नमस्कार कर, उल्टी भुजा का तकिया बनाकर, जानु सिकोड़कर, प्रमार्जित भूमि पर चरण रखकर, फिर से संकोच या विस्तार के समय पूंजकर, अत्यंत तीव्र निद्रा से न सोना। इस प्रकार प्रत्येक क्रियाओं में चक्षु से देखकर, रजोहरण से पूंजकर चेष्टा करना।

भा. याचना, पृच्छना, प्रश्न-(i) व्याकरणों में वचन का नियम अथवा मौन ही वाग्गुप्ति है।

टी (i) कोई गृहस्थ धर्म पूछे तो पदार्थ को प्रगट करना यानि व्याकरण।

भा. सावद्य संकल्प का निरोध, कुशल संकल्प, अथवा कुशल- अकुशल संकल्प को निरोध ही मनोगुप्ति है।(i)

टी (i) प्र. (सूत्र 9-2 टीका) गुप्ति संवर का करण कैसे होती है? उ. दुष्ट अध्यवसायों से दूर होना अथवा आत्मा में लीन होने रूप ये गुप्ति से कर्म का आस्रव अटक जाता है।

→ अब- चेष्टा वाले जीव को भी संवर की सिद्धि के लिए समिति कहते हैं-

सू. ईर्याभाषैषणाऽऽदाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः 9-5॥

अ. ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप, उत्सर्ग ये 5 समिति हैं।

भा. सम्यक् ईर्या, सम्यक् भाषा, सम्यग् एषणा, सम्यग् आदान-निक्षेप, सम्यग् उत्सर्ग इस प्रकार 5 समिति हैं। उसमें आवश्यक के लिए ही संयम के लिए सभी ओर युगमात्र निरीक्षण से युक्त मुनि की धीरे-धीरे चरण रखने स्वरूप गति ईर्या समिति है। हित-मित- असंदिग्ध(i)- अनवद्य अर्थ और नियत बोलना भाषा समिति है। अन्न-पान-रजोहरण-पात्र-वस्त्रादि धर्म साधनों के और आश्रय (वसति) के उद्गम- उत्पादन- एषणा दोषों का वर्जन एषणा समिति

है। रजोहरण - पात्र - वस्त्रादि का और पीठ - फलकादि का आवश्यक के लिए देखकर और प्रमार्जन कर लेना - रखना आदाननिक्षेपणा समिति है। स्थावर और जंगम जंतु से रहित स्थंडिल भूमि में निरीक्षण कर और प्रमार्जना कर मूत्र - पुरीषादि का त्याग करना उत्सर्ग समिति है।(iii)

टी. (i) असंदिग्ध - अर्थ और वर्ण की प्रतिपत्ति में संदेहकारी न हो।

(ii) (सू. 9-2 टीका) समिति क्रिया रूप है और गुप्ति भी सम्यक् क्रिया अथवा निव्यापार स्वरूप है। ईर्या - आदान निक्षेप - उत्सर्ग समिति कायव्यापार अंतर्गत है। एषणा समिति मनोव्यापार अंतर्गत है। भाषा समिति वाणी व्यापार रूप है। अतः समिति भी संवर का करण है।

सू. उत्तमः क्षमा-मार्दवाऽऽर्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्त्यागाऽऽकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः 9-6॥

प्र. उत्तम ऐसे क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य धर्म(ii) हैं।

टी. (i) (सू. 9-2 टीका) नरकादि दुर्गति में गिरने से धारण करने वाला धर्म।

भा. इस प्रकार ये 10 यति के साधु धर्म उत्तम(ii) गुण के प्रकर्ष से युक्त होते हैं।

टी. (i) 'उत्तम' पद ग्रहण गृहस्थ धर्म के व्यवच्छेद के लिए है। मुनि सभी अवस्था में क्षमा, मृदुता, आदि को धारण करते हैं। इस प्रकार के प्रकृष्ट गुण गृहस्थ के नहीं होते। उत्तम धर्म ही संवर है।

भा. उसमें क्षमा, तितिक्षा, सहनशीलता, क्रोध निग्रह इस प्रकार एकार्थक हैं। वह क्षमा(ii) कैसे की जाए इस प्रकार यदि कोई पूछे तो कहा जाता है - आत्मा में क्रोध के निमित्त के भाव चिन्तन से और अभाव चिंतन से। दूसरों द्वारा प्रयुक्त क्रोध के निमित्त के स्वयं में भाव चिंतन अथवा अभाव चिंतन से क्षमा करने योग्य है। भाव चिंतन यानि मुझमें ये दोष विद्यमान हैं, तो यहाँ यह झूठ क्या बोल रहा है, इस प्रकार क्षमा करना चाहिए। अभाव चिंतन से भी - मुझमें ये दोष विद्यमान नहीं है, जिन्हें यह अज्ञान से बोल रहा है, इस प्रकार क्षमा करना चाहिए। और दूसरा - क्रोध के दोषों के चिंतन से क्षमा

DATE ___/___/___

करना चाहिए। क्रुद्ध व्यक्ति को विद्वेष - आसादन - स्मृतिभ्रंश - व्रतलोपादि दोष होते हैं। और दूसरा - बाल स्वभाव चिंतन से, परोक्ष - प्रत्यक्ष आक्रोश - ताड़न - मारण - धर्मभ्रंश की उत्तर - उत्तर रक्षा के लिए क्षमा करना चाहिए। बाल यानि मूढ। परोक्ष में आक्रोश करते बाल पर क्षमा ही करना चाहिए, बाल तो इस प्रकार के स्वभाव वाले ही होते हैं; और यह भाग्य से ही परोक्ष में मुझ पर आक्रोश करता है, प्रत्यक्ष नहीं; इस प्रकार लाभ ही मानना चाहिए। प्रत्यक्ष में आक्रोश करते बाल पर भी क्षमा करना चाहिए, यह तो बाल = मूढों में होता ही है, भाग्य से मुझ पर प्रत्यक्ष आक्रोश करता है किंतु ताड़न नहीं करता है, मूढ जीवों में यह भी होता है इस प्रकार लाभ ही मानना चाहिए। ताड़न करते हुए बाल पर भी क्षमा करना चाहिए, बाल जीव इस प्रकार के स्वभाव वाले ही होते हैं और यह भाग्य से मुझे ताड़न करता है, प्राणों से अलग नहीं करता, इस प्रकार मूढों में यह भी होता है। प्राणों से अलग करते बाल पर भी क्षमा करना चाहिए, यह भाग्य से मुझे प्राणों से अलग करता है, धर्म से भ्रष्ट नहीं करता इस प्रकार क्षमा करना चाहिए। यह भी मूढों में होता है इस प्रकार लाभ ही मानना चाहिए। और दूसरा - स्वकृत कर्म के फल के अभ्यागम से - यह मेरे स्वयं के किए हुए कर्मों का फल ही सामने आया है, दूसरा व्यक्ति तो निमित्त मात्र है इस प्रकार क्षमा करना चाहिए। और दूसरा - (iii) अनायास वि. क्षमा के गुणों को याद कर क्षमा ही करना चाहिए, इस प्रकार क्षमा धर्म है।

ही. (i) क्षमा के आलंबन Short में ① भाव - अभाव चिंतन ② क्रोधदोष चिंतन ③ बाल स्वभाव चिंतन ④ स्वकृतकर्म का फल ⑤ क्षमा गुण चिंतन।

(ii) विद्वेष - दूसरे को मारता है।
आसादन - गुर्वादि की आशातना।
स्मृतिभ्रंश - मूल से वह सूत्र भी भूले, अर्थ भी ग्रहण करे, व्रतभंग भी करे।

(iii) आयास यानि आँखे लाल होना, पसीना होना इत्यादि। अनायास = स्वस्थता।

भा. नीचैर्वृत्ति (i) और अनुत्सेक मार्दव का लक्षण है। मृदु भाव मृदुकर्म मार्दव है अर्थात् मद का (ii) निग्रह और मान का विघात। उसमें (और) मान के

DATE __/__/ 5

ये ४ स्थान हैं। वह इस प्रकार- जाति, कुल, रूप, (iii) ऐश्वर्य, (iv) विज्ञान, श्रुत, लाभ, वीर्य। इन जात्यादि ४ मदस्थानों से मत्त जीव, परनिंदा और आत्मप्रशंसा में रत, तीव्र अहंकार से उपहत मति वाला इसलोक और परलोक में अशुभ फल वाले (v) अकुशल कर्मों को इकट्ठा करता है। तथा उपदेश किए जाते कल्याण को भी स्वीकारता नहीं है। इसलिए इन मदस्थानों का निग्रह मार्दव धर्म है।

हि.
(i) नीचैर्वृत्ति= अभ्युत्थान, आसनदान, अंजलिग्रह आदि योग्य विनय करना।
अनुत्सेक= चित्त का गर्व रहित परिणाम।

(ii) मद का निग्रह= उदय में आए हुए मद को निष्फल करना।
मानविघात= मूल से मान को उखाड़ फेंकना।

(iii) ऐश्वर्य= धन (सोना-चांदी-रत्न-गाय-भैंसादि), धान्य (तिल-गेहूँ--चावल-मूँग वि.) की संपत्ति का प्रभाव। प्रशमरति में ऐश्वर्य को 'बल' संज्ञा से कहा गया है। बल ३प्र.- शरीर-स्वजन-द्रव्य। शरीर का बल यहाँ 'वीर्य' रूप में साक्षात् ग्रहण किया गया है।

(iv) विज्ञान यानि ५प्र. की बुद्धि-
(a) औत्पातिकी- पूर्व में नहीं देखे हुए या सुने हुए ऐसे प्रसंग में तुरंत निर्णय होना। eg. उपदेशपद में रोहक का दृष्टांत।
(b) वैनयिकी- विनय करने के अभ्यास से उत्पन्न। यह शास्त्र के अर्थ को ग्रहण करने वाली है। eg. पुत्रागमन और काली हाथीनी हस्तिनी को जानने वाला नैमित्तिक।
(c) कर्मजा- आचार्य के उपदेश बिना जिसका ज्ञान हो वह कर्म। उसको बार-बार उपयोग पूर्वक अभ्यास से उत्पन्न। eg. सोनी, किसान, तंतुवाय इत्यादि।
(d) पारिणामिकी- वय के परिपाक, अनुभवों से उत्पन्न होने वाली, हेतु-दृष्टांतादि पंचावयव को अनुसरण करने वाली। eg. अभयकुमार।

(v) अकुशल कर्म भी कभी संक्रमणादि शुभ फल देते हैं, अतः 'अशुभफल' पद का साक्षात् ग्रहण किया है।

भा. भावविशुद्धि और अतिसंवर आर्जव के (i) लक्षण हैं। ऋजु भाव अथवा ऋजु कर्म आर्जव है अर्थात् भाव दोष का वर्जन। भाव दोष से युक्त जीव (ii) उपाधि और निकृति से संयुक्त होता है तथा इसलोक और परलोक में अशुभ फल

DATE ___/___/___

वाला अकुशल्य कर्म बांधता है। तथा उपदेश किए जाते हुए कल्याण को भी स्वीकारता नहीं है। इसलिए आर्जव धर्म है।

द्वि. (i) भाव यानि मन-वचन-काया। उनकी विशुद्धि यानि सरलता।

(ii) उपधि= स्वयं की माया को ढँकना।

निकृति= दूसरे की बुद्धि को ठगकर स्वयं की माया को सफल करना।

भा. अत्यंत शौच का लक्षण है। शुचि भाव और शुचि कर्म शौच है। भाव विशुद्धि यानि निष्कलंकता अर्थात् धर्म के साधनों में भी आसक्ति त्याग। अशुचि वाला पुरुष, भाव कल्मष से युक्त इस लोक और परलोक में अशुभ फल वाले कर्मों को बांधता है और उद्दिष्ट कल्याण को भी स्वीकारता नहीं है। इसलिए शौच धर्म है।

भा. सत् (i) अर्थ में होने वाला वचन सत्य अथवा जीवों के लिए हित रूप सत्य। वह अनृत (ii), अपरुष, अपिशुन, अनसभ्य, अचपल, अनावित्य, अविरल, असंभ्रांत, प्रचुर, अभिजात, असंदिग्ध, स्फुट, औदार्य युक्त, अग्राम्यपदार्थाभिव्याहार, अशीघ्र, अरागद्वेषयुक्त होता है। सूत्रमार्गानुसार प्रवृत्तार्थ (iii), अर्थ्य, अर्थिजन के भाव ग्रहण में समर्थ, आत्म-पर को अनुग्रह करने वाला, उपधि बिना, देशकालोपपन्न, अनवद्य, अर्हत् शासन में प्रशस्त, यत, मित, याचन, पृच्छन, प्रश्न व्याकरण इस प्रकार सत्य धर्म है।

द्वि. (i) सत् शब्द प्रशस्त अर्थ में।

(ii) -अनृत- न अनृत। अनृत = सत्य अर्थ को छुपाना, असत्य को प्रगट करना।

-अपरुष- न परुष। परुष = परपीड़ाकारी, कठोर, निष्ठुर।

-अपिशुन- न पिशुन। पिशुन = प्रीति का विच्छेद करने वाला।

-अनसभ्य- न असभ्य। न सभ्य असभ्य। सभा के योग्य सभ्य। जो पंडितों की सभा में बोलने योग्य न हो वह असभ्य।

-अचपल- न चपल। चपल यानि विचारे बिना बोलना।

-अनावित्य- न आवित्य। आवित्य यानि कलुष वचन, कषाय युक्त वचन। अनावित्य यानि प्रसन्नता युक्त वचन।

- अविरल- न विरल। विरल यानि अटक के बोलना। अटक कर बोलने से

DATE __/__/ 7

सुनने वाले को रस का अभाव होता है। अविरल यानि अखंड धारा वाला।
- असंभ्रान्त- न संभ्रान्त। संभ्रान्त यानि त्रास करने वाला, बहुत जल्दी में बोला गया वचन।
- प्रचुर- सुख पूर्वक अर्थ बोध करे वह।
- अभिजात- स्नेह और विनय युक्त वचन।
- असंदिग्ध- शंका का बिच्छेद करने वाला।
- स्फुट- निश्चित अर्थ वाला, स्पष्ट।
- औदार्य युक्त- गंभीर अर्थ वाला, उछृताई रहित।
- ग्राम्यपदार्थाभिव्याहार- ग्राम्य यानि विद्वानों को जो अप्रीतिकर हो। विवक्षित पदार्थों को कहने वाला पदार्थाभिव्याहार। जो वचन विद्वानों को प्रिय हो और उनके विवक्षित पदार्थ को कहे, वह।
- अशीघ्र- न शीघ्र। शीघ्र यानि परनिंदा-स्वप्रशंसा युक्त। मात्र मुद्दे की कहने वाला।

(iii) - सूत्रमार्गानुसारप्रवृत्तार्थ- गणधरादि रचित सूत्र के उत्सर्ग-अपवाद रूप मार्ग अनुसार अर्थ प्रवृत्त करने वाला।
- अहर्य= अर्थ युक्त।
- अर्थीजनभावग्रहणसमर्थ- अर्थीजन यानि सुनने वाले। उनके भाव यानि चित्त। उनके चित्त के आकर्षण में समर्थ।
- निरुपधा= माया रहित।
- देशकालोपपन्न= जिस देश में जो अर्थ प्रसिद्ध हो, वह देशोपपन्न वचन। इसी प्रकार अवसर के उचित वचन कालोपपन्न।
- यत= सावधान होकर मुहपत्ति के साथ बोलना।
- याचन= भक्तग्रहादि माँगना।
- प्रच्छन= स्वयं पूछना।
- प्रश्नव्याकरण= दूसरे द्वारा पूछे हुए प्रश्न के उत्तर देना।

(iv) योग का निग्रह करना संयम है वह 17 प्र. का है। वह इस प्रकार- पृथ्वीकाय संयम, अप्काय संयम, तेजस्काय संयम, वायुकाय संयम, वनस्पतिकाय संयम, द्वीन्द्रिय

DATE ___/___/_____

संयम, त्रीन्द्रिय संयम, चतुरिन्द्रिय संयम, पंचेन्द्रिय संयम, प्रेक्ष्य (ii) संयम, उपेक्ष्य संयम, अपहृत्य संयम, प्रमृज्य संयम, काय संयम, वाक् संयम, मन संयम, उपकरण संयम इस प्रकार संयम धर्म है।

टी. (i) पृथ्वीकाय से पंचेंद्रिय तक मन-वचन-काया से करण-कारण-अनुमोदन से जीवों का संघट्ट-परितापादि का परिहार करना।

(ii) प्रेक्ष्य संयम- प्रत्येक क्रिया देख-देखकर करने पूर्वक संयम में जुड़ना
उपेक्ष्य संयम- शास्त्रोक्त क्रिया में व्यापार और गृहस्थों को उनकी क्रिया में न जोड़ने पर, उदासीन रहने पर संयम।
अपहृत्य संयम- चारित्र में अनुपकारक अतिरिक्त वस्त्र पात्रादि को छोड़कर संयम
प्रमृज्य संयम- रजोहरण से प्रमार्जना कर बैठना आदि कार्य करना। शुद्ध भूमि से (आम)। अशुद्ध भूमि में जाने-आने पर पैर का प्रमार्जनादि।
काय संयम- अनुपयोगी क्रिया से निवृत्ति, शुभ क्रिया में प्रवृत्ति।
वाक् संयम- हिंसक-परुषादि वचन से निवृत्ति, शुभ भाषा में प्रवृत्ति।
मन संयम- अभिद्रोह, अभिमान, ईर्ष्यादि से निवृत्ति और धर्मध्यानादि में प्रवृत्ति।
उपकरण संयम- अजीवकाय पुस्तकादि संयम।

भा. तप 29। वह आगे कहा जाएगा। प्रकीर्णक तप अनेक प्रकार का है। वह इस प्रकार- यवमध्य और वज्रमध्य (i) चंद्र प्रतिमा दो हैं, कनकावली (ii)-रत्नावली (iii)-मुक्तावली (iv) तीन हैं, सिंह (v) क्रीड़ित तप दो हैं, सप्त-सप्तसप्तमिकादि (vi) 5 प्रतिमा होती हैं, भद्रोत्तर (vii), वर्धमान (viii) आयंबिल, सर्वतोभद्र (ix) तप इत्यादि। तथा 12 भिक्षु प्रतिमा मासिकी आदि, ~~1 एक~~ 7 मासिकी तक 7 प्रतिमा, 3 सप्तरात्रिकी, 1 अहोरात्रिकी, 1 रात्रिकी।

टी. (i) चंद्र प्रतिमा- चंद्र की कला की वृद्धि-हानि अनुसार कवल के नियम पूर्वक होती है। उसके 2 भेद- यवमध्य और वज्रमध्य। (a) यवमध्य- जौ ○ की तरह बीच के दिनों में कवल ज्यादा, आस-पास कम। यह सुद। से शुरू होकर अमावस्या तक होती है। सुद। को एक कवल से शुरू कर 1-1 कवल बढ़ाते हुए पूनम को 15 कवल, उसी तरह 1-1 हानि से अमावस्या को 1 कवल वापरना। (b) वज्रमध्य ⋈- वज्र की तरह बीच में कवल कम। यह वद। से शुरू होकर पूनम तक होती है। वद। से 15 कवल में 1-1 हानि से अमावस्या तक 1 कवल वापरना, सुद। को भी 1 कवल, पूनम तक 1-1 वृद्धि पूर्वक 15

DATE __/__/9

कवल तक बापरना।

(ii) कनकावली तप-

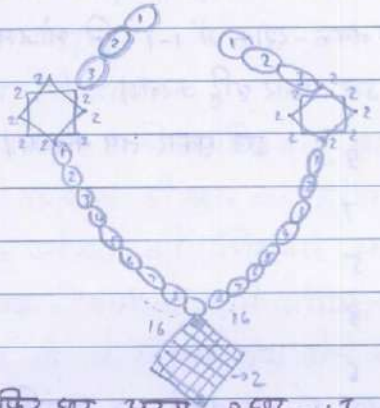

पहला उपवास, फिर छट्ठ - अट्ठम - 8 छट्ठ - 1उ., 2उ. 3उ. 4उ. 5उ. .... 16उ. - 34 छट्ठ - 16उ, 15उ, 14उ, 13उ, ... 1उ. - 8 छट्ठ - अट्ठम - छट्ठ - उपवास।

कुल उपवास 384 + 88 पारणे = 472 दिन।

प्रथम बार में पारणे सर्व प्रकार के आहार से, द्वितीय बार में विगई रहित, तृतीय बार में अलेपकृत् द्रव्य, चतुर्थ बार में आयंबिल से पारणा करना। इस प्रकार कुल 5 साल, 2 महिने, 28 दिन है।

(iii) ~~रत्नाव~~ रत्नावली तप- स्थापना कनकावली तप अनुसार, मात्र छट्ठ की जगह अट्ठम करना → उ. - छट्ठ - अट्ठम - 8 अट्ठम - 1उ. 2उ. ... 16उ. - 34 अट्ठम - 16उ. 15उ. .... 1उ. - 8 अट्ठम - अट्ठम - छट्ठ - उपवास। 434 उ. + 88 पारणे = 522 दिन।

(iv) मुक्तावली तप- 1उ. + छट्ठ - 1उ. + अट्ठम - 1उ. + 4उ. - 1उ. + 5उ. .... 1उ. + 16उ. - 16उ. + 15उ. - 15उ. + 14उ. .... 2उ. + 1उ.। कुल उपवास 360।

(v) सिंह विक्रीड़ित तप- 29 @ लघुसिंह विक्रीड़ित- उ. + छट्ठ, उ. + अट्ठम - 2उ. - 4उ, 3उ. - 5उ, 4उ. - 6उ, 5उ. - 7उ, 6उ. - 8उ, 7उ. - 9उ, 8उ, 9उ. - 7उ, 8उ. - 6उ, 7उ. - 5उ, 6उ - 4उ, 5उ. - 3उ, 4उ - 2उ ... 2उ. - 1उ.। 6 महिने और 7 दिन तप, 33 पारणे।

⑥ महासिंह विक्रीड़ित- 8 की जगह 16उ. तक चढ़ना और उतरना। 1 वर्ष, 6 मास, 18 दिन।

(vi) ~~सप्तसप्तमिका, अष्टअष्टमिका, नवनवमिका~~

DATE __/__/____

(vi) सप्तसप्तमिका, अष्टाष्टमिका, नवनवमिका और दशदशमिका, ये ५ प्रतिमाएँ हैं। उसमें प्रथम प्रतिमा में अहोरात्र के ७ सप्तक हैं, द्वितीय में ८ अष्टक हैं, तृतीय में ९ नवक हैं, चतुर्थ में १० दशक होते हैं अर्थात् क्रमशः ४९, ६४, ८१, १०० दिन होते हैं। सभी प्रतिमाओं में पहले सप्तक - अष्टक - नवक - दशक में १-१ दत्ति भोजन, द्वितीय सप्तक-अष्टक - नवक - दशक में २ दत्ति, इस प्रकार वृद्धि करना।

(vii) भद्रोत्तर तप- 5 6 7 8 9 इस प्रकार तप करना।

8 9 5 6 7

6 7 8 9 5

9 5 6 7 8

7 8 9 5 6

(viii) नमक बिना के चावल और चावल का मांड वापरे, वह आयंबिल। वर्धमान आयंबिल तप प्रसिद्ध है। कुल १४ वर्ष, ३ मास, २० दिन।

(ix) सर्वतोभद्र तप - २५ (a) लघु- 1 2 3 4 5

4 5 1 2 3

2 3 4 5 1

5 1 2 3 4

3 4 5 1 2

इस प्रकार ३.७५, पारणे २५। ३ मास, १० दिन।

(b) महा - १ से ७३ तक करना।

भा- बाह्य-अभ्यंतर उपाधि, शरीर, अन्न पानादि के आश्रय वाले भाव दोष का परित्याग त्याग है।

द्र. उ) उपधि को मूर्च्छा रहित होकर धारण करे तथा शोभादि के लिए धारण न करे।

भा. शरीर - धर्मोपकरणादि में निर्ममत्व आकिंचन्य है। व्रत के परिपालन के लिए, ज्ञान की अभिवृद्धि के लिए और कषाय के परिपाक के लिए गुरुकुलवास ही ब्रह्मचर्य है।

द्र. उ) मनोज्ञ - अमनोज्ञ विषयों में राग - द्वेष त्याग ब्रह्मचर्य है किंतु मैथुन की प्रधान से विवक्षा है।

(ii) परिपाक यानि परिणति, उपशम, क्षय

प्रा. अस्वातन्त्र्य, गुरु अधीनत्व, गुरुनिर्देशस्थायित्व इस प्रकार एकार्थक हैं। इसलिए ५ आचार्य कहे गए हैं- प्रव्राजक, दिगाचार्य, श्रुतोद्देष्टा, श्रुतसमुद्देष्टा, ~~आम्न~~ आम्नाय अर्थ वाचक।

ई. प्रव्राजक = दीक्षा देने वाले।

दिगाचार्य = सचित्त- अचित्त- मिश्र वस्तु की अनुज्ञा देने वाले।

श्रुतोद्देष्टा = जो पहले से ही श्रुत का उद्देश करते हैं।

श्रुतसमुद्देष्टा = जो श्रुत को स्थिर कर समुद्देश तथा अनुज्ञा करे।

आम्नायार्थवाचक = आम्नाय यानि आगम। आगम के अर्थ कहने वाले।

प्रा. उस ब्रह्मचर्य के ये विशेष गुण होते हैं- अब्रह्म विरतिव्रत की यथोक्त भावना और इष्ट स्पर्श-रस-गंध-विभूषा में अनभिनंदी पन।

सू. अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाश्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यात तत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ९-७॥

अ. अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, आश्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि-दुर्लभ और धर्मस्वाख्यात इस प्रकार ये १२ तत्त्व चिंतन रूप अनुप्रेक्षा हैं।

प्रा. ये १२ अनुप्रेक्षा होती हैं।

उसमें शरीर-शय्यासन वस्त्रादि बाह्य-अभ्यंतर द्रव्य और सभी संयोग अनित्य हैं, इस प्रकार विचारे। इस प्रकार विचारते हुए इस जीव को उनमें राग नहीं होता, 'उनके वियोग से उत्पन्न दुःख मुझे न हो' इस प्रकार अनित्य अनुप्रेक्षा है।

ई. शरीर जीव प्रदेशों द्वारा व्याप्त होने से अभ्यंतर द्रव्य है, अन्य सभी बाह्य द्रव्य।

प्रा. जिस प्रकार आश्रय बिना, जन से रहित ऐसे वृक्ष के पीछे भूख से पीड़ित, बलवान् तथा मांस भक्षी सिंह द्वारा पकड़े हुए हिरण के बच्चे का कोई शरण नहीं है, इस प्रकार जन्म-जरा-मरण-व्याधि-प्रिय का वियोग-अप्रिय का संयोग-इच्छित वस्तु का अत्याग-दारिद्र्य-दौर्भाग्य-दौर्मनस्य-मरणादि से उत्पन्न दुःख से हत जीव का संसार में शरण नहीं है,

DATE __/__/____

इस प्रकार विचारे। इस प्रकार विचारते जीव को 'मैं हमेशा शरण रहित हूँ' इस प्रकार हमेशा खेद को प्राप्त जीव को सांसारिक भावों में राग नहीं होता है, अरिहंत के शासन में कहे हुए विधि में ही राग घटता है, वही श्रेष्ठ शरण है, इस प्रकार अशरण अनुप्रेक्षा है।

टी. (i) ज्ञान - दर्शन - चारित्र।

भा. अनादि संसार में नरक - तिर्यंच - मनुष्य - देव जन्म के ग्रहण में चक्र की तरह घुमते जीव के सभी जंतु स्वजन अथवा परजन हैं। यहाँ स्वजन और परजन की व्यवस्था नहीं है। माता होकर बहन, पत्नी और पुत्री होती है, बहन होकर माता, पत्नी, पुत्री होती है, पत्नी होकर बहन, पुत्री और माता होती है, पुत्री होकर माता, बहन और पत्नी होती है। इसी प्रकार पिता होकर भाई, पुत्र और पौत्र होता है, भाई होकर पिता, पुत्र और पौत्र होता है, पुत्र होकर पिता, भाई और पौत्र होता है, पौत्र होकर पिता, भाई, और पुत्र होता है। स्वामी होकर दास होता है, दास होकर स्वामी होता है। मित्र होकर शत्रु होता है, शत्रु होकर मित्र होता है। पुरुष होकर स्त्री और नपुंसक होता है, स्त्री होकर पुरुष और नपुंसक होता है, नपुंसक होकर स्त्री और पुरुष होता है। इस प्रकार ८४ लाख योनि में राग-द्वेष-मोह से अभिभूत और विषय तृष्णा निवृत्त नहीं हुई जिनकी, ऐसे जीवों द्वारा परस्पर भक्षण-अभिघात-बंध-अभियोग(ii)-आक्रोशादि उत्पन्न तीव्र दुःख प्राप्त किए जाते हैं। अहो! द्वंद्वों के बगीचे रूप, कष्ट के स्वभाव वाला यह संसार है, इस प्रकार विचारे। इस प्रकार विचारते हुए संसार के भय से उद्विग्न जीव को निर्वेद होता है और निर्वेद पाकर वह जीव संसार के नाश के लिए प्रयत्न करता है, इस प्रकार संसार अनुप्रेक्षा है।

टी. (i) अभियोग = अभ्याख्यान। आक्रोश = अप्रिय वचन।

भा. मैं एक ही हूँ, कोई मेरा स्व अथवा पर नहीं है। मैं एक ही उत्पन्न हुआ हूँ, अकेला ही मरूंगा। कोई मेरा स्वजन अथवा परजन नहीं है अथवा कोई मेरे व्याधि - जरा - मरणादि दुःख दूर नहीं करेगा अथवा उनका कोई

DATE __/__/13

अंश भी नहीं लेगा। मैं अकेला ही स्वयं के किए हुए कर्मों के फल को अनुभव करता हूँ, इस प्रकार विचारे। इस प्रकार विचारते हुए जीव को स्वजनों में स्नेह-अनुराग-आसक्ति नहीं होगी और परजनों में द्वेष का अनुबंध नहीं होगा। उससे निःसंगता को प्राप्त करता वह मोक्ष के लिए ही प्रयत्न करता है, इस प्रकार एकत्व अनुप्रेक्षा है।

ही जननी वि. अकाम विषय में स्नेह, पत्नी काम विषय में अनुराग।

आ. आत्मा को शरीर से अतिरिक्त विचारे। शरीर अन्य है, मैं अन्य हूँ। शरीर इंद्रिय से जान सकते हैं, मैं अतीन्द्रिय हूँ। शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूँ। शरीर अज्ञ है, मैं ज्ञान स्वरूप हूँ। शरीर आदि-अंत वाला है, मैं अनादि-अनंत हूँ। संसार में भटकते हुए मेरे बहुत लाख शरीर अतीत हुए, उन शरीरों से भिन्न मैं वह ही हूँ, इस प्रकार विचारे। इस प्रकार विचारते इस जीव को शरीर की आसक्ति नहीं होती और मैं शरीर से भिन्न नित्य हूँ, इस प्रकार कल्याण के लिए वह यत्न करता है। इस प्रकार अन्यत्व अनुप्रेक्षा है।

आ. यह शरीर वास्तव में अशुचि रूप है, इस प्रकार विचारे। वह कैसे, इस प्रकार यदि कोई पूछे तो आदि-उत्तर कारण अशुचि होने से, अशुचि का भाजन होने से, अशुचि में उद्भव होने से, अशुभ परिणाम के पाक के अनुबंध से, अशक्य प्रतीकार होने से।

इसमें आदि-उत्तर कारण अशुचि होने से- शरीर का आद्य कारण शुक्र और शोणित, वे दोनों अत्यंत अशुचि हैं। उत्तर कारण आहार परिणामादि। वह इस प्रकार- कवलाहार ग्रस्त किया हुआ ही श्लेष्माशय को प्राप्त कर श्लेष्म द्वारा द्रव किया हुआ अत्यंत अशुचि वाला होता है। फिर पित्ताशय को प्राप्तकर पकाया जाता हुआ खल स्वरूप हुआ अशुचि होता है। पक्व होकर वायु के आशय को प्राप्त कर वायु द्वारा भेदा जाता है, खल अलग और रस अलग। खल से मूत्र-पुरीषादि मल उत्पन्न होते हैं। रस से खून परिणमित होता है, खून से मांस, मांस से चर्बी, चरबी से हड्डी, हड्डी से मज्जा, मज्जा से शुक्र उत्पन्न होता है। श्लेष्म से लेकर शुक्र तक यह सब अशुचि

DATE ___/___/_____

होता है। इसलिए आदि और उत्तर कारण अशुचि होने से शरीर अशुचि है।
और दूसरा- अशुचि का भाजन होने से - कान, नाक, आँख, दाँत, नाखून, मैल, पसीना, कफ, पित्त, मूत्र, पुरीषादि अशुचियों का भाजन यानि कचरापेटी रूप होने से यह शरीर अशुचि है।
और दूसरा- अशुचि में उद्भव होने से - इन कर्णमैल व. का उद्भव शरीर है, क्योंकि वे शरीर में उत्पन्न होते हैं। अथवा अशुचि रूप गर्भ में शरीर उत्पन्न होने से शरीर अशुचि है।
और दूसरा- अशुभ परिणाम के पाक का अनुबंध होने से - ऋतु में बिंदु के आधान से लेकर कलल - मांसपेशी - घनव्यूह - संपूर्णगर्भ - कुमार - यौवन - स्थविर भाव को उत्पन्न करने वाले अशुभ परिणाम के पाक से बंधा हुआ, दुर्गंधि वाला, अपवित्र स्वभाव वाला और दुष्ट अंत वाला होने से शरीर अशुचि है।
और दूसरा- अशक्यप्रतीकार होने से - शरीर का अशुचित्व अशक्य प्रतीकार वाला है। प्रालिश - रूक्षकरना - स्नान - लेप - धूप - अंगमर्दन - वासयुक्ति - पुष्प के समूहादि से भी इसका अशुचित्व दूर करना शक्य नहीं है।
अशुचि आत्मक और शुचि का उपघातक होने से - यह शरीर अशुचि है।
इस प्रकार विचारते हुए इस जीव को शरीर पर निर्वेद होता है और निर्विण्ण जीव शरीर के नाश के लिए यत्न करता है। इस प्रकार अशुचित्व अनुप्रेक्षा है।

प्रा. इसलोक और परलोक में अपाय से युक्त, महानदी के स्रोत के वेग की तरह तीक्ष्ण, अकुशल के आगम और कुशल के निर्गमद्वार समान इंद्रियादि आस्रवों को अवद्य स्वरूप में विचारे। वह इस प्रकार -
स्पर्शेन्द्रिय में आसक्त चित्त वाला, सिद्ध, अनेक विद्याओं के बल से संपन्न, आकाशगामी, अष्टांगमहानिमित्त का पारगामी, गार्ग्य सत्यकि मृत्यु को प्राप्त हुआ। तथा बहुत (i) यवस और पानी में प्रमाण - अवगाहादि गुण से संपन्न, विचरने वाले, मद से उत्कट, बलवान् हाथी हाथिनी विषयक स्पर्शेंद्रिय में आसक्त चित्त वाले ग्रहण को प्राप्त होते हैं। फिर बंध - वध - दमन -

DATE __/__/15

वाहन- निहनन- अंकुश, पार्ष्णि, प्रतोद अग्निघातादि से उत्पन्न तीव्र दुःखों को अनुभवते हैं। हमेशा इस प्रकार स्वच्छंद मैथुन सुख वाले वनवास को याद करते हैं। इसी प्रकार मैथुन के सुख के प्रसंग से (चखने) धारण किया है गर्भ जिसने ऐसी खच्चरी प्रसवकाल में प्रसव करने के लिए असमर्थ, तीव्र दुःख से हत, पराधीन मरण को प्राप्त होती है। इस प्रकार स्पर्शेन्द्रिय में आसक्त सभी जीव इस लोक में और परलोक में विनाश को प्राप्त करते हैं।

(i) वसा यानि घास विशेष। यहाँ यथासंख्य लेना - वसा में प्रमाथ और पानी में अवगाह। प्रमाथ यानि भंग करना, मर्दन करना, खाना वि।

इसी प्रकार जिह्वेन्द्रिय में आसक्त जीव मृत हाथी के शरीर में रहे स्रोत के वेग द्वारा वहन किए गए कौए की तरह, हेमंत ऋतु में घी के घड़े में प्रविष्ट चूहे की तरह, गाय के गोष्ठ में आसक्त-सरोवर में रहने वाले कछुए की तरह, मांस पेशी में लुब्ध लाज पक्षी की तरह और मछुआरे के काँटे में रहे मांस में आसक्त मछली की तरह विनाश प्राप्त करते हैं।

इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय में आसक्त जीव ओषधि की गंध में लुब्ध सर्प की तरह और मांस की गंध का अनुसरण करने वाले चूहे की तरह विनाश प्राप्त करते हैं।

तथा चक्षु इंद्रिय में आसक्त जीव स्त्री के दर्शन के प्रसंग से अर्जुन(i) चोर की तरह और दीपक देखने में चपल पतंग की तरह नाश प्राप्त करते हैं इस प्रकार विचारे।

तथा श्रोत्रेन्द्रिय में आसक्त जीव तीतर(ii)-कबूतर- चाष पक्षी की तरह और गीत(iii)-संगीत की ध्वनि में लंपट हिरण की तरह नाश प्राप्त करते हैं, इस प्रकार विचारे। इस प्रकार विचारता जीव आस्रव निरोध के लिए यत्न करता है। इस प्रकार आस्रवानुप्रेक्षा है।

(ii) अर्जुन चोर- अर्जुन चोर का अगड़दत्त के साथ युद्ध हुआ। किंतु वह चोर पराजित न हुआ। तब अगड़दत्त ने स्वयं की रूपवती स्त्री को रथ के अग्रभाग में बिठाया। चोर उसे देखने में आसक्त हुआ, तब अगड़दत्त ने उसे मार दिया।

DATE __/__/____

द्वि.
(ii) पिंजरे में बंद तीतर पक्षी की आवाज सुनकर बाहर रहे तीतर पक्षी युद्ध करने के लिए आकर्षित होते हैं। उन पक्षियों को भी पिंजरे में पकड़ लिया जाता है।

(iii) गीत- गायक एक अकेला ही गाता है।
संगीत- Flute वि. वाद्यिंत्रों के साथ गान।

आ. गुप्ति आदि के परिपालन से महाव्रतादि संवरों को गुण स्वरूप में विचारे। आस्रव यथोक्त सभी दोष संवर वाले आत्मा को नहीं होते, इस प्रकार विचारे। इस प्रकार चिंतन करते जीव की मति संवर के लिए ही यत्न करती है, इस प्रकार संवर अनुप्रेक्षा है।

आ. निर्जरा, वेदना, विपाक इस प्रकार एकार्थक हैं। वह दो प्र.की- अबुद्धि पूर्वक और कुशल मूल्या उसमें नरकादि में कर्म के फल स्वरूप विपाकोदय अबुद्धि पूर्वक होता है, उसे अवद्य स्वरूप में विचारे अर्थात् अकुशल के अनुबंध वाला विचारे। तप और परीषह जय से किया हुआ विपाक कुशल मूल्य वाला है। उसे गुण स्वरूप में अर्थात् शुभ अनुबंध वाला अथवा अनुबंध रहित विचारे। इस प्रकार विचारता जीव कर्म निर्जरा के लिए ही यत्न करता है, इस प्रकार निर्जरा अनुप्रेक्षा है।

आ. पंचास्तिकायात्मक, विविध परिणाम वाला, उत्पत्ति-स्थिति-नाश- अनुग्रह-प्रलय से युक्त लोक को विचित्र स्वभाव वाला विचारे। इस प्रकार विचारते जीव के तत्त्वज्ञान की विशुद्धि होती है। इस प्रकार लोकानुप्रेक्षा है।

द्वि.
(i) अन्यता यानि उत्पत्ति-स्थिति से अन्य = नाश।

(ii) 'ये सर्व स्थान अशाश्वत हैं', इस प्रकार विचारने से पदार्थज्ञान शंका रहित होता है।

आ. अनादि संसार में नरकादि में उन-उन जन्मों में अनंतबार भटकते, विविध दुःखों से हत, मिथ्यादर्शनादि से उपहत मति वाले, ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोह-अंतराय के उदय से समभिभूत जीव को सम्यग्दर्शनादि से विशुद्ध बोधि दुर्लभ होता है, इस प्रकार विचारे। इस प्रकार बोधि-के दुर्लभत्व को विचारते इस जीव को बोधि प्राप्त कर प्रमाद नहीं होता

DATE __/__/17

है इस प्रकार बोधिदुर्लभत्व अनुप्रेक्षा है।

भा. सम्यग्दर्शन रूप द्वार वाला, पाँच महाव्रत रूप साधन वाला, द्वादशांग से उपदिष्ट है तत्त्व यानि स्वरूप जिसका, गुप्ति आदि के पालन से विशुद्ध है व्यवस्था जिसकी, संसार से निस्तार करने वाला, निःश्रेयस यानि मोक्ष प्राप्त कराने वाला, ऐसा (i) धर्म परम ऋषि अरिहंत भगवंतों द्वारा अहो अच्छी तरह कहा गया है, इस प्रकार विचारे। इस प्रकार धर्म के स्वाख्यातत्व को विचारते हुए जीव का मार्ग से अच्यवन में और मार्ग के अनुष्ठान में व्यवस्था होती है। इस प्रकार धर्मस्वाख्यातत्व के अनुचिंतन रूप अनुप्रेक्षा है।

टी. (i) चरणकरण लक्षण वाला धर्म।

भा. अनुप्रेक्षा कही गई। परीषहों को कहेंगे-

सू. मार्गाच्यवन-निर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः 9-8॥

अ. भा. सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग से (i) अच्यवन के लिए और (ii) कर्म निर्जरा के लिए परीषह सहन करने चाहिए।

टी. (i) क्षमी संक्लिष्ट चित्त वाला जीव सत्त्वहीन होने से परीषह आने पर मार्ग से पतित हो जाता है। अतः उसे मार्ग में स्थिर रहने के लिए परीषह सहन करना चाहिए।

(ii) सिद्धि की प्राप्ति के हेतु रूप संवर में ये परीषह विघ्न समान है। मार्ग में आए हुए परीषहों को सम्यक् सहन करते तथा व्याकुलता रहित ध्यान वाले को कर्मनिर्जरा होती है।

भा. वह इस प्रकार -

सू. क्षुत्-पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याक्रोश-वधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि 9-9॥

अ. भा. (i) क्षुधा परीषह, पिपासा, (ii) शीत, उष्ण, (iii) दंश-मशक, (iv) नाग्न्य, (v) अरति, (vi) स्त्री परीषह, (vii) चर्या परीषह, निषद्या, शय्या, (viii) आक्रोश, वध, (ix) याचना, अलाभ, (x) रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-(xi) पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन परीषह इस प्रकार ये 22 धर्म

DATE ___/___/___

में विघ्न के हेतु रूप परीषह यथोक्त प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर और राग-द्वेष का हनन कर सहन करने चाहिए। ये परीषह ८ कर्म प्रकृतियों के उदय से ही प्रगट होते हैं। वह इस प्रकार - ज्ञानावरण, वेदनीय, दर्शनमोहनीय, चारित्र मोहनीय, अन्तराय।

टी.
(i) क्षुधा-पिपासा → क्षुधा या पिपासा होने आगमोक्त एषणीय विधि से अन्न-पान ग्रहण करते जीव ने यह परीषह जीता, अनेषणीय ग्रहण में हारे।

(ii) शीत → बहुत ठंड होने पर भी अकल्प्य वस्त्र ग्रहण न करे, अग्नि का सेवन न करे।
उष्ण → पानी में स्नान, पानी में जाना, पंखा बींजना, वायु करना, छत्रादि धारण करने से यह परीषह हारा जाता है।

(iii) दंशमशक → दंशमशकादि से डँसाता हुआ भी उस स्थान से दूर नहो, धूआँ न करे, ओघे आदि से निवारण न करे।

(iv) नाग्न्य → यह गच्छनिर्गत जिनकल्पिकादि को यथाशक्ति वस्त्र त्याग द्वारा कहा जाता है। तथा गच्छवासी को जीर्ण-शीर्ण, निर्मूल्य वस्त्र पहनना।

(v) अरति → विहार में या वसति कभी अरति हो तो भी धर्म में स्थिर रहना।

(vi) स्त्री → स्त्रियों के अंगोपांग - हास्य - लीला - कटाक्षादि न विचारे। काम बुद्धि से उन पर नजर न डाले।

(vii) चर्या → आलस छोड़कर, ममत्व रहित, ग्राम-नगरादि में अनियत वसति वाला होकर प्रतिग्रास चरे - फिरे।
निषद्या → निषद्या यानि बैठने का स्थान। स्त्री-पशु-नपुं से वर्जित स्थान में इष्ट-अनिष्ट उपसर्ग को जितने वाले मुनि द्वारा उद्वेग रहित होकर बैठा जाना चाहिए
शय्या → संथारा कोमल हो या कर्कश, धूलवाला, ठंडा या गरम, उसमें उद्वेग न करे।

(viii) आक्रोश → अनिष्ट वचन कोई कहे, वे भले सत्य हो या असत्य, उन्हें सहन करे।
वध → हाथ - पैर - hunter वि. से मारना।

(ix) याचना → वस्त्र - पात्र - अन्न - पान - वसति वि. माँगना। शरणत्व को भजने वाले साधु को अवश्य माँगना चाहिए।
अलाभ → याचना करने पर भी वस्तु प्राप्त न होने पर समचित्त रहे, अविकृत-मन से रहना।

DATE ___/___/19

(x) रोग → रोग आने पर भी गच्छ निर्गत मुनि चिकित्सा न करे। गच्छवासी अल्पबहुत्व की विचारणा पूर्वक सहन करे अथवा चिकित्सा करे।

तृणस्पर्श → पोलाण रहित दर्भादि घास गच्छनिर्गत और गच्छवासी साधु वापरे। पहले घास पाथरे, फिर उस संथारा-उत्तरपट्टा। ~~आद्य~~ यदि संथारादि घूम गया हो अथवा अत्यंत जीर्ण हो तो भी घास के स्पर्श को सहन करे।

मल → पसीने के साथ धूल mix होकर शरीर पर कठोर होकर जमी हो, उसे मल कहते हैं। गर्मी में वह मल दुर्गंध से बहुत उद्वेग करता है। उसे साफ करने के लिए जलस्नानादि की इच्छा न करे।

(xi) सत्कार-पुरस्कार → भक्त-पान-वस्त्रादि से होने वाला योग सत्कार है। कीर्तन-वंदनादि पुरस्कार है। कोई सत्कार-पुरस्कार न करे तो द्वेष न करे।

प्रज्ञा → प्रज्ञा यानि अतिशय बुद्धि। प्रज्ञा का अहंकार न करे।

अज्ञान → 'मैं कुछ जानता नहीं हूँ, मूर्ख हूँ' इस प्रकार अज्ञान का परिताप न करे।

अथवा

ज्ञान → 'मैं 14 पूर्वधर हूँ' इत्यादि अहंकार न करे।

अदर्शन → 'मैं सर्वपापस्थानों से रत हूँ, तपस्वी हूँ' इत्यादि होने पर भी मुझे देव-नारकादि भाव प्रत्यक्ष नहीं होते, अतः ये सब भाव मिथ्या हैं। इस प्रकार सम्यक्त्व को दूषित न करे।

★ नाग्न्य परीषह में जिनकल्पी और यथालंदिक कल्प का वर्णन है।

सू. सूक्ष्मसम्परायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश 9-10॥

अ. भा. सूक्ष्मसंपराय संयत और छद्मस्थवीतराग संयत में 14 परीषह होते हैं- क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, प्रज्ञा, अज्ञान, अलाभ, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल।

टी. (i) 10वाँ गुणस्थान।

(ii) 11वाँ और 12वाँ गुणस्थानक।

DATE ___/___/___

सू. एकादश जिने 9-11॥

अ. भा. वेदनीय कर्म के आश्रय वाले 11 परीषह जिन विषयक होते हैं। वह इस प्रकार- क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल।

टी. (i) 13वाँ गुणस्थान।

सू. बादरसम्पराये सर्वे 9-12॥

अ. भा. बादर संपराय संयत में सभी 22 परीषह संभव हैं।

→ अब→ गुणस्थान में 22 परीषह बताने के बाद कर्मप्रकृतियों में कहते हैं-

सू. ज्ञानावरणे प्रज्ञाऽज्ञाने 9-13॥

अ. भा. टी. (i) ज्ञानावरणीय के उदय में प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होते हैं।
ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम में प्रज्ञा परीषह और उदय में अज्ञान परीषह।

सू. दर्शनमोहा-ऽन्तराययोरदर्शनालाभौ 9-14॥

अ. भा. दर्शनमोह और अंतराय में क्रमशः अदर्शन और अलाभ परीषह अर्थात् दर्शन मोह में अदर्शन परीषह और लाभान्तराय के उदय में अलाभ परीषह।

सू. चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याऽऽक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः 9-15॥

अ. भा. टी. (i) चारित्र मोह के उदय में ~~नाग्न्य~~ नाग्न्य आदि 7 परीषह होते हैं।
नाग्न्य - जुगुप्सा के उदय से। अरति - अरति के उदय से। स्त्री - स्त्रीवेद के उदय से। निषद्या यानि स्थान का सेवन नहीं करना - भय के उदय से। आक्रोश - क्रोध के उदय से। याचना - मान के उदय से। सत्कार पुरस्कार - लोभ के उदय से।

सू. वेदनीये शेषाः 9-16॥

अ. भा. शेष परीषह 11 वेदनीय कर्म में होते हैं, जो जिन विषयक संभव हैं, इस प्रकार कहे गए (सू. 9-11)। शेष कहाँ हैं से? इन प्रज्ञा - अज्ञान - अदर्शन - अलाभ - नाग्न्य - अरति - स्त्री - निषद्या - आक्रोश - याचना - सत्कारपुरस्कार से शेष।

DATE ___/___/ 21

→ अतः एक जीव को एक साथ कितने परीषह होते हैं- (संभावना)

सू. एकादयो भाज्या युगपदेकोनविंशतेः 9-17॥

अ. एकसाथ एक जीव में एकादि परीषह 19 तक विकल्प से संभव हैं।

भा. इन 22 परीषहों में से एकादि परीषह एक जीव में 19 तक भजनीय हैं। यहाँ शीत-उष्ण परीषह अत्यंत विरोधी होने से एक साथ नहीं होते। तथा चर्या-शय्या-निषद्या परीषहों में से एक का ही संभव होने पर दो का अभाव है।

सू. सामायिक(i)छेदोपस्थाप्य(ii)परिहारविशुद्धि(iii)सूक्ष्मसम्परायय(iv)थाख्यातानि चारित्रम् 9-18॥

अ/भा. सामायिक संयम, छेदोपस्थाप्य संयम, परिहारविशुद्धि संयम, सूक्ष्मसंपराय संयम, यथाख्यात संयम इस प्रकार 5 प्र. का चारित्र है। उसे पुलाकादि में (सू. 9-49) विस्तार से कहेंगे।

प्र.

(i) सामायिक ⇒ सम = राग-द्वेष रहित, अयः = प्राप्त होना। सम परिणाम का अय समायः।
समायः एव सामायिकं, समाये भवं, समायेन निर्वृत्तं, समायः [समस्य अयः] प्रयोजन अस्य इति सामायिकम्।
सामायिक 2 प्र. - ⓐ इत्वरकाल - प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के शासन में दीक्षा से लेकर छेदोपस्थाप्य चारित्र तक। ⓑ यावज्जीविक - मध्यम तीर्थंकर और महाविदेह में दीक्षा से लेकर मृत्यु तक।

(ii) छेदोपस्थाप्य - प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के शासन में सामायिक पर्याय का छेद कर उत्तर पर्याय रूप अधिक विशुद्ध सर्व सावद्य योग में उपस्थापन करना।
2 भेद ⓐ निरतिचार - नए शैक्ष को व्रतारोपण करना और मध्यम तीर्थंकर के साधु जब अंतिम तीर्थंकर के साधु के पास उपसंपदा स्वीकारे तब ⓑ सातिचार - मूलगुणों का भंग करने वाले साधु में पुनः व्रतारोपण।

(iii) परिहारविशुद्धि - 2 प्र. ⓐ निर्विश्यमान - जो वर्तमान में इस कल्प का पालन कर रहे हैं ⓑ निर्विष्टकायिक - जिन्होंने पूर्व में यह कल्प किया है।
निर्विश्यमान साधुओं में 9 साधु का गच्छ होता है। 4 परिहारी (तपस्वी), 4 अनुपहारी (तपस्वी की सेवा करने वाले) और 1 वाचनाचार्य। 4 अनुपहारी और 1 वाचनाचार्य

DATE __/__/____

आयंबिल तप करते हैं। ५ परिहारी का तप -

ऋतु	जघन्य	मध्यम	उत्कृष्ट	पारणे में आयंबिल करना।
गर्मी	1उ.	2	3	
ठंडी	2	3	4	
वर्षा	3	4	5	

इस प्रकार 6 महिने तक तप कर, ५ परिहारी और ५ अनुपहारी exchange होते हैं। फिर 6 महिने पश्चात वाचनाचार्य परिहारी बनते हैं, एक उनका अनुपहारी और एक वाचनाचार्य बनता है। इस प्रकार 6 महिने पसार होते हैं। इस प्रकार कुल 18 महिने में यह कल्प पूर्ण होने पर कोई साधु यथाशक्ति जिनकल्प स्वीकारते हैं, कोई यही कल्प पुनः तो कोई गच्छ में प्रवेश करते हैं। यह कल्प प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के शासन में ही होता है।

(iv) सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात चारित्र श्रेणी में होते हैं। उनके क्रमशः 10वाँ और 11-12 वाँ गुणस्थान होता है।

सूक्ष्मसंपराय यानि सूक्ष्म संपराय = लोभ कषाय है जिसमें, वह।

यथाख्यात यानि जिस प्रकार जिनेश्वरों द्वारा चारित्र कहा गया है, उसी प्रकार चारित्र है जिनका। जिनेश्वरों ने कषायरहित चारित्र कहा है।

श्रेणी दो १.- ⓐ औपशमिकी ⓑ क्षायिक, जिनमें क्रमशः मोहनीय की 28 प्रकृतियों का उपशम और क्षय होता है।

ⓐ उपशम श्रेणी - अप्रमत्त संयत (7वें) गुणस्थान स्थित जीव श्रेणी का प्रारंभ करते हैं।

४ अनंतानुबंधी कषाय
↓
दर्शन त्रिक
↓
* अनुदित वेद
↓
हास्य षट्क
↓
+ उदित वेद
↓
३ अप्रत्या. और प्रत्याख्यान क्रोध
संज्वलन क्रोधों के साथ अप्र. और प्रत्या. मान
↓

DATE __/__/ 23

संज्वलन मान
↓
अप्रत्या. और प्रत्या. माया
↓
सं. माया
↓
अप्रत्या. और प्रत्या. लोभ
↓
सं. लोभ के संख्यात भाग करके अंतिम भाग छोड़कर शेष सभी का उपशम
△ अंतिम असंख्यात वें भाग के असंख्य भाग कर एक-एक भाग-
-का उपशम करते हुए
□ संपूर्ण लोभ का उपशम

* यहाँ जीव यदि पुरुष हो तो पहले नपुंवेद, फिर स्त्री.वेद का उपशम करता है। यदि स्त्री हो तो पहले नपुंवेद, फिर पुरुषवेद का उपशम। यदि नपुंसक हो तो पहले स्त्रीवेद, फिर पुरुष वेद का उपशम।

+ यहाँ जी पुरुष-स्त्री-नपुं. जीव क्रमशः पुरुषवेद-स्त्रीवेद-नपुं.वेद का उपशम करता है।

△ यहाँ जीव सूक्ष्म संपराय संयमी होता है। यह गुणस्थानक एक श्रेणी में दो बार आता है। चढ़ते हुए और उतरते हुए।

□ यहाँ जीव को यथाख्यात चारित्र होता है (11वाँ गुणस्थान)।

(b) क्षपक श्रेणी - अप्रमत्त संयत (7वें) गुणस्थान से श्रेणी प्रारंभ।

4 अनंतानुबंधी कषाय
↓
दर्शन त्रिक
↓
8 अप्रत्या. और प्रत्या. कषाय खपाने का प्रारंभ
↓
*16 प्रकृति का क्षय
↓
8 अप्रत्या. और प्रत्या. कषाय के शेष भाग का क्षय
↓
+ अनुदित वेद
↓
हास्य षट्क
↓
+ उदित वेद
↓
△ सं. कषाय में एक-एक क्रमशः
सं. लोभ के संख्यात वें भाग के असंख्य टुकड़ों का एक-एक कर क्षय
क्षीण मोह (12वाँ गुणस्थान)

DATE ___/___/___

* 16 प्रकृति - नरक गति, तिर्यंचगति, नरकानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, एक-बि-ति-चउरिंद्रिय जाति, आतप, उद्योत, स्थावर, साधारण, सूक्ष्मनाम, निद्रा निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि।

+ अनुदित वेद और उदित वेद का क्षय का क्रम उपशमश्रेणी अनुसार।

Δ यहाँ जीव संज्वलन क्रोध खपाना शुरू करता है। उसका थोड़ा भाग बाकी रहता है, तब सं. मान खपाना शुरू करता है। सं. क्रोध पूरा खप जाता है और ~~सं. न माया~~ सं. मान का ~~अं~~ थोड़ा भाग बाकी रहता है, तब सं. माया का क्षय शुरू करता है। सं. मान पूरा खप जाता है और माया का थोड़ा भाग बाकी रहता है, तब सं. लोभ का क्षय शुरू करता है। इसी प्रकार माया का पूर्ण क्षय कर सं. लोभ के संख्यात भाग करता है। अंतिम भाग बाकी रख कर शेष सबका क्षय।

सू. अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसङ्ख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्याऽऽसनकाय-क्लेशा बाह्यं तपः ९-१९॥

अ. अनशन, ऊणोदरी, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्या आसन, काय क्लेश, ये बाह्य तप।

प्रा. अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति परिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्या आसनता, काय क्लेश, इस प्रकार ये ६ प्र. का बाह्य तप है। 'सम्यग् योग-निग्रहो गुप्तिः' इस प्रकार वहाँ से 'सम्यग्' (i) की अनुवृत्ति चालू है।

संयम की रक्षा के लिए और कर्म (ii) निर्जरा के लिए चतुर्थ, षष्ठ, अट्ठमादि सम्यक् अनशन (iii) तप है।

(i) राजा, शत्रु, चोर वि. द्वारा किया हुआ आहारनिरोधादि, प्रशंसा के लिए, अथवा आजीविका न होने पर किया हुआ आहारनिरोधादि से संयमरक्षा और कर्म निर्जरा नहीं होती। इसलिए इन सबके तथा बाल तप का निषेध करने के लिए 'सम्यग्' पद का ग्रहण है।

जो शास्त्रोक्त विधि अनुसार, श्रद्धालु, स्व सामर्थ्य की अपेक्षा वाला, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को जानने वाला, तथा क्रिया संपूर्ण करने वाला तप

DATE / / 25

से कर्म निर्जरा का भागी होता है।

(ii) शुभ-अशुभ दोनों कर्म की निर्जरा के लिए तप है।

(iii) अनशन तप - 2 प्र. (a) इत्वर - नवकारसी से लेकर महावीरस्वामी के तीर्थ में 6 मास तक।

(b) यावज्जीविक - 3 प्र. (i) पादपोपगमन (ii) इंगिनी (iii) भक्तप्रत्याख्यान।

(i) पादपोपगमन = पेड़ की तरह यावज्जीव के लिए चारों आहार का त्याग कर स्थिर होना। 2 प्र. सद्योघात = आयु बाकी होने पर भी व्याधि या बहुत वेदना से आयुष्य का उपक्रम करना, निर्व्याघात = जरा से जर्जरित शरीर वाले का अनशन।

(ii) इंगिनी = इंगिनी यानि श्रुतोक्त क्रिया विशेष। उससे विशिष्ट मरण वह इंगिनीमरण। इंगिनीमरण स्वीकारने वाला जरा से जर्जरित देह जानकर सभी उपकरण को लेकर स्थावर-जंगम जीव से रहित स्थान में एकाकी रहे। चारों आहार का त्याग करे। छाया से धूप में या धूप से छाया में जाने से इच्छा सहित होता है। वह शरीर परिकर्म स्वयं कर सकते हैं किन्तु दूसरे से नहीं करा सकते। नियत प्रदेश से बाहर नहीं जा सकते।

(iii) भक्तप्रत्याख्यान = गच्छवासी साधु को होता है। ये यथाशक्ति तीन अथवा चार प्र. के आहार का त्याग करते हैं। शरीर परिकर्म करा भी सकते हैं। अंत समय पास में आने पर चारों का आहार का त्याग कर शरीरादि का ममत्व छोड़ते हैं। स्वयं नमस्कार मंत्र जाप करे अथवा अन्य साधु उन्हें नवकार सुनाए। इस प्रकार समाधि से काल करे।

प्रा. अवमौदर्य - अवम यानि न्यून। न्यून है उदर जिसका अवमोदर:। अवमोदर का भाव अवमौदर्य। इस उत्कृष्ट और निकृष्ट कवल को छोड़कर मध्यम कवल से अवमौदर्य 3 प्र. की होती है। वह इस प्रकार- (i) अल्पाहार अवमौदर्य, (ii) उपार्ध अवमौदर्य, प्रमाण प्राप्त से कुछ न्यून अवमौदर्य। कवल की संख्या 32 कवल से कम होती है।

टी. (i) उत्कृष्ट कवल - जिसमें मुख विकृत हो। निकृष्ट कवल - अत्यंत लघु। मध्यम कवल - जिसमें मुख विकृत न हो, ऐसा स्वमुख प्रमाण कवल।

(ii) पुरुष के 32 कवल अनुसार - 8 कवल अल्पाहार, 12 कवल उपार्ध, 24 कवल प्रमाण प्राप्त से कुछ न्यून। एक-एक कवल न्यून-अधिक करने पर सभी अवमौदर्य के विशेष जानना। स्त्री के 28 कवल होते हैं, इस अनुसार विभाग करना।

DATE ___/___/___

भा: वृत्ति[i] परिसंख्यान अनेक प्रकार का होता है। वह इस प्रकार- उत्क्षिप्त-निक्षिप्त-अंतप्रांत-चर्यादि और सक्तु[ii]-खिचड़ी-ओदनादि में से कोई एक का अभिग्रह कर शेष का प्रत्याख्यान।

टी:
(i) वृत्ति यानि भिक्षा। परिसंख्यान यानि गिनना। दत्ति गिनना वृत्तिपरिसंख्यान है।)

(ii) द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अभिग्रह विशेष का उपलक्षण। द्रव्य से सत्तु-भात वि. क्षेत्र से देहली के अंदर एक पैर हो और बाहर एक पैर इत्यादि, काल से सभी भिक्षाचर निवृत्त होने पर इत्यादि, भाव से हँसना-रोना वि, बेड़ी बँधी हुई हो, लाल आँख वाला हो इत्यादि।

भा. रस परित्याग अनेक विध होता है। वह इस प्रकार- मद्य[i]-मांस[ii]-शहद[iii]-मक्खन[iv] वि. रस विगई का पच्चक्खाण और विरस[v]-रूक्षादि का अभिग्रह।

टी:
(i) मद्य विष की तरह जीव को पराधीन करता है। मद्य के वश बना हुआ जीव कार्य-अकार्य के विवेकरहित, स्मृति-संस्कार से भ्रष्ट होता है।

(ii) मांस के निषेध के 2 कारण- आसक्ति और वृष्यता (अतिशय शक्ति बढ़ाने वाला होने से)।
पूर्वपक्ष- दूध, दही, घी भी आसक्ति और वृष्यता वाले हैं?
उत्तर- इनमें मांस जितने प्राणातिपात का संभव नहीं है तथा मांस में वृष्यता अतिशय होती है। तथा दूध वि. विगई भी प्रभु चारित्र को बाधा न हो, उतनी मात्रा ही वापरने की अनुज्ञा दी है।

(iii) शहद 3 प्र.- मक्खी का, कुंथि नामक जंतु का और भ्रमर का। वह भी Direct प्राणातिपात के कारण त्याज्य है।

(iv) मक्खन 4 प्र.- गाय, भैंस, बकरी, भेड़ का। अति वृष्य होने से त्याज्य।

(v) विरस- रूक्ष आहार से भी शरीर निर्वाह हो सकता है। आदि से अंत-प्रांत भोजन ग्रहण करना। अंत यानि रस बिना का आहार, प्रांत यानि गृहस्थों का बचा हुआ।

भा. विविक्तशय्यासनता यानि एकांत[i], अनाबाध[ii], असंसक्त[iii], स्त्री-पशु-पंडक से वर्जित ऐसे शून्य घर, देवकुल, सभा, पर्वतगुफा आदि में से किसी एक स्थान में सप्राधि[iv] के लिए संलीनता।

टी.
(i) एकांत यानि जहाँ श्रुतज्ञान का व्यापार चले।

(ii) आबाध यानि शरीर का उपघात। शरीर का उपघात नहीं है जहाँ वह, अनाबाध।
(iii) सूक्ष्म या स्थूल जंतु रहित।
(iv) समाधि यानि ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-वीर्यात्मक ५प्र.। ज्ञानादि की अपरिहानि और वृद्धि।

प्र. कायक्लेश अनेक प्रकार का है। वह इस प्रकार- स्थान, वीरासन, उत्कटुकासन, एक पार्श्वशयन, दंडायतशयन, आतापन, अप्रावृत आदि। ये सम्यक् प्रकार से प्रयुक्त किए हुए बाह्य तप हैं। इन छ प्रकार के बाह्य तप से संगत्याग, शरीरलाघव, इंद्रिय जय, संयम रक्षा, कर्म निर्जरा होती है।

सू. प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् 9-20॥

अ. भा. सूत्रक्रम के प्रामाण्य से उत्तर यानि अभ्यंतर कहते हैं - प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान इस प्रकार ये ६प्र. का अभ्यंतर तप है।

टी. प्रायश्चित्त- मूल-उत्तर गुणों में अल्प अतिचार भी चित्त को मलिन करता है। इसलिए उसका प्रकाशन कर प्रायः चित्त विशुद्धि का कारण बने वह प्रायश्चित्त।
विनय- जिससे ४प्र. के कर्म दूर हो, वह विनय।
वैयावृत्त्य - श्रुत अनुसार व्यावृत्त का भाव।
स्वाध्याय - सु ~~xxx~~ यानि मर्यादा। काल वेला के त्याग रूप या पोरसी की मर्यादा में अध्याय करना।
व्युत्सर्ग - संसक्त और अतिरिक्त वस्त्र, अन्नपान, पात्रादि का त्याग।
ध्यान - आगमोक्त विधि से मन-वचन-काया का निरोध।

सू. नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदं यथाक्रमं प्राग् ध्यानात् 9-21॥

अ. भा. ध्यान से पहले वह अभ्यंतर तप क्रमशः 9, 4, 10, 5, 2 भेद वाला होता है। इससे आगे हम कहेंगे। वह इस प्रकार -

→ भव.→ प्रायश्चित्त के 9 भेद -

DATE ___/___/_____

सू. आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनानि 9-22॥

अ. प्रायश्चित्त 9 प्रकार वाला है। वह इस प्रकार- आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापन।

भा. प्रायश्चित्त 9 प्रकार वाला है। वह इस प्रकार- आलोचन, प्रतिक्रमण, आलोचन-प्रतिक्रमण (तदुभय), विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, उपस्थापन।

टी. आलोचन, विवरण, प्रकाशन करना, प्रकाशन, कहना, प्रादुष्करण इस प्रकार एकार्थक हैं।

उं. आलोचन= मर्यादा से गुरु को निवेदन करना। जिस प्रकार बालक कार्य-अकार्य को निर्दोषता से कह देता है, वैसे।

विवरण= पिंडरूप में कथित वचन का भेद से विस्तार करना।

प्रकाशन= गुरु के चित्त में अतिचारों का सम्यक् स्थापन।

आख्यान= सरल चित्त से कहना।

प्रादुष्करण= निंदा-गर्हा पूर्वक कहना।

भा. प्रतिक्रमण, 'मिच्छामि दुक्कडं' से युक्त प्रत्यवमर्श, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग करना, (इस प्रकार एकार्थक हैं)।

टी. प्रतिक्रमण= अतिचार की सन्मुखता का त्याग कर पीछे हटना।

उं. प्रत्यवमर्श = 'मेरा दुष्कृत मिथ्या हो' इससे युक्त पश्चात्ताप। 'मैंने यह अकार्य किया, स्वच्छंदता से किया' इत्यादि।

प्रत्याख्यान= 'अब ऐसा दुष्कृत नहीं करूँगा' यह भाव।

कायोत्सर्ग= भाव से काया का त्याग 'विशुद्ध भाव वाले ऐसे मेरी काया इच्छा बिना भी छ जीवनिकाय में पड़ी है'।

भा. ये दोनों आलोचन-प्रतिक्रमण भी प्रायश्चित्त हैं।

टी. उं. पहले आलोचन करना, फिर गुरु आज्ञा से प्रतिक्रमण करना। यह प्रायश्चित्त संभ्रम-भय-अनुरागादि वाले और दुष्ट चिंतन-भाषण-चेष्टा वाले को होता है।

भा. विवेक, विवेचन, विशोधन, प्रत्युपेक्षण इस प्रकार एकार्थक हैं। यह प्रायश्चित्त संसक्त अन्न-पान-उपधि-शय्यादि विषयक होता है।

टी. उं. विवेक= त्याग का परिणाम।

विवेचन= भाव विशुद्धि।

DATE __/__/ 29

विशोधन = अशुद्धि के अंशों से रहित करना।
प्रत्युपेक्षण = प्रयत्न से देखना।

भा. व्युत्सर्ग, प्रतिष्ठापन इस प्रकार एकार्थक हैं। यह भी (i) अनेषणीय (ii) अन्न-उपकरणादि और अशंकनीय (iii) विवेक विषयक होता है।

हि. (i) प्रणिधान पूर्वक काया और वचन व्यापार को अटकाना = व्युत्सर्ग।
प्रतिष्ठापन = परित्याग।

(ii) अनेषणीय यानि उद्गमादि दोष से अविशुद्ध अन्न-पान-उपकरणादि परठकर कायोत्सर्ग करना चाहिए। आदि शब्द से गमनागमन, विहार, श्रुताध्ययन, सावद्य स्वप्न दर्शन, नदी में तैरना, प्रात्रु-स्थंडिल इत्यादि।

(iii) अशंकनीय विवेक यानि जिसमें शंका न हो, ऐसा विवेक। संसक्त दही-छाछ आदि से जीव अत्यंग करना संभव नहीं है, अतः उन्हें परठने के बाद कायोत्सर्ग करना।

भा. तप (i) बाह्य अनशनादि और प्रकीर्णक चन्द्र प्रतिमादि अनेक प्रकार का है। (ii) श्रुत और जीत व्यवहार अनुसार उपवास का ग्रहण किया जाता है। पंचक, नवकादि प्रायश्चित्त के प्रकार गीतार्थ जानते हैं।

हि. (i) ये सभी तप प्रायश्चित्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र में हुए अतिचार के अनुरूप विशुद्धि अनुसार दिए जाते हैं।

(ii) छेद, अपवर्तन, अपहार इस प्रकार एकार्थक हैं। वह छेद प्रव्रज्या दिवस, पक्ष, मास, संवत्सर में से किसी का होता है। (i)

भा. यह प्रायश्चित्त जो तप से गर्वित हो, (अर्थात् मुझे तो कितना भी तप कराओ, कुछ फर्क नहीं पड़ेगा) तप करने में असमर्थ हो, तप की श्रद्धा न करता हो, तप से जिसका दमन न हो, (अर्थात् तप प्रायश्चित्त देने पर भी जो बार-बार अपराध करे), कोई अपरिणत हो (अर्थात् छ महिने का प्रायश्चित्त देने से भी मैं शुद्ध नहीं होऊंगा, इस प्रकार मानता हो) उसे यह छेद प्रायश्चित्त देते हैं।

हि. (i) परिहार मासिकादि अवधि वाला होता है। उस
परिहार यानि इस प्रायश्चित्त वाले के साथ गोचरी-वंदन व्यवहार बंद करना। उससे कोई बोले नहीं, जब तक प्रायश्चित्त पूर्ण न हो तब तक। इसकी जघन्य अवधि

DATE ___/___/___

एक मास और उत्कृष्ट 6 मास। इस प्रायश्चित्त के ~~बाद~~ बाद किसी को मूलव्रत पुनः दिए जाते हैं। जो संकल्पपूर्वक पंचेंद्रिय वध करे, गर्व से मैथुन सेवे, उत्कृष्ट मृषावादादि करे, उसे यह परिहार-मूल प्रायश्चित्त दिया जाता है।

भा. उपस्थापन, पुनर्दीक्षण, पुनश्चरण, पुनर्व्रतारोपण इस प्रकार एकार्थक हैं।

टी. (i) फिर से बड़ी दीक्षा देना।

(ii) अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त, इन दोनों में लिंग (वेश)-क्षेत्र-काल-तप में समानता होने से दोनों उपस्थापन रूप प्रायश्चित्त में एक साथ कहा है। जहाँ तक तप पूर्ण न हो, वहाँ तक साधु वेष में ~~ब~~ स्थापन न किया जाए, वह अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त। ~~तो~~ जो तप से अतिचार के पार पहुँचे वह पारांचिक। साधर्मिकों की चोरी, हाथ से मारना, आदि अपराध में अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त दुष्ट (यानि तीव्र कषाय और विषयासक्ति वाला), मूढ (यानि स्त्यानर्द्धि निद्रा वाला) और अन्योन्यकरण (यानि पुरुष-के साथ पुरुष मैथुन सेवे) इन दोषों में पारांचिक प्रायश्चित्त देते हैं।

भा. वो यह 9प्र.का प्रायश्चित्त देश, काल, शक्ति, संहनन, ~~संयमविराधना~~, और काय-इंद्रिय-जाति-गुणों के उत्कर्ष से की हुई संयमविराधना को देखकर यथायोग्य दिया जाता है और आचरण किया जाता है।

भा. 'चिती' धातु संज्ञा और विशुद्धि अर्थ में है। उसका 'चित्त' इस प्रकार निष्ठान्त (पाणिनीय अनुसार 'क्त' प्रत्यय की संज्ञा) और औणादिक रूप होता है। इस प्रकार इन आलोचनादि दुष्कर तपविशेष द्वारा अप्रमत्त मुनि उस अतिचार की प्रायः शुद्धि करते हैं और विशुद्धि करते हुए पुनः अपराध नहीं करते हैं, अतः प्रायश्चित्त होता है। अथवा प्रायः यानि अपराध, उस अपराध से विशुद्ध करे, वह प्रायश्चित्त।

→ अब - विनय के 5प्र. -

सू. ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः 9-23॥

अ. विनय के 5प्र. - ज्ञान, दर्शन, चारित्र, उपचार।

भा. विनय 5प्रकार वाला है। वह इस प्रकार - ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र

DATE __/__/31

विनय, उपचार विनय। उसमें ज्ञान विनय मतिज्ञानादि 5 प्र. का है। दर्शन विनय तो एक प्रकार का ही है - सम्यग्दर्शनविनय। चारित्र विनय सामायिकविनयादि 5 प्र. का है। औपचारिक विनय अनेक प्रकार का है - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि गुणों से अधिक के विषय में अभ्युत्थान, आसन प्रदान, वंदन, अनुगमनादि।

विनीयते तेन तस्मिन् वा विनयः = जिसके द्वारा 8 कर्म दूर किए जाए अथवा जिसके होने पर 8 कर्म दूर हो, वह विनय।

हि. (ii) उपचार = श्रद्धा पूर्वक क्रिया विशेष के लक्षण वाला व्यवहार।

→ अत. - वैयावच्च के 10 प्र. -

सू. आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षकग्लानगणकुलसङ्घसाधुसमनोज्ञानाम् 9-24॥

अ. भा. वैयावृत्त्य 10 प्र. की है। वह इस प्रकार - आचार्य वैयावृत्त्य, उपाध्याय वैयावृत्त्य, तपस्वी वैयावृत्त्य, शैक्षक वैयावृत्त्य, ग्लान वैयावृत्त्य, गण वैयावृत्त्य, कुल वैयावृत्त्य, संघ वैयावृत्त्य, साधु वैयावृत्त्य, समनोज्ञ वैयावृत्त्य। व्यावृत्त का भाव अथवा व्यावृत्त का कर्म वैयावृत्त्य। उसमें आचार्य पूर्व में कहे हुए 5 प्र. के हैं (सू. 9-6)।

आचार विषयक विनय अथवा स्वाध्याय आचार्य के बाद जिनसे पढ़े जाए, वे उपाध्याय। संग्रह, उपग्रह, अनुग्रह के लिए जिनकी सेवा की जाए वे उपाध्याय। अथवा जिनके संग्रहादि स्मरण किए जाए (उपाध्यायति = स्मरति), वे उपाध्याय।

निर्ग्रंथ मुनि 2 द्वारा संग्रह किए जाते हैं - आचार्य और उपाध्याय। निर्ग्रंथी साध्वी 3 द्वारा संग्रह की गई होती है - आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्तिनी। प्रवर्तिनी दिगाचार्य द्वारा व्याख्यान की गई है। जो हित के लिए प्रवर्ते और प्रवर्ताए वह प्रवर्तिनी।

हि. (i) संग्रह = वस्त्र-पात्र देने से। उपग्रह = अन्न पान-औषध देने से। अनुग्रह = सूत्र प्रदान से।

(ii) भावार्थ = प्रवर्तिनी दिगाचार्य समान जानना। उसने निशीथ अध्ययन सुना होता है, तथा कल्प-व्यवहार सूत्र ग्रहण किया होता है। वह दिशानुज्ञा को प्राप्त होती है।

भा. विकृष्ट और उग्र तप से युक्त तपस्वी होता है।

हि. (i) विकृष्ट यानि 4 उपवास से लेकर 6 महिने से कुछ न्यून तक।

(ii) उग्र यानि भाव से विशुद्ध और आकांक्षा रहित।

DATE __/__/____

भा. अल्प काल में ही प्रव्रजित अथवा जो शिक्षा देने योग्य हो वह शिक्ष अथवा शिक्षा के योग्य शैक्ष शैक्ष। गण यानि स्थविरों[i] के समूह की संस्थिति। कुल यानि एक आचार्य के शिष्य समूह की संस्थिति। संघ श्रमणादि प्र. का है। साधु यानि संयत। संभोग[ii] युक्त साधु समनोज्ञ।

टी. (i) यहाँ श्रुतस्थविर का ग्रहण करना। वय अथवा पर्याय स्थविर नहीं।

(ii) 12 प्र. के संभोग से युक्त साधु। मनोज्ञ यानि मनोहर। ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मनोहर गुणों से युक्त समनोज्ञ।

भा. इन आचार्यादि का अन्नपान-वस्त्र-पात्र-वसति-पीठ-फलक-संथारा आदि धर्म साधनों से उपग्रह, शुश्रूषा[i], भैषज क्रिया, जंगल-विषम[ii]-दुर्ग मार्गों में, उपसर्गों[iii] में अभ्युपपत्ति[iv] इस प्रकार यह वैयावृत्त्य है।

टी (i) हाथ-पैर दबाना वि.।

(ii) विषम- जंगली पशुओं से युक्त

दुर्ग= खड्डे-काँटे आदि से युक्त

(iii) उपसर्ग= बुखार, दस्त, सर्दी-खाँसी वि.।

(iv) अभ्युपपत्ति= उद्धार करना, पालन करना, रक्षण करना।

→ अब.- स्वाध्याय प्र. -

सू. वाचना-प्रच्छना-ऽनुप्रेक्षा-ऽऽम्नाय-धर्मोपदेशाः 9-25॥

अ. स्वाध्याय के प्र. - वाचना, प्रच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय, धर्मोपदेश।

भा. स्वाध्याय प्र. का होता है। वह इस प्रकार- वाचना, प्रच्छन, अनुप्रेक्षा, आम्नाय, धर्मोपदेश। उसमें वाचन यानि शिष्य को पढ़ाना। ग्रंथ और अर्थ को पूरण, प्रच्छन। अनुप्रेक्षा यानि ग्रंथ-अर्थ का ही मन से अभ्यास। आम्नाय यानि उच्चार[i] से विशुद्ध परिवर्तन, गुणन, रूपादान। अर्थोपदेश, व्याख्यान, अनुयोग[iii] वर्णन, धर्मोपदेश इस प्रकार एकार्थक हैं।

टी. (i) कालिक अथवा उत्कालिक सूत्र के आलापक देना।

(ii) उदात्तादि स्वर के उच्चार से विशुद्ध।

गुणन= पद-अक्षर गिनना।

रूपादान = एक रूप, दो रूप, तीन रूप इत्यादि क्रम, परिपाटी से बोलना। (अर्थात् एक ही सूत्र को याद करने के लिए एक बार - दो बार - उबार इत्यादि बोलना)

(iii) अनुयोग द्वार सूत्र में बताए हुए क्रम से अनुयोग (अर्थ) का वर्णन।

→ अब - व्युत्सर्ग 29 -

सू. बाह्याऽभ्यन्तरोपध्योः 9-26॥

अ/भा. व्युत्सर्ग 29 - बाह्य और अभ्यंतर। उसमें बाह्य 10 प्र. की उपधि का। अभ्यंतर शरीर और कषायों का।

→ अब - ध्यान का लक्षण -

सू. उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् 9-27॥

अ. उत्तम संहनन वाले जीव का एक आलंबन में (अग्र) चिन्ता (मन) का निरोध ध्यान है।

भा. उत्तम संहनन यानि वज्रऋषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच और अर्ध नाराच। इनसे युक्त जीव का एकाग्र[i] मन का निरोध[ii] ध्यान है।[iii]

टी. (i) एक अग्र यानि आलंबन।

(ii) भाष्य में च शब्द वाक् और काय के निरोध के समुच्चय के लिए।

(iii) यहाँ ध्याता संसारी ~~छद्मस्थ~~ आत्मा है। ध्येय शोकक्रंदनादि आर्तध्यान का, बंधन-मारना आदि रौद्र का, जिनवचन भावश्रद्धादि धर्मध्यान का और अवाय-असंमोहादि शुक्ल ध्यान का है।

→ अब - ध्यान का काल -

सू. आ मुहूर्तात् 9-28॥

अ/भा. वह ध्यान मुहूर्त तक ही होता है, मुहूर्त से पर दुर्ध्यान होने से नहीं होता।

टी. (i) दुर् शब्द विकृत या अनीप्सित अर्थ में है। मुहूर्त के बाद ध्यान अन्य अवस्था (विकार) को प्राप्त करता है अथवा मोहनीय कर्म के अनुभाव से संक्लेश अथवा विशोधन भी अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा नहीं होता।

DATE ___/___/___

→ अव.- ध्यान के भेद -

सू. आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि 9-29॥

अ. वह ध्यान 4 प्र. का होता है। वह इस प्रकार- (i) आर्त, (ii) रौद्र, (iii) धर्म्य, (iv) शुक्ल।

टी. (i) ऋ धातु दुःख अर्थ में। ऋते भवं वा इति आर्तम् = दुःख से होने वाला।

(ii) रौद्रयति अपरान् इति रुद्रः = जो दूसरों को रुलाए। तेन कृतं तत्कर्म वा रौद्रम्। प्राणिवध में परिणत आत्मा ही रुद्र है, उसका कर्म वह रौद्र ध्यान।

(iii) धर्मादनपेतं धर्म्यम् = क्षमादि 10 प्र. के धर्म से युक्त ध्यान।

(iv) शुचि, निर्मल, पवित्र सभी कर्म के क्षय का हेतु होने से शुक्ल।

भा. इन ध्यान में से -

सू. परे मोक्षहेतू 9-30॥

अ. अंतिम दो ध्यान मोक्ष के हेतु हैं।

भा. इन चारों ध्यान में अंतिम दो धर्म्य और शुक्ल ध्यान मोक्ष के हेतु हैं। पूर्व के दो आर्त और रौद्र ध्यान संसार के हेतु हैं।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है- इनका लक्षण क्या है? यहाँ कहते हैं-

→ अव.- 4 सूत्र द्वारा आर्तध्यान के 4 प्र.-

सू. आर्तममनोज्ञानां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः 9-31॥

अ. अमनोज्ञ विषयों के संयोग में उनके वियोग के लिए स्मृति का समन्वाहार आर्त ध्यान है।

भा. अमनोज्ञ विषयों के संयोग में उनके वियोग जो स्मृति का समन्वाहार होता है, वह आर्तध्यान, इस प्रकार (ज्ञानी) कहते हैं।

टी. (i) स्मृति यानि मन अथवा अविच्युति धारणा रूप मन। उसका समन्वाहार यानि निश्चलत्व, एकतान से सोचना। 'मैं इस विषय से कैसे अलग होऊँ' इस प्रकार एकाग्र होकर सोचना।

भा. और दूसरा-

DATE __/__/35

सू. वेदनायाश्च 9-32॥

प्र. ~~वेदना के संयोग में भी~~

स. भा. अमनोज्ञ वेदना के संयोग में उसके वियोग के लिए होता स्मृति समन्वाहार आर्त ध्यान है। और दूसरा-

सू. विपरीतं मनोज्ञानाम् 9-33॥

स. अमनोज्ञ विषय और वेदना का विपरीत आर्त ध्यान है।

भा. अमनोज्ञ विषयों और मनोज्ञ वेदना(ii) के वियोग में उनके संयोग के लिए स्मृति का समन्वाहार आर्त ध्यान है।

टि. (ii) वेदना- 29. सुख और दुःख। सुख रूप वेदना मनोज्ञ। दुःख रूप वेदना अमनोज्ञ।

भा. और दूसरा-

सू. निदानं च 9-34॥

स. भा. काम से उपहत चित्त वाले और संसार के विषय सुख में आसक्त जीवों का निदान आर्तध्यान होता है।

→ अब- आर्तध्यान के स्वामी-

सू. तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् 9-35॥

प्र. भा. यह आर्तध्यान अविरत(i)-देशविरत- प्रमत्तसंयतों को ही होता है।(ii)

टि. (i) क्रमशः यथा- 4वां - 6ठा गुणस्थानक। प्रत्येक गुणस्थानक असंख्य-असंख्य विशुद्धि स्थान पर है।

(ii) यह आर्तध्यान अतिसांक्लिष्ट कापोत-नील-कृष्ण लेश्या का अनुयायि नहीं है।

→ अब- रौद्रध्यान और उसके स्वामी-

सू. हिंसा-ऽनृत-स्तेय-विषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः 9-36॥

स. भा. हिंसा के लिए, अनृतवचन के लिए, स्तेय के लिए और विषय के संरक्षण के लिए स्मृति का समन्वाहार रौद्र ध्यान(i) है, वह अविरत और देशविरत को

DATE ___/___/___

ही होता है।(iii)

टी: (i) रौद्र ध्यान के ~~ख~~ चिह्न - ⓐ उत्सन्न ⓑ बहुदोष ⓒ अज्ञान दोष ⓓ आमरण दोष।

ⓐ उत्सन्न - हिंसादि में अनवरत - लगातार प्रणिधान करना।

ⓑ बहुदोष - हिंसादि में आग्रहपूर्वक वर्तना।

ⓒ अज्ञानदोष - संसारमोचक मत की तरह अज्ञान से अधर्मकार्यों एकतान होना।

ⓓ आमरण दोष - मरणावस्था में भी उन पाप का अल्प भी पश्चात्ताप नहीं होना।

(ii) यह रौद्रध्यान तीव्र कापोत-नील-कृष्ण लेश्या वाले को होता है, यह नरक का ~~ख~~ हेतु है।

→ अब - धर्मध्यान और उसके स्वामी -

सू: आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यमप्रमत्तसंयतस्य 9-37॥

अ. भा. आज्ञा(i) विचय, अपाय(ii) विचय, विपाक(iii) विचय, संस्थान(iv) विचय के लिए स्मृति का समन्वाहार धर्मध्यान है। वह अप्रमत्त संयत को होता है।

टी: (i) आज्ञा यानि सर्वज्ञ प्रणीत आगम। आज्ञा को इस प्रकार विचारे - प्रभु आज्ञा पूर्वापर संबंध वाली विशुद्ध है, निपुण है, सभी जीव के लिए हितकारी है, निर्दोष है, महान अर्थवाली है, द्रव्य-पर्याय के विस्तृत वर्णन वाली, अनादि अनंत है। सर्वज्ञ कभी अन्यथा नहीं कहते। इस प्रकार एकाग्र चित्त से विचारे।

(ii) अपाय यानि शारीरिक और मानसिक दुःख। राग-द्वेष से व्याग्रचित्त वाले, जीव नरकादि गति में बहुत दुःख अनुभवते हैं, कितने ही जीव परस्पर वैर बंध कर आक्रोश, वधादि अपायों को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार संसार के अपायों के एकाग्रचित्त द्वारा चिंतन रूप धर्म ध्यान से संसार का उद्वेग होता है।

(iii) विपाक यानि शु. के कर्मों का अनुभाव। कर्म ज्ञानावरणीयादि ४ प्र. का है, प्रकृति-स्थिति-रस-प्रदेश ४ भेद वाला, इष्ट-अनिष्ट परिणाम वाला है, जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट स्थिति वाला है। इत्यादि चिंतन धर्म ध्यान है।

(iv) संस्थान यानि लोक या द्रव्यों के आकार। यह लोक वैशाखस्थान पर हाथ रख कर खड़े पुरुष की आकृति वाला है इत्यादि तथा ६ द्रव्यों का चिंतन

DATE ___/___/ 37

धर्मध्यान है। इस धर्मध्यान से पदार्थ के स्वरूप का ज्ञान होता है, पदार्थज्ञान से तत्त्वावबोध होता है, तत्त्वावबोध से अनुष्ठान होता है, अनुष्ठान से मोक्ष।

भा. और दूसरा- (धर्मध्यान के अन्य स्वामी)

सू. उपशान्तक्षीणकषाययोश्च 9-38॥

अ. भा. टी. (i) उपशांतकषाय और क्षीणकषाय वाले जीव को धर्मध्यान होता है।
क्रमशः 11वां और 12वां गुणस्थान। ये जीव 11 अंग के ज्ञानी होते हैं।

भा. और दूसरा-

→ अब- 11वें और 12वें गुणस्थान में धर्मध्यान के अलावा अन्य ध्यान भी संभव है, वह कहते हैं-

सू. शुक्ले चाद्ये 9-39॥

अ. भा. प्रथम दो शुक्लध्यान पृथक्त्ववितर्क- एकत्ववितर्क उपशांतकषाय और क्षीणकषाय को होते हैं।

→ अब. शुक्लध्यान के प्रथम दो भेद के स्वामि-

सू. पूर्वविदः 9-40॥

अ. भा. प्रथम दो शुक्लध्यान पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क, पूर्वविद् को ही होते हैं।

अ. टी. (i) भावार्थ- उपशांतकषाय और क्षीण कषाय गुणस्थानक में जो जीव 11 अंग के ज्ञानी होते हैं, उन्हें धर्मध्यान होता है और जो 14 पूर्वी होते हैं, उन्हें शुक्लध्यान होता है।

→ अब. शुक्लध्यान के अंतिम दो भेद के स्वामी-

सू. परे केवलिनः 9-41॥

अ. भा. बाद वाले 2 शुक्लध्यान केवली को ही होते हैं, छद्मस्थ को नहीं।

अ. टी. (i) सूक्ष्मक्रिय अप्रतिपाति और व्युपरतक्रियाकृ-अनिवृत्ति।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है- आपके द्वारा कहा गया- ~~पूर्वे शुक्ले चाद्ये (9-39)~~ और

DATE ___/___/___

'पूर्व के दो शुक्ल ध्यान और बाद वाले दो शुक्ल ध्यान'। तो वे ध्यान कौन से हैं? यहाँ कहते हैं-

सू. पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृत्तीनि 9-42॥

सः भा. पृथक्त्व वितर्क, एकत्व वितर्क, सूक्ष्मक्रिय अप्रतिपाति, व्युपरतक्रिय अनिवृत्ति इस प्रकार शुक्लध्यान ४ प्र. का है।

→ अब- पूर्वोक्त ध्यान के स्वामी को विशेष से कहते हैं-

सू. तत् त्र्येककाययोगायोगानाम् 9-43॥

अ. वह शुक्ल ध्यान क्रमशः तीन योग वाले को, एक योग वाले को, काय योग वाले को और अयोग वाले जीवों को होता है।

भा. यह चार प्र. का शुक्लध्यान तीन योग न वाले जीव को, तीन में से किसी एक योग वाले जीव को, काय योग वाले जीव को और योग रहित जीव को क्रमशः होते हैं। उसमें तीन योग वाले जीव को पृथक्त्ववितर्क, किसी एक योग वाले जीव को एकत्व वितर्क, काय योग जीव को सूक्ष्मक्रिय अप्रतिपाति, योग रहित जीव को व्युपरतक्रिय अनिवृत्ति होता है।

→ अब- शुक्ल ध्यान के प्रथम दो भेद में विशेषता-

सू. एकाश्रये सवितर्के पूर्वे 9-44॥

सः भा. प्रथम और द्वितीय, पूर्व के दो ध्यान एक द्रव्य (i) के आश्रय वाले और वितर्क सहित हैं। उनमें पहला भेद विचार सहित है।

हि. (i) इन ध्यान में भी पूर्वधर अ. एक पुद्गल परमाणु या आत्मद्रव्य का ही आश्रय या आलंबन लेते हैं अतः ये ध्यान एक आश्रय वाले कहे जाते हैं।

→ अब- प्रथम दो भेद में अंतर-

सू. अविचारं द्वितीयम् 9-45॥

सः भा. द्वितीय भेद सवितर्क किंतु विचार रहित होता है।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है- वितर्क और विचार में क्या अंतर है ? यहाँ कहते हैं-

सू. वितर्कः श्रुतम् 9-46॥

अ. भा. पू. यथोक्त[i] श्रुतज्ञान[ii] वितर्क[iii] होता है।

(i) यथोक्त यानि पूर्वगत श्रुतज्ञान।

(ii) श्रुतज्ञान स्थिर स्वभाव वाला होना चाहिए अर्थात् संशय-विपर्यय से रहित होना चाहिए।

(iii) वितर्क यानि पदार्थ जिसके द्वारा विचारा जाए। यह मतिज्ञान का विकल्प है। यहाँ मति और श्रुतज्ञान का अभेद कर वितर्क को श्रुत कहा है। जिसमें से तर्क (विपर्यय-संशय) चला गया हो, ऐसा श्रुतज्ञान वितर्क कहा गया है।
[विगतं तर्कं इति वितर्कः श्रुतम्]

सू. विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसङ्क्रान्तिः 9-47॥

अ. भा. पू. अर्थ[i]-व्यंजन और योग[ii] की संक्रांति विचार है।

(i) अर्थ= परमाणु वि.। व्यंजन= परमाणु वि. का वाचक शब्द। उनमें संक्रमण करना यानि पहले अर्थ के स्वरूप का चिंतन कर शब्द का स्वरूप विचारना अथवा इसका विपरीत करना। पहले शब्द का स्वरूप, फिर उसके पर्याय, फिर उसके संपूर्ण अर्थ का चिंतन करते हैं। (यही संक्रमण द्रव्य-पर्याय का संक्रमण भी कहा जाता है)

(ii) योग यानि मन-वचन-काया। जब काय योग में उपयोग वाला ध्यान होता है, तब वचन से और मनोयोग का संचार होता है। इस प्रकार योगों का संचार अन्य प्रकार से भी जानना। यह योग संक्रांति है।

* अर्थ और व्यंजन संक्रमण में दो मत है- ⓐ अर्थ और व्यंजन यानि पदार्थ और सूत्र का परस्पर संक्रमण करना ⓑ अर्थ से अर्थ अन्य अर्थ का संक्रमण, वह अर्थ संक्रांति, शब्द से अन्य शब्द पर संक्रमण वह व्यंजन संक्रांति है। सिद्धसेन गणि और हरिभद्रीय टीका में ⓐ मत का स्वीकार है तथा ⓑ मत को उन्होंने मतांतर रूप में कहा है। ⓑ मत गुणस्थानक्रमारोह वि. ग्रंथों में प्राप्त होता है।

DATE ___/___/___

★ शुक्ल ध्यान के ४ भेद के भावार्थ (सू. 9-39 से 9-47 तक की Summary)

(i) पृथक्त्व वितर्क सविचार → पृथक्त्व = भेद, वितर्क = श्रुतज्ञान, विचार = संक्रांति। पूर्वधर महात्मा पूर्वगत श्रुत के आधार पर आत्मा अथवा परमाणु आदि किसी एक द्रव्य का आलंबन लेकर उसकी पर्यायों के भेद की प्रधानता वाला चिंतन करे। उस चिंतन में वे द्रव्य से पर्याय, शब्द से अर्थ, मन-वचन-काया के योगों इत्यादि का संक्रमण करते हैं।

(ii) एकत्व वितर्क अविचार → एकत्व = एक ही द्रव्य, एक योग, एक ही पर्याय अथवा अर्थ, वितर्क = श्रुत, अविचार = संक्रमण रहित। शुक्ल ध्यान के पहले भेद में रहे महात्मा योगों को और अधिक स्थिर करते हैं, तब यहाँ पहुँचते हैं। इस ध्यान से केवलज्ञान प्रगट होता है।

(iii) सूक्ष्मक्रिय अप्रतिपाति → यह ध्यान केवली अ. योग निरोध के लिए करते हैं। सूक्ष्मक्रिय = क्रिया यानि योग, यहाँ आत्मा सूक्ष्म योग वाली होती है क्योंकि मोक्ष के लिए केवली अ. योगों का निरोध करते हैं। केवलिसमुद्घात के बाद यह ध्यान होता है। शरीर से ⅓ भाग न्यून भाग में रहे केवली को यहाँ संज्ञी पंचेंद्रिय के मनो योग, पर्याप्त बेइंद्रिय के वचन योग, पर्याप्त बादर पनक के काय योग से असंख्य गुण हीन योग होता है। शेष योगों का उन्होंने निरोध कर दिया होता है। (मन-वचन-काय योग क्रमशः संज्ञी पंचेंद्रिय - पर्याप्त बेइंद्रिय - पर्याप्त बादर पनक में जघन्य होते हैं) अप्रतिपाती यानि यह ध्यान आने के बाद वापस नहीं जाता है।

(iv) व्युपरत क्रिया अनिवृत्ति → व्युपरत क्रिय यानि योग निरोध संपूर्ण हो गया है। यह ध्यान मोक्ष में न जाए, वहाँ तक आकता नहीं है, अतः अनिवृत्ति। यह 14वें गुणस्थान में होता है।

आ. यह आभ्यंतर तप संवर रूप होने से नए कर्म के उपचय का प्रतिषेधक है और निर्जरा फल वाला होने से कर्म की निर्जरा करने वाला है। नए कर्म के उपचय का प्रतिषेधक और पूर्व उपचित कर्म का निर्जरक होने से यह तप निर्वाण प्राप्त कराने वाला है।

यहाँ शिष्य पूछता है- आपके द्वारा कहा गया कि परीषह जय और तप के प्रभाव से कर्म निर्जरा होती है। तो क्या सभी सम्यग्दृष्टि समान निर्जरा वाले हैं अथवा कुछ भेद है? यहाँ कहते हैं-

DATE / / 41

सू. सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपक-क्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसङ्ख्येयगुणनिर्जराः 9-47॥

भा. सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धिवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, मोहोपशमक, उपशांतमोह, क्षीणमोह, जिन इस प्रकार ये 10 क्रमशः असंख्य गुना निर्जरा वाले हैं। वह इस प्रकार- सम्यग्दृष्टि से श्रावक असंख्य गुना निर्जरा वाला है, श्रावक से विरत, विरत से अनंतानुबंधि वियोजक इस प्रकार शेष हैं।

टी. (i) अनंतानुबंधिवियोजक- जिसके अनंतानुबंधी कषायों का उपशम अथवा क्षय हो गया है किंतु दर्शनमोहनीय कर्म उदय में हो।

→ अब- संवर और चारित्र के स्वामी-

सू. पुलाक-बकुश-कुशील-निर्ग्रन्थ-स्नातकाः निर्ग्रन्थाः 9-48॥

प्र. पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक, ये निर्ग्रंथ हैं।

भा. पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रंथ, स्नातक इस प्रकार ये 5 निर्ग्रंथ(i) विशेष हैं।

टी. (i) ग्रंथ यानि 19 के आश्रव अथवा परिग्रह।

भा. उनमें जिनोक्त आगम से हमेशा नहीं गिरने वाले निर्ग्रंथ पुलाक(i) हैं।

टी. (ii) भावार्थ- पुलाक यानि निःसार। इन निर्ग्रंथों को तप और श्रुत से लब्धि प्राप्त होती है। उस लब्धि के उपयोग रूप प्रमाद से ये स्वयं की आत्मा को निःसार सार रहित कर देते हैं। किंतु आगम में हमेशा श्रद्धा करने वाले होते हैं। कुछ अन्य आचार्य कहते हैं कि ये मुनि लब्धि सिवाय कभी भी प्रमाद नहीं करने से अप्रमादी होते हैं।

भा. निर्ग्रंथता(i) की ओर निकले हुए, शरीर-उपकरण(ii) की विभूषा करने वाले, ऋद्धि(iii) और यश(iv) के कामी, साता गारव के आश्रय वाले, अविविक्त(v) परिवार वाले, छेद प्रायश्चित्त(vi) वाले शबल से युक्त निर्ग्रंथ बकुश होते हैं।

टी. (i) बकुश = शबल। शबल यानि एक ही कपड़ा, जो कहीं से लाल, कहीं से पीला, कहीं से काला, कहीं सफेद होता है। इसी प्रकार इन साधुओं का चारित्र रूपी पट शबल के कारण डाग-धब्बे वाला होता है।

(ii) निर्ग्रंथता को इच्छने वाले यानि मोहनीय कर्म के क्षय के लिए प्रवृत्त।

DATE ___/___/___

(iii) बकुश के २ प्र.-

ⓐ शरीर बकुश- कारण बिना हाथ-पैर- मुँह धोने वाले, आँख-कान-नाक वि. से मैल निकालने वाले, दातून करने वाले, बाल बनाने वाले इत्यादि शरीर विभूषा।

ⓑ उपकरण बकुश- अकाल में ही चोलपट्ट, कपड़े वि. साफ रखने के प्रेम वाले, पात्र-दांडे वि. भी प्रमाणसर और तेल, Polish से उज्जवल रखे इत्यादि।

(iv) ऋद्धि-बहुत वस्त्र, पात्र ~~इत्र~~ आदि। यश- 'ये साधु विशिष्ट गुणवान् हैं' ऐसी ख्याति।

(v) अविविक्त यानि असंयम वाले साधुओं के परिवार वाले। जंघा वि. का मैल साफ करने वाले, तेल की मालिश-बालों की कटिंग वि. करने वाले ये होते हैं।

(vi) सर्व छेद और देश छेद के योग्य अतिचारों का सेवन करने वाले।

भा. कुशील २ प्र.- प्रतिसेवना[(i)] (प्रायश्चित्त) कुशील और कषाय कुशील। उसमें निर्ग्रंथता की ओर निकले हुए, अनियमित[(ii)] इंद्रिय वाले, किसी प्रकार उत्तर[(iii)] गुणों में कुछ विराधना करते हुए विचरते हैं, वे प्रतिसेवना कुशील। जिन संयतों को किसी[(iv)] प्रकार से संज्वलन कषाय उदीरणा किया जाए, वे कषाय कुशील।

टी. (i) प्रतिसेवना यानि आसेवन, उसमें कुत्सित है शील जिनका वे प्रतिसेवना कुशील। संज्वलन कषाय के उदय से कुत्सित शील वाले कषाय कुशील।

(ii) रूपादि विषयों को देखने में आदर वाले।

(iii) किसी प्रकार से बहाना बताकर पिंडविशुद्धि-समिति-भावना-तप-प्रतिमा-अभिग्रह आदि उत्तरगुणों का भंग कर अतिचार लगाते हैं।

(iv) दीवाल, लकड़ी, पत्थरादि में स्खलना होने इत्यादि अल्प हेतु से ही जिन्हें क्रोधादि संज्वलन कषायों का उदय हो जाता है।

भा. जो वीतराग[(i)] छद्मस्थ[(ii)] हैं तथा ईर्यापथ को प्राप्त हैं, वे निर्ग्रंथ। ईर्या यानि योग, पथ यानि संयम, ईर्यापथ को प्राप्त अर्थात् योग संयम को प्राप्त।

टी. (i) निर्ग्रंथ= जिनकी मोह रूपी ग्रंथि सर्वथा नष्ट हुई है अथवा उपशम हुई है।

(ii) 11वां और 12वां गुणस्थान।

भा. सयोगी और शैलेशी अवस्था को प्राप्त ऐसे केवली स्नातक हैं।

DATE __/__/ 43

सू. संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपातस्थानविकल्पतः साध्याः ९-५०॥

अ. संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपात, स्थान इन ८ द्वारों से पुलाकादि निर्ग्रंथ साध्य हैं (कहने योग्य हैं अथवा विचारने योग्य हैं)।

भा. ये पुलाकादि ५ निर्ग्रंथ विशेष इन संयमादि अनुयोग विकल्पों द्वारा साध्य हैं। वह इस प्रकार -

संयम- कौन किस संयम में होता है। कहते हैं- पुलाक[i], बकुश[ii]- प्रतिसेवनाकुशील[iii] सामायिक और छेदोपस्थाप्य, २ संयम में होते हैं। कषायकुशील[iv] परिहार-विशुद्धि और सूक्ष्मसंपराय, २ संयम में होते हैं। निर्ग्रंथ और स्नातक यथाख्यात संयम एक में होते हैं।

टी.
(i) पुलाक- ५ प्र. - (a) ज्ञान पुलाक- अकाल में पढ़ना इत्यादि ज्ञानातिचार वाले।
(b) दर्शन पुलाक- कुदृष्टि का संसर्ग इत्यादि दर्शनातिचार वाले।
(c) चारित्र पुलाक- मूल गुण और उत्तर गुणों में अतिचार लगाने वाले।
(d) लिंग पुलाक- शास्त्रोक्त लिंग से अधिक लिंग ग्रहण करने वाले।
(e) सूक्ष्म पुलाक- मन से सूक्ष्म अतिचार लगाने वाले।

(ii) बकुश - ५ प्र. (a) आभोग बकुश - जानते हुए भी दोष सेवे।
(b) अनाभोग बकुश- अजानते दोष सेवे।
(c) संवृत्त बकुश- गुप्त रीति से दोष सेवे।
(d) असंवृत्त बकुश- प्रगट दोष सेवे।
(e) सूक्ष्म बकुश- कुछ प्रमाद करने वाले।

(iii) प्रतिसेवनाकुशील - ५ प्र. ज्ञान-दर्शन-चारित्र-लिंग-सूक्ष्म, पुलाक-वत्।
कषाय कुशील के भी यही ५ भेद हैं।

(iv) अन्य मत- कषाय कुशील यथाख्यात सिवाय ५ चारित्र में होते हैं।

भा. श्रुत- पुलाक[i]-बकुश-प्रतिसेवनाकुशील उत्कृष्ट से अभिन्न अक्षर वाले १० पूर्वधर होते हैं। कषाय-कुशील और निर्ग्रंथ १४ पूर्वधर होते हैं। जघन्य से पुलाक का श्रुत ९ वें पूर्व में तृतीय आचार वस्तु है। बकुश-कुशील-निर्ग्रंथों का श्रुत ८ प्रवचन माता है। केवली स्नातक श्रुत रहित हैं।[ii]

टी.
(i) पुलाक का उत्कृष्ट श्रुत आगम में ९ पूर्व कहा है।

DATE ___/___/___

(ii) (Summary)

निर्ग्रंथ	उत्कृष्ट श्रुत	जघन्य श्रुत
पुलाक	10 पूर्व	9 वां पूर्व - 3री वस्तु (आचार)
बकुश	"	अष्ट प्रवचन माता
प्रतिसेवनाकुशील	"	"
कषाय कुशील	14 पूर्व	"
निर्ग्रंथ	"	"
स्नातक	—	—

प्र. प्रतिसेवना - पुलाक पर अभियोग से, बलात्कार से 5 मूलगुण और 6ठा रात्रिभोजन विरमण व्रत में से किसी एक का सेवन करने वाले होते हैं, कुछ कहते हैं कि वे मैथुन का भी सेवन करते हैं। (ii) बकुश 2 प्र. - उपकरण बकुश और शरीर बकुश। उसमें उपकरण में आसक्त चित्त वाले, विविध-विचित्र और महँगे उपकरण के परिग्रह से युक्त, बहुत और विशेष उपकरण की कांक्षा से युक्त, नित्य उनके संस्कार का सेवन करने वाला भिक्षु उपकरण बकुश है। शरीर में आसक्त चित्त वाला, विभूषा के लिए उसके संस्कार का सेवन करने वाला शरीर बकुश है। प्रतिसेवना कुशील मूलगुणों की विराधना नहीं करते हुए उत्तरगुणों में कोई-कोई विराधना का सेवन करते हैं। कषाय कुशील - निर्ग्रंथ - स्नातकों को प्रतिसेवना नहीं होती है।

ही. (i) बकुश मूलगुण का सेवन नहीं करते, उत्तरगुणों में 10 प्र. के पच्चक्खाण में से किसी एक पच्चक्खाण का सेवन करते हैं।

प्र. तीर्थ - सभी निर्ग्रंथ सभी तीर्थंकरों के तीर्थों में होते हैं। कुछ आचार्य मानते हैं कि पुलाक - बकुश - प्रतिसेवना कुशील हमेशा तीर्थ में ही होते हैं, शेष तीर्थ में अथवा अतीर्थ में भी होते हैं।

प्र. लिंग - लिंग दो प्र. - द्रव्यलिंग (ii) और भाव लिंग। भाव लिंग का आश्रय करके सभी 5 निर्ग्रंथ भाव लिंग में होते हैं, द्रव्य लिंग का आश्रय कर भजना है।

ही. (i) द्रव्य लिंग - रजोहरणादि। भाव लिंग - ज्ञान, दर्शन, चारित्र।

(ii) कभी द्रव्य लिंग होता है, कभी नहीं होता।

प्र. लेश्या (i) - पुलाक को अंतिम 3 लेश्या होती हैं। बकुश - प्रतिसेवना कुशील को सभी 6 लेश्या होती है। परिहार विशुद्धि चारित्र वाले कषाय कुशील को अंतिम 3 लेश्या।

* इन प्रत्येक निर्ग्रंथ की संयमलब्धि पूर्व-पूर्व संयमस्थान की अपेक्षा अनंत गुना होती है।

DATE __/__/ 45

सूक्ष्म संपराय वाले कषाय कुशील को और निर्ग्रंथ-स्नातक को केवल शुक्ल लेश्या ही होती है। शैलेशी को प्राप्त योग रहित स्नातक लेश्या रहित होते हैं।

(ii) भा. उपपात - पुलाक का उपपात सहस्रार देवलोक में उत्कृष्ट स्थिति वाले देवों में होता है। बकुश और प्रतिसेवना कुशील का उपपात आरण और अच्युत कल्प में 22 सा. की स्थिति वाले देवों में होता है। कषायकुशील और निर्ग्रंथ का उपपात सर्वार्थसिद्ध में 33 सा. की स्थिति वाले देवों में होता है। सभी का जघन्य से सौधर्म कल्प में पल्योपम पृथक्त्व की स्थिति वाले देवों में उपपात होता है। स्नातक का निर्वाण होता है।

(iii) भा. स्थान - कषाय के निमित्त वाले संयम स्थान असंख्य होते हैं। उसमें पुलाक और कषायकुशील को सबसे जघन्य लब्धि स्थान होते हैं। वे दोनों एक साथ असंख्य स्थान जाते हैं। फिर पुलाक अटक जाते हैं। कषाय कुशील अकेले असंख्य स्थान जाते हैं। फिर कषायकुशील - प्रतिसेवना कुशील और बकुश एक साथ असंख्य स्थान जाते हैं। फिर बकुश अटक जाते हैं। फिर असंख्य स्थान जाकर प्रतिसेवना कुशील अटक जाते हैं। फिर असंख्य स्थान जाकर कषाय कुशील अटक जाते हैं। इससे ऊपर निर्ग्रंथ अकषाय के स्थानों को स्वीकारते हैं। वे भी असंख्य स्थान जाकर अटक जाते हैं। इससे आगे निर्ग्रंथ-ऐसे स्नातक निर्वाण को प्राप्त करते हैं। इनकी संयम लब्धि अनंतानंत गुना** होती है।

ह. (i) लेश्या द्वार की Summary

निर्ग्रंथ	पुलाक	बकुश	प्रतिसेवना कुशील	कषायकुशील (परिहार विशुद्धि)	कषायकुशील (सूक्ष्मसंपराय)	निर्ग्रंथ
लेश्या	अंतिम 3	6	6	अंतिम 3	शुक्ल	शुक्ल
	स्नातक (सयोगी)	स्नातक (अयोगी)				
	शुक्ल	–				

(ii) उपपात द्वार की Summary

निर्ग्रंथ	उपपात
पुलाक	सहस्रार कल्प
बकुश, प्रतिसेवनाकुशील	आरण-अच्युत कल्प
कषायकुशील, निर्ग्रंथ	सर्वार्थसिद्ध
स्नातक	निर्वाण

DATE ___/___/___

(iii) संयमस्थानों का Graph

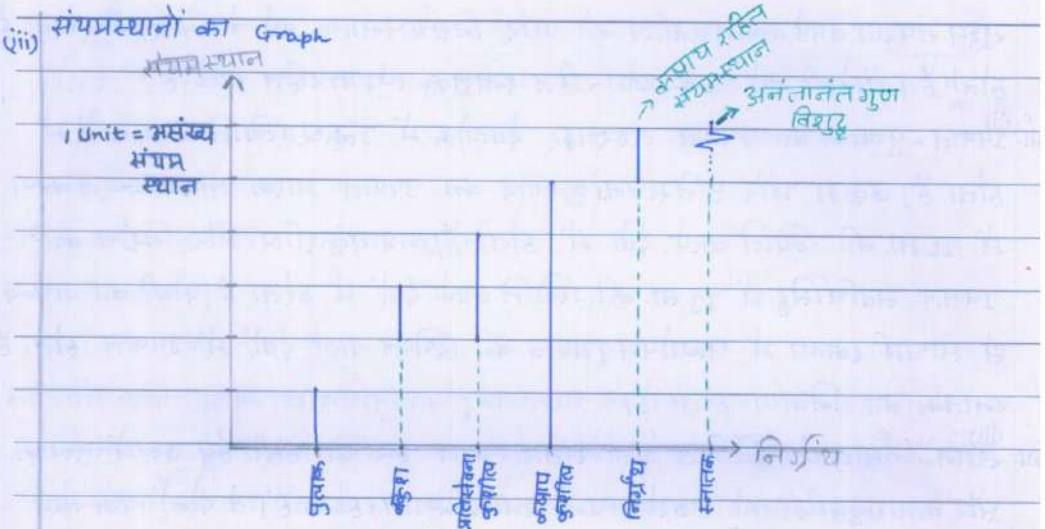

इति श्रीतत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसङ्ग्रहे नवमोऽध्यायः।

दशमोऽध्यायः

→ अतः-संवर और निर्जरा कहे गए। उसका फल मोक्ष होता है। मोक्ष केवलज्ञान की उत्पत्ति के बाद ही होता है। इसलिए केवलज्ञान की उत्पत्ति कहते हैं-

सू. मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् 10-1॥

अ. मोहनीय कर्म के क्षय से और ज्ञान-दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्म के क्षय से केवलज्ञान-दर्शन उत्पन्न होता है।

भा. मोहनीय कर्म क्षीण होने पर और ज्ञानावरण-दर्शनावरण-अन्तराय कर्म क्षीण होने पर केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न होता है। इन ५ कर्मप्रकृतियों का क्षय केवलज्ञान-दर्शन का हेतु है। उनके क्षय से उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार हेतु अर्थ में पंचमी विभक्ति का निर्देश है।

'मोहक्षयात्' इस प्रकार पृथक्करण क्रम की प्रसिद्धि के लिए है, जिससे ज्ञात होता है कि पहले संपूर्ण मोहनीय कर्म का क्षय होता है, फिर अंतर्मुहूर्त के बाद जीव छद्मस्थ वीतराग होता है। फिर इस जीव की ज्ञानावरण-दर्शनावरण-अंतराय इन ३ प्रकृतियों का एक साथ क्षय होता है। फिर केवल उत्पन्न

DATE ___/___/ 47

होता है।

यहाँ शिष्य पूछता है- आपके द्वारा कहा गया कि 'मोह क्षय और ज्ञान-दर्शनावरण-अंतराय के क्षय से कैवल्य होता है। अब मोहनीयादि क्षय कैसे होता है? यहाँ कहते हैं-

सू. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यांम् 10-2॥

अ. बंध हेतुओं के अभाव और निर्जरा से कर्म क्षय होता है।

भा. मिथ्यादर्शनादि बंध के हेतु कहे गए हैं (सू. 8-1)। उनका भी तदावरणीय कर्म के क्षय से अभाव होता है और सम्यग्दर्शनादि की उत्पत्ति होती है। 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' 'तन्निसर्गादधिगमाद्वा (सू. 1-2।3)' इस प्रकार संवर से संवृत बने और सम्यग्[i] योगवाले महात्मा को नए कर्म का उपचय नहीं है और पूर्व में उपचित कर्म का यथोक्त निर्जरा के हेतुओं से अत्यंत क्षय होता है। उससे सर्वद्रव्य और पर्याय विषयक, परम ऐश्वर्य वाला, अनंत[ii], केवल (संपूर्ण) ज्ञान-दर्शन प्राप्त कर जीव शुद्ध[iii], बुद्ध, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, जिन, केवली होता है। ~~फिर अत्यंत अल्प है, शुभ शेष ४ कर्म~~। फिर अत्यंत अल्प और शुभ चार कर्म शेष हैं जिसके, ऐसे केवली आयुष्य कर्म और संस्कार के वश से विहार करते हैं।

टी.

(i) सम्यक् क्रिया अनुष्ठान वाले।

(ii) अनंत- पर्यवसान तथा उच्छेद न होने से।

(iii) शुद्ध = सकल कर्म मल दूर होने से।

बुद्ध = ज्ञान स्वभाव वाले।

जिन = राग-द्वेष-मोह को जीतने वाले।

भा. फिर इन महात्मा का-

सू. कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः 10-3॥

अ. संपूर्ण कर्म क्षय मोक्ष है।

भा. संपूर्ण कर्म के क्षय के लक्षण वाला मोक्ष है। पहले ४ कर्म कर्म क्षीण हो चुके हैं।

DATE ___/___/___

तत्पश्चात् वेदनीय-नाम-गोत्र-आयुष्य कर्म का क्षय होता है। उनके क्षय के समकाल ही औदारिक शरीर से विमुक्त इस आत्मा के जन्म का नाश होता है और हेतु के अभाव से नए जन्म का प्रादुर्भाव नहीं होता। सर्वकर्म के क्षय रूप यह अवस्था मोक्ष कही जाती है। और दूसरा-

सू. औपशमिकादिभव्यत्वाभावाच्चान्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः 10-4॥
अ. केवलसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व सिवाय औपशमिकादि भाव और भव्यत्व के अभाव से मोक्ष होता है।
भा. औपशमिक-क्षायोपशमिक-औदयिक-पारिणामिक और भव्यत्व के अभाव से मोक्ष होता है, केवलसम्यक्त्व-केवलज्ञान-केवलदर्शन-सिद्धत्व को छोड़कर। ये भाव क्षायिक हैं, नित्य हैं, इसलिए मुक्त जीव को भी होते हैं।
टी. पारिणामिक भाव के ग्रहण से भव्यत्व का ग्रहण हो जाता है। तो भव्यत्व का पृथग्ग्रहण क्यों किया? उ. पारिणामिक भावों में से भव्यत्व का ही अभाव होता है, शेष पारिणामिक भाव तो प्रायः सिद्ध को भी होते हैं। यह दर्शाने के लिए भव्यत्व का पृथग्ग्रहण किया।

सू. तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् 10-5॥
अ. उसके बाद मुक्त जीव ऊपर लोकांत तक जाता है।
भा. तदनन्तर यानि संपूर्ण कर्मक्षय के बाद, औपशमिकादि भावों के अभाव के बाद। मुक्त जीव ऊपर लोकांत तक ऊपर जाता है। कर्म क्षय होने पर देह का वियोग, सिद्ध होते जीव की गति और लोकांत की प्राप्ति एक साथ एक ही समय में होती है। वह इस प्रकार- प्रयोगपरिणामादि से उत्पन्न गति रूप क्रिया की उत्पत्ति, कार्य का आरंभ और विनाश एक साथ एक ही समय में होते हैं वैसे।
टी. लोक यानि पंचास्तिकाय का समुदाय। उसके मस्तक पर ईषत्प्राग्भार नामक पृथ्वी है। उसके ऊपर एक योजन तक लोक है। एक योजन = ४ कोस। नीचे के तीन कोस छोड़कर, ऊपर वाले एक कोस में ऊपर के $333\frac{1}{3}$ धनुष

के क्षेत्र में सिद्ध भगवंत के जीव हैं। उसे लोकांत कहते हैं।

भा. यहाँ शिष्य पूछता है - जिसके सभी कर्म नष्ट हो गए हैं और जो आस्रव रहित है, ऐसी आत्मा की (ii) गति कैसे होती है? यहाँ कहते हैं -

हि. (ii) भावार्थ - योगरहित आत्मा तो निष्क्रिय होती है, तो गति रूप क्रिया कैसे होती है?

सू. पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात् तथागतिपरिणामाच्च तद्गतिः 10-6॥

म. पूर्व प्रयोग से, असंग होने से, बंध का छेद होने से और उस प्रकार की गति का परिणाम (स्वभाव) होने से मुक्त जीव की गति होती है।

भा. पूर्वप्रयोग → हाथ-दंड-चक्र के संयुक्त संयोग से और पुरुष के प्रयत्न से प्रेरित कुम्हार का चक्र पुरुषप्रयत्न-हस्तदंडचक्र संयोग उपरत होने पर भी पूर्व प्रयोग से संस्कार के संपूर्ण क्षय होने तक घूमता ही है। इस प्रकार पूर्व में इस जीव को कर्म द्वारा जो प्रयोग उत्पन्न किया गया, वह प्रयोग कर्म क्षीण होने पर भी गति का हेतु बनता है। उस हेतु द्वारा की गई गति होती है।

भा. और दूसरा - (ii) असंग होने से → पुद्गलों और जीवों का गतिमान् पन कहा गया, अन्य द्रव्यों का नहीं। उसमें पुद्गल नीचे जाने के स्वभाव वाले हैं। जीव ऊपर जाने के स्वभाव वाले हैं। यह स्वभाव है। इससे (स्वाभाविकी गति) से अन्य गति संगादि से उत्पन्न होती है। जिस प्रकार प्रयोगादि 4 गतिकारणों के होने पर भी (iii) जाति के नियम से तेजु-वायु-अग्नि की स्वाभाविक गति अधः, तिर्च्छी, ऊपर देखी गई है उस प्रकार संग से मुक्त बने सिद्ध होते जीव की (नीचे) गति ऊपर जाने के स्वभाव से ऊपर ही होती है। संसारी जीवों की गति तो कर्म संग से नीचे - तिर्च्छी - और ऊपर भी होती है।

हि. (i) संग यानि स्खलित। असंग यानि अस्खलित। स्वाभाविक गति से जाती हुई आत्मा स्खलन को प्राप्त नहीं करती है।

(ii) जाति यानि पृथ्वीत्व, अग्नित्व, वायुत्व इत्यादि।

भा. और दूसरा - 4 बंध का छेद → जिस प्रकार रस्सी के बंध का छेद होने से (i) पेड़ की और बीज कोश के बंध का छेद होने से एरंड के बीजों की गति देखी गई है, उसी

DATE ___/___/___

प्रकार कर्म रूपी बंधन के छेद से सिध्यमान जीव की गति होती है।

(i) पेड़ा का अर्थ पेटी होता है। यहाँ कुछ स्पष्ट नहीं है।

(ii) एरण्ड के फल की फली में बीज होते हैं। सूर्य की गर्मी से फली सूखती है। सूखने से वह फटती है जिससे बीज उड़कर दूर-दूर तक जाते हैं।

भा. और दूसरा- तथागतिपरिणाम → ऊर्ध्वगति स्वभाव होने से और पूर्वप्रयोगादि हेतुओं से इस जीव का उस प्रकार का गति परिणाम उत्पन्न होता है जिससे सिध्यमान जीव की गति होती है। गति ऊर्ध्व ही होती है, गौरव यानि भारी पन का परिणाम और असंगयोग के का अभाव होने से नीचे या तिर्च्छी गति नहीं होती है। वह इस प्रकार- गुण वाले भूभाग में बोया हुआ, ऋतुकाल में उत्पन्न, बीज के उद्भेद से क्रमशः अंकुर-प्रवाल-पर्ण-पुष्प-फल के काल में आदरपूर्वक सिंचित, दोहद वि. की पोषण क्रिया से परिणत, काल में करा हुआ ऐसा सूखा तुंबड़ा पानी में डूबता नहीं है। वही तुंबड़ा भारी काली मिट्टी के बहुत सारे घन लेपों से लेपा हुआ, घन मिट्टी के लेप से उत्पन्न हुआ है भारीपन जिसमें ऐसा वह तुंबड़ा पानी में डालने पर नीचे डूब जाता है। जब इस तुंबड़े का लेप पानी से भीगकर निकल जाता है तब मिट्टी के लेप से मुक्त बना वह तुंबड़ा मोक्ष के बाद ही ऊपर पानी की सतह तक जाता है। इस प्रकार ऊपर जाने के स्वभाव वाला जीव भी 8कर्म रूप मिट्टी के लेप से लेपेरा हुआ उसके संग से संसार रूपी महासमुद्र में जन्म रूपी पानी में डूबता है और भव में आसक्त हुआ नीचे-तिर्च्छा और ऊपर जाता है। सम्यग्दर्शनादि रूप पानी के भीगने से नष्ट हुए हैं 8कर्म रूप मिट्टी का लेप जिसका, ऐसा जीव ऊर्ध्वगमन स्वभाव से ऊपर ही ~~अन्त~~ लोकांत तक जाता है।

भा. (यहाँ शंकाकार कहता है-) ऐसा भले हो, किंतु लोकांत से भी ऊपर मुक्त जीव की गति क्यों नहीं होती? यहाँ कहते हैं- धर्मास्तिकाय का अभाव होने से। धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गलों का गति उपग्रह द्वारा उपकार करता है। वह धर्मास्तिकाय वहाँ (लोकांत से ऊपर) नहीं है। इसलिए गति में उपग्रह के कारण के अभाव से आगे गति नहीं होती है, पन पानी में तुंबड़े की तरह। श्रेणि अनुसार गति वाला जीव वहीं लोकान्त पर मुक्त और निष्क्रिय

DATE __/__/51

रहता है।

सू. क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनाऽन्तरसंख्याऽल्प-बहुत्वतः साध्याः 10-7॥

म. क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अंतर, संख्या, अल्प-बहुत्व इन 12 द्वारों से सिद्ध साध्य हैं।(सिद्ध विशेष से कहने योग्य हैं)

भा. क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अंतर, संख्या, अल्पबहुत्व इस प्रकार 12 अनुयोगद्वार सिद्ध के होते हैं। इन द्वारों से सिद्ध साध्य हैं, जानने योग्य हैं, विचारने योग्य हैं, विशेष से कहने योग्य हैं, इस प्रकार एकार्थक हैं। उसमें (i) पूर्वभाव प्रज्ञापनीय और प्रत्युत्पन्नभाव प्रज्ञापनीय, ये दो नय हैं। अनुयोग(ii) विशेष इनके द्वारा किया गया है।

टी. (i) पूर्वभावप्रज्ञापनीय - पूर्व के भाव को ज्ञात कराने वाला नय। नैगम-संग्रह-व्यवहार नय सभी काल को स्वीकारने से इस नय के अंतर्गत हैं।

प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीय - वर्तमान काल के भाव का ज्ञान कराने वाला नय। ऋजु-सूत्र-शब्द-समभिरूढ-एवम्भूत वर्तमान काल के भाव को स्वीकारने से इस नय के अंतर्गत हैं।

(ii) अनुयोग यानि व्याख्या का प्रकार।

भा. वह इस प्रकार - क्षेत्र → किस क्षेत्र में सिद्ध होते हैं। प्रत्युत्पन्नभाव प्रज्ञापनीय नय के आश्रय से सिद्ध क्षेत्र में ही सिद्ध होते हैं। पूर्वभाव प्रज्ञापनीय नय के में जन्म का आश्रयकर 15 कर्मभूमि में उत्पन्न जीव ही सिद्ध होते हैं। संहरण का आश्रय कर मनुष्यक्षेत्र में सिद्ध होते हैं। उसमें प्रमत्तसंयत और संयतासंयत का संहरण किया जाता है। साधी, अवेदी, परिहारविशुद्धिसंयत, पुलाक संयत, अप्रमत्त संयत, 14 पूर्वी, आहारकशरीरी, ये 7 कभी भी संहरण नहीं किए जाते। ऋजुसूत्र नय और शब्दादि 3 नय प्रत्युत्पन्नभाव प्रज्ञापनीय नय हैं, शेष नय दोनों भाव को ज्ञात कराते हैं।

काल → यहाँ भी दो नय हैं। किस काल में सिद्ध होते हैं। प्रत्युत्पन्नभाव प्रज्ञापनीय नय से अकाल (काल रहित क्षेत्र) में सिद्ध होते हैं। पूर्वभाव प्रज्ञापनीय नय से

DATE ___/___/_____

जन्म से और संहरण से। जन्म से अवसर्पिणी में, उत्सर्पिणी में और अनवसर्पिणी-उत्सर्पिणी में उत्पन्न जीव सिद्ध होता है। इस प्रकार सामान्य से कहा। विशेष से अवसर्पिणी में सुषमदुःषमा आरे में संख्यात वर्ष शेष होने पर उत्पन्न जीव सिद्ध होता है; दुःषमसुषमा संपूर्ण आरे में उत्पन्न सिद्ध होते हैं; दुःषमसुषमा में उत्पन्न दुःषमा आरे में सिद्ध होता है किंतु दुःषमा में उत्पन्न जीव सिद्ध नहीं होता; अन्य काल में सिद्ध नहीं होते। संहरण के आश्रय से सर्वकालों में; अवसर्पिणी में, उत्सर्पिणी में और अनवसर्पिणी-उत्सर्पिणी में उत्पन्न सिद्ध होते हैं।

गति → प्रत्युत्पन्नभाव प्रज्ञापनीय नय से सिद्ध गति में सिद्ध होते हैं। शेष नय २५ के हैं- अनन्तरपश्चात्कृतगतिक और एकान्तरपश्चात्कृतगतिक। अनन्तरपश्चात्कृतगतिक नय से मनुष्यगति में सिद्ध होते हैं। एकान्तरपश्चात्कृतगतिक नय से सामान्य से सर्वगति से सिद्ध होते हैं।

लिंग → स्त्री-पुरुष-नपुंसक हैं। प्रत्युत्पन्नभाव प्रज्ञापनीय से वेदरहित जीव सिद्ध होता है। पूर्वभाव प्रज्ञापनीय में अनन्तरपश्चात्कृतगतिक और परम्परपश्चात्कृतगतिक नय से तीनों लिंगों से जीव सिद्ध होता है।

तीर्थ → तीर्थकरसिद्ध तीर्थकर के तीर्थ में होते हैं, नोतीर्थकरसिद्ध तीर्थकर के तीर्थ में होते हैं, अतीर्थकरसिद्ध भी तीर्थकर के तीर्थ में होते हैं। इस प्रकार तीर्थकरी के तीर्थ में सिद्ध भी जानना।

हि. प्रत्येकबुद्ध।

भा. लिंग में पुनः अन्य विकल्प कहते हैं- द्रव्यलिंग, भाव लिंग, अलिंग। प्रत्युत्पन्नभाव प्रज्ञापनीय नय से अलिंग जीव सिद्ध होता है। पूर्वभाव प्रज्ञापनीय नय से भाव लिंग का आश्रय कर स्वलिंग में जीव सिद्ध होता है। द्रव्य लिंग ३प्र.- स्वलिंग, अन्य लिंग, गृहिलिंग। इनका आश्रय कर विकल्प से भजना होती है। सभी जीव भावलिंग को प्राप्त-ही सिद्ध होते हैं।

हि. द्रव्य लिंग = उपकरणादि। भाव लिंग = ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि। अलिंग - लिंग रहित।

भा. चारित्र → प्रत्युत्पन्नभाव प्रज्ञापनीय नय से नोचारित्री-नोअचारित्री* जीव सिद्ध होता है। पूर्वभाव प्रज्ञापनीय नय २प्र.- अनन्तरपश्चात्कृतिक और परम्परपश्चात्कृतिक।

* सिद्ध जीव चारित्री नहीं होते हैं। इसलिए यहाँ नोचारित्री और नोअचारित्री कहा। नेचारित्री है चारित्री और नहीं भी।

DATE __/__/53

अनंतरपश्चात्कृतिक से यथाख्यातसंयत सिद्ध होता है। परंपरपश्चात्कृतिक के व्यंजित और अव्यंजित में विचारना चाहिए। अव्यंजित में तीन चारित्र वाला पश्चात्कृत जीव, चार चारित्र वाला पश्चात्कृत और पाँच चारित्र वाला पश्चात्कृत जीव सिद्ध होता है। व्यंजित में सामायिक सूक्ष्मसंपराय यथाख्यात और छेदोपस्थाप्य सूक्ष्मसंपराय यथाख्यात पश्चात्कृत सिद्ध (तीन चारित्र वाले), सामायिक छेदोपस्थाप्य सूक्ष्मसंपराय यथाख्यात और छेदोपस्थाप्य परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसंपराय यथाख्यात पश्चात्कृत सिद्ध (4 चारित्र वाले), सामायिक छेदोपस्थाप्य परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसंपराय यथाख्यात पश्चात्कृत सिद्ध (5 चारित्र वाले) हैं।

टी. (i) व्यंजित यानि स्पष्ट किया हुआ। अव्यंजित यानि सामान्यमात्र कहा हुआ।

भा. प्रत्येकबुद्धबोधित → इस द्वार की व्याख्या के 4 विकल्प हैं। वह इस प्रकार - ~~अस्ति~~ स्वयंबुद्ध सिद्ध हैं। वे दो प्र.के - अरिहंत यानि तीर्थंकर और प्रत्येकबुद्ध। बुद्धबोधित सिद्ध तीसरे और चौथे विकल्प वाले हैं - परबोधक सिद्ध और स्वेष्टकारी सिद्ध।

टी. (i) Summary - सिद्ध की कुल 4 भेदों में समावेश -

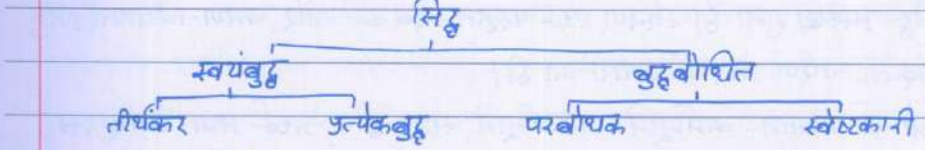

(ii) जो स्वयं बोध पामे, वे स्वयंबुद्ध।

(iii) जो दूसरे बुद्ध (यानि जिसे ज्ञान हो चुका है) द्वारा बोध पामे, वे बुद्धबोधित।

(iv) परबोधक - स्वयं बोध प्राप्त कर दूसरे को बोध देने वाले।
स्वेष्टकारी - स्वयं बोध प्राप्त कर स्वयं का इष्ट करने वाले।

भा. ज्ञान → यहाँ प्रत्युत्पन्नभाव प्रज्ञापनीय नय से केवली सिद्ध होते हैं। पूर्वभावप्रज्ञापनीय 29.- अनन्तरपश्चात्कृतिक और परंपरपश्चात्कृतिक। [अनंतरपश्चात्कृतिक में तो कभी कोई भी एक ज्ञान हो सकता है।] (परंपरपश्चात्कृतिक नय में) व्यंजित और अव्यंजित में विचारना है। अव्यंजित में दो ज्ञान, तीन ज्ञान या 4 चार ज्ञान से सिद्ध होते हैं। व्यंजित में दो मति-श्रुत ज्ञान से, 3 मति-श्रुत-अवधि ज्ञान से, अथवा मति-श्रुत-मनःपर्यय ज्ञान से, 4 मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय ज्ञान से सिद्ध होते हैं।
अवगाहना → किस शरीर-अवगाहना में वर्तता कौन सिद्ध होता है। अवगाहना 29.- उत्कृष्ट और जघन्य। उत्कृष्ट धनुष पृथक्त्व से अधिक 500 धनुष। जघन्य

DATE ___/___/___

अंगुल पृथक्त्व से हीन सात हाथ। पूर्वभाव प्रज्ञापनीय नय से ये इन शरीर अवगाहनाओं में सिद्ध होते हैं। प्रत्युत्पन्नभाव प्रज्ञापनीय नय से तो इन अपनी अवगाहनाओं में ही स्व-स्व अनुसार तीसरे भाग से हीन अवगाहना में सिद्ध होते हैं।

अन्तर → सिद्ध होते हुए जीवों का अंतर क्या है। जीव अंतर बिना और अंतर सहित सिद्ध होते हैं। उसमें अंतर रहित जघन्य से 2 समय और उत्कृष्ट से 8 समय तक सिद्ध होते हैं। अंतर सहित जघन्य से 1 समय और उत्कृष्ट से 6 मास तक अंतर होता है।

संख्या → एक समय में कितने सिद्ध होते हैं। जघन्य से 1, उत्कृष्ट से 108 सिद्ध होते हैं।

अल्पबहुत्व → इन क्षेत्रादि 11 अनुयोग द्वारों का अल्पबहुत्व कहना चाहिए। वह इस प्रकार -

1. क्षेत्र → क्षेत्र सिद्धों का अल्पबहुत्व जन्म से और संहरण से (ऐसे 2 भेद) और कर्मभूमि सिद्ध और अकर्मभूमि सिद्ध (ऐसे 2 भेद) से विचारना। संहरण सिद्ध सबसे अल्प हैं, जन्म सिद्ध असंख्य गुना है। संहरण 2 भेद - परकृत = देव कर्म और चारण-विद्याधरों द्वारा; स्वयंकृत = चारण और विद्याधरों का ही।

इन क्षेत्रों के विभाग - कर्मभूमि - अकर्मभूमि, समुद्र-द्वीप, ऊर्ध्व-अधो-तिर्यग् इस प्रकार 3 लोक है। उसमें सबसे अल्प ऊर्ध्वलोक सिद्ध हैं, अधोलोक सिद्ध संख्यात गुना, तिर्यग्लोक सिद्ध संख्यात गुना। सबसे अल्प समुद्र सिद्ध, द्वीपसिद्ध संख्यात गुना हैं। इस प्रकार सामान्य से है। विशेष में सबसे अल्प लवणसिद्ध, कालोदधि सिद्ध संख्यात गुना, जंबूद्वीप सिद्ध संख्यात गुना, धातकीखंड सिद्ध संख्यात गुना, पुष्करार्द्ध सिद्ध संख्यात गुना।

2. काल → 3 भेद का विभाग है - अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, अनवसर्पिणी-उत्सर्पिणी। यहाँ सिद्धों का व्यंजित - अव्यंजित विशेष से युक्त अल्पबहुत्व का ज्ञान करना। पूर्वभाव-प्रज्ञापनीय से सबसे अल्प उत्सर्पिणी सिद्ध, अवसर्पिणी सिद्ध विशेषाधिक, अनवसर्पिणी-उत्सर्पिणी सिद्ध संख्यात गुना है। प्रत्युत्पन्नभाव प्रज्ञापनीय से अकाल में सिद्ध होते हैं, अल्पबहुत्व नहीं होता है।

3. गति → प्रत्युत्पन्नभाव प्रज्ञापनीय से सिद्धगति में सिद्ध होते हैं, अल्पबहुत्व नहीं होता है। पूर्वभाव प्रज्ञापनीय में अनंतरपश्चात्कृतिक नय से मनुष्यगति में सिद्ध होते हैं, अल्पबहुत्व नहीं होता है। परंपरपश्चात्कृतिक नय में अनंतर गति

DATE ___/___/55

विचारी जाती है। वह इस प्रकार- सबसे अल्प तिर्यंच योनि अनंतर गति सिद्ध, मनुष्यों से अनंतर गति सिद्ध संख्यात गुना, नारकों से अनंतर गति सिद्ध संख्यात गुना, देवों से अनंतर गति सिद्ध संख्यात गुना है।

4. लिंग → प्रत्युत्पन्नभाव प्रज्ञापनीय से अवेदी सिद्ध होते हैं, अल्प बहुत्व नहीं है। पूर्वभाव-प्रज्ञापनीय से नपुंसक लिंग सिद्ध सबसे अल्प, स्त्री लिंग सिद्ध संख्यात गुना, पुल्लिंग सिद्ध संख्यात गुना है।

5. तीर्थ → तीर्थंकर सिद्ध सबसे अल्प, तीर्थंकर के तीर्थ में नोतीर्थंकर सिद्ध संख्यात गुना, तीर्थंकर तीर्थ में नपुंसक सिद्ध संख्यात गुना, तीर्थंकर तीर्थ में स्त्री सिद्ध संख्यात गुना, तीर्थंकर तीर्थ में पुरुष सिद्ध संख्यात गुना।

6. चारित्र → यहाँ भी दो नय हैं- प्रत्युत्पन्नभाव प्रज्ञापनीय और पूर्वभाव प्रज्ञापनीय। प्रत्युत्पन्नभाव चारित्र से नोचारित्री-नोऽचारित्री जीव सिद्ध होते हैं, अल्प बहुत्व नहीं है। पूर्वभाव प्रज्ञापनीय में व्यंजित और अव्यंजित में विचारना। अव्यंजित में 5 चारित्र वाले सिद्ध सबसे अल्प, 4 चारित्र वाले संख्यात गुना, 3 चारित्र वाले संख्यात गुना। व्यंजित में सामायिक-छेदोपस्थाप्य-परिहार विशुद्धि-सूक्ष्मसंपराय-यथाख्यात चारित्र वाले सिद्ध सबसे अल्प, छेदोपस्थाप्य-परिहार विशुद्धि-सूक्ष्म संपराय-यथाख्यात चारित्र वाले सिद्ध संख्यात गुना, सामायिक-छेदोपस्थाप्य-सूक्ष्मसंपराय-यथाख्यात चारित्र वाले सिद्ध संख्यात गुना (4 चारित्र में दो विकल्प), (अंतर से तीसरा विकल्प- सामायिक-परिहार विशुद्धि-सूक्ष्म संपराय यथाख्यात-चारित्र वाले सिद्ध संख्यात गुना), सामायिक-सूक्ष्मसंपराय-यथाख्यात चारित्र वाले सिद्ध संख्यात गुना, छेदोपस्थाप्य-सूक्ष्मसंपराय-यथाख्यात चारित्र वाले सिद्ध संख्यात गुना है (तीन चारित्र वाले के 2 विकल्प)।

7. प्रत्येकबुद्धबोधित → सबसे अल्प प्रत्येकबुद्ध सिद्ध, नपुंसक बुद्धबोधित सिद्ध संख्यात गुना, स्त्री बुद्धबोधित सिद्ध संख्यात गुना, पुरुष बुद्धबोधित सिद्ध संख्यात गुना।

8. ज्ञान → किस ज्ञान से युक्त कौन सिद्ध होता है। प्रत्युत्पन्नभाव प्रज्ञापनीय नय से सभी केवली सिद्ध होते हैं, अल्पबहुत्व नहीं होता। पूर्वभाव प्रज्ञापनीय से सबसे अल्प 2 ज्ञान वाले सिद्ध, 4 ज्ञान वाले सिद्ध संख्यात गुना, 3 ज्ञान वाले सिद्ध संख्यात गुना। इस प्रकार अव्यंजित में है। व्यंजित में मति-श्रुत ज्ञान वाले सबसे अल्प, मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्याय ज्ञान वाले सिद्ध संख्यात गुना, मति-श्रुत-अवधिज्ञान

DATE __/__/____

वाले सिद्ध संख्यात गुना | ~~मति-श्रुत-अवधि~~

9. अवगाहना → जघन्य अवगाहना वाले सिद्ध सबसे अल्प, उत्कृष्ट अवगाहना वाले सिद्ध उससे असंख्य गुना, यवमध्य सिद्ध असंख्य गुना, यवमध्य के ऊपर सिद्ध असंख्य गुना, यवमध्य के नीचे सिद्ध विशेषाधिक, सभी मिलकर विशेषाधिक हैं।

10. अंतर → सबसे अल्प 8 समय तक लगातार सिद्ध, 7 समय - 6 समय लगातार सिद्ध इस प्रकार 2 समय तक लगातार सिद्ध संख्येय गुना होते हैं। इस प्रकार अनन्तर सिद्धों में अल्पबहुत्व है। अंतर सहित सिद्धों में 6 मास अंतर वाले सिद्ध सबसे अल्प, एक समय के अंतर वाले सिद्ध संख्यात गुना, यवमध्य के अंतर वाले सिद्ध संख्यात गुना, ~~3~~ यवमध्य से ~~नीचे~~ कम अंतर वाले सिद्ध असंख्य गुना, यवमध्य से ऊपर (ज्यादा) अंतर वाले सिद्ध विशेषाधिक हैं, सभी मिलकर विशेषाधिक हैं।

11. संख्या → 108 सिद्ध सबसे अल्प, 107 सिद्धादि विपरीत क्रम से यावत् 50 तक अनंत गुना, 49 सिद्धादि 25 तक असंख्य गुना। 24 आदि एक तक संख्यात गुना सिद्ध हैं।
विपरीत हानि इस प्रकार है - अनंतगुण हानि वाले सिद्ध सबसे अल्प हैं, असंख्यगुण हानि वाले अनंतगुण हैं, संख्यात गुण हानि वाले संख्यात गुण सिद्ध हैं।

भा. इस प्रकार निसर्ग-अधिगम में से किसी एक से उत्पन्न, तत्त्वार्थश्रद्धानात्मक, शंकादि अतिचार रहित, प्रशम-संवेग-निर्वेद-अनुकंपा-आस्तिक्य की अभिव्यक्ति रूप लक्षण वाले विशुद्ध सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से विशुद्ध ज्ञान को जानकर निक्षेप-प्रमाण-नय-निर्देश-सत्-संख्यादि उपायों द्वारा जीवादि तत्त्वों के और पारिणामिक-औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक-क्षायिक भावों के स्वरूप को जानकर आदिमान् पारिणामिक-औदयिक भावों की उत्पत्ति-स्थिति-नाश-अनुग्रह-प्रलय-तत्त्व को जानने वाला, विरक्त, तृष्णा रहित, तीन गुप्ति से गुप्त, पाँच समिति से समित, 10 विध धर्म के अनुष्ठान से और फल्य देखने से निर्वाण प्राप्ति के लिए यतना द्वारा बढ़े हुए श्रद्धा और संवेग वाला, भावनाओं से भावित आत्मा वाला, अनुप्रेक्षाओं से स्थिर आत्मा वाला, आसक्ति रहित, संवृत होने से - आस्रव रहित होने से - विरक्त होने से और तृष्णा रहित होने से नए कर्म का उपचय नहीं करने वाला, परीषह जय से -

DATE ___/___/ 57

बाह्य अभ्यंतर तप अनुष्ठान से और (कर्म के) अनुभाव से सम्यग्दृष्टि-विरतादि से लेकर जिन तक के परिणाम- अध्यवसाय की विशुद्धि के स्थानों की ~~प्राप्त कर~~ असंख्य गुणे उत्कर्ष की प्राप्ति से पूर्व में उपचित कर्म की निर्जरा करता, सामायिकादि से लेकर सूक्ष्मसंपराय तक के संयम विशुद्धि के स्थानों की उत्तरोत्तर प्राप्ति से और पुलाकादि निर्ग्रंथों के संयम अनुपातन के विशुद्धि स्थानविशेषों को ~~अ~~ उत्तरोत्तर स्वीकार से यत्न करता, अत्यंत नष्ट हो गए आर्त और रौद्रध्यान जिसके ऐसा, धर्मध्यान के विजय से प्राप्त किया है समाधि बल जिसने ऐसा, पृथक्त्ववितर्क और एकत्व वितर्क शुक्लध्यान में से किसी एक ध्यान में वर्तता, नाना प्रकार के ऋद्धि विशेषों को प्राप्त करता है। वह इस प्रकार- आमर्षौषधि, विप्रुडौषधि, सर्वौषधि, शापअनुग्रह के सामर्थ्य को उत्पन्न करने वाली अभिव्याहार सिद्धि, ईशित्व, वशित्व, अवधिज्ञान, शरीर विकरणांग प्राप्तिता, अणिमा लघिमा, महिमा। अणुत्व = अणिमा यानि कमलतंतु की नाल में भी प्रवेश कर रहते हैं। लघुत्व = लघिमा यानि वायु से भी ज्यादा हल्के हो जाते हैं। महत्त्व यानि महिमा = मेरु से भी महा बड़ा शरीर विकुर्वते हैं। प्राप्ति यानि भूमि पर रहे हुए उंगली के अग्र भाग से मेरुशिखर-सूर्यादि को भी स्पर्श करते हैं। प्राकाम्य यानि पानी में भूमि की तरह चलते हैं और भूमि पर पानी की तरह डूबते और तैरते हैं। जंघाचारण यानि जिससे अग्निशिखा, धूमों, बर्फ, कोहरा, बादल के पानी की धारा, पकड़ी की जाला, ज्योतिष देवों। विमानों की किरण, वायु में से किसी को भी ग्रहण कर आकाश में जाते हैं। आकाशगामिनी यानि जिससे आकाश में भूमि की तरह चलते हैं और पक्षी की तरह ऊपर-नीचे उड़ते हैं। अप्रतिघातित्व यानि पर्वत के बीच से आकाश की तरह जाते हैं। अन्तर्धान यानि अदृश्य होते हैं। कामरूपित्व यानि अनेक आश्रय वाले अनेक रूपों को एक साथ धारण करना। तेजोलेश्या छोड़ने का सामर्थ्य इत्यादि।

टि. (1) आमर्षौषधि = स्वयं के हाथ-पैर वि. अवयव के स्पर्श मात्र से सर्व रोग दूर करने का सामर्थ्य
विप्रुडौषधि = मूत्र-पुरीष के अवयव के संसर्ग से रोग दूर करना।
सर्वौषधि = सर्व अवयवों के स्पर्श से रोग दूर करना।
अभिव्याहार सिद्धि = जिसके वचन मात्र से शाप या अनुग्रह करने का सामर्थ्य।

DATE __/__/____

ईशित्व = सर्व जीवों का ईश्वर पन।
वशित्व = सर्व जीव स्वयं के वश वर्ती हों।
भा. इस प्रकार इंद्रियों में प्रतिज्ञान की विशुद्धि विशेष से (i) दूर से ही विषयों का स्पर्श-स्वाद-घ्राण-दर्शन-श्रवण करना। संभिन्नज्ञान यानि एक साथ अनेक विषयों का ज्ञान करना (ii) इत्यादि।
टी. (i) इंद्रियों के विषय के नियम का उल्लंघन करके भी।
(ii) आदि से इंद्रियों के व्यत्यास का ग्रहण है। व्यत्यास यानि एकइंद्रिय से अन्य इंद्रिय के विषयों को भी ग्रहण करना।
भा. (i) मानस (ii) कोष्ठबुद्धित्व, (iii) बीजबुद्धित्व, पदानुसारित्व, प्रकरणानुसारित्व, उद्देशानुसारित्व, अध्ययनानुसारित्व, श्रुतानुसारित्व, वस्तु अनुसारित्व, पूर्वगानुसारित्व, ऋजुमतित्व, विपुलमतित्व, परचित्तज्ञान, अभिलषितार्थप्राप्ति, अनिष्ट की अप्राप्ति इत्यादि)
टी. (i) मानस = मनोव्यापार से उत्पन्न।
(ii) कोष्ठबुद्धि = एकबार पद-वाक्यादि ग्रहण किया हुआ कोठार में डाले हुए धान्य की तरह कभी भूले नहीं।
(iii) बीजबुद्धि = अल्प बताई हुई वस्तु भी अनेक प्रकार से जानना। जैसे पदानुसारी आदि इस बीजबुद्धि के प्रकार हैं। पद बताने से पूरे ग्रंथ या अर्थ को अनुसरे इत्यादि)
भा. वाचिक (i) क्षीरास्रवित्व (ii), मध्वास्रवित्व, वादित्व, सर्वरुतज्ञत्व, सर्वसत्त्वावबोधन इत्यादि)
टी. (i) वाचिक = वचन संबंधी, वचन में।
(ii) क्षीरास्रवित्व = वचन सुनकर लोगों को दूध की तरह स्वाद लगे।
मध्वास्रवित्व = वचन से लोगों को शहद की तरह स्वाद लगे।
वादित्व = विद्वानों की सभा में अपराजित पन।
सर्वरुतज्ञत्व = मनोज्ञ-मृग-पशु-पक्षी वि. सभी की आवाज पहचाने।
सर्वसत्त्वावबोधन = वचन सुनकर बुद्धि बिना के जीव भी समझ जाए।
आदि से इक्षुरसास्रवित्वादि।
भा. उसी प्रकार विद्याधरत्व, आशीविषत्व, (ii) भिन्न और अभिन्न अक्षर। पूर्वधरत्व।
टी. विद्याधरत्व = सभी विद्याएँ स्वयं इसे उपस्थित हो।
आशीविषत्व = कार्य और जाति भेद से अनेक प्रकार का है।

DATE __/__/ 59

(ii) भिन्नाक्षर = किंचित् न्यून। अभिन्न = संपूर्ण।

भा. फिर तृष्णा रहित होने से, इन अतिशयों में आसक्ति रहित और मोह को खपाने के परिणाम में रहे इस जीव का 28 प्र. का मोहनीय कर्म संपूर्णतया नष्ट होता है। तत्पश्चात् छद्मस्थवीतराग अवस्था को प्राप्त इस जीव के अंतर्मुहूर्त में ज्ञानावरण-दर्शनावरण- और अंतराय कर्म एक साथ संपूर्णतया नष्ट होते हैं। फिर संसार के बीज (i) रूप बंधन से मुक्त, फल (ii) बंधन से छूटने की अपेक्षा वाला यथाख्यात संयत, जिन, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, शुद्ध, बुद्ध, कृतकृत्य, स्नातक होता है।

फिर वेदनीय-नाम-गोत्र-आयुष्य कर्म के क्षय से फल रूप बंधन से निर्मुक्त, पूर्व में ग्रहण किए हुए (कर्म रूप) ईंधन को जलाने वाला और ईंधन बिना की अग्नि जैसा यह जीव पूर्व में उपात्त संसार के वियोग से और हेतु के अभाव से उत्तर जन्म के प्रगट न होने से शांत यह आत्मा संसार सुख को लांघ कर (iii) आत्यंतिक, ऐकान्तिक, निरुपम, निरतिशय, नित्य, ऐसे निर्वाण सुख को प्राप्त करती है।

टी. (i) बीज बंधन - मोहनीयादि चार कर्म का बंधन।

(ii) फल बंधन - वेदनीयादि ५ अघाति कर्म का बंधन।

(iii) आत्यंतिक = सादि-अपर्यवसान।

ऐकान्तिक = एकान्त से होने वाला अर्थात् 'कभी हो, कभी न हो' ऐसा नहीं।

निरुपम = उसके समान कोई उपमा नहीं है।

निरतिशय = सभी सिद्धों में समान होने से उत्कर्ष -अपकर्ष के लक्षण रूप अतिशय से रहित।

नित्य = अविनाशी, अविकारी, सदा एक स्वरूप वाला।

इति श्रीतत्त्वार्थाधिगमे ऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे दशमो ऽध्यायः।

DATE ___/___/_____

भाष्य प्रशस्ति

वाचकमुख्यस्य शिवश्रियः प्रकाशयशसः प्रशिष्येण।
शिष्येण घोषनन्दिक्षमणस्यैकादशाङ्गविदः ॥1॥
वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपादशिष्यस्य।
शिष्येण वाचकाचार्यमूलनाम्नः प्रथितकीर्तेः ॥2॥
न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि।
कौभीषणिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनार्ह्यम् ॥3॥
अर्हद्वचनं सम्यग्गुरुक्रमेणागतं समुपधार्य।
दुःखार्तं च दुरागमविहतमतिं लोकमवलोक्य ॥5॥
इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धम्।
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥6॥
यस्तत्त्वार्थाधिगमाख्यं ज्ञास्यति च करिष्यति तथोक्तम्।
सोऽव्याबाधसौख्यं प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ॥7॥

भ. जगत में प्रगट यश वाले ऐसे शिवश्री नामक वाचक मुख्य के प्रशिष्य, ११ अंग के ज्ञाता ऐसे घोषनंदि क्षमाश्रमण के शिष्य, वाचना से महावाचक क्षमण मुंडपाद के शिष्य, (प्रसिद्ध कीर्ति वाले) मूल नामक वाचकाचार्य के शिष्य, कौभीषणी गोत्र वाले, स्वाति (पिता) के पुत्र और वात्सी के (माता) पुत्र, न्यग्रोधिका में उत्पन्न, कुसुम नामक श्रेष्ठ में नगर में विचरते, उच्चनागर शाखा के वाचक श्री उमास्वाति द्वारा गुरु क्रम से प्राप्त अर्हद् वचन को सम्यग् रीति से धारकर और लोक को दुःख से पीड़ित तथा दुरागम (दुष्ट शास्त्रों) से नष्ट मति वाला देखकर जीवों की अनुकंपा से यह स्पष्ट और मूल्यवान् ऐसा तत्त्वार्थाधिगम नामक शास्त्र रचा गया। जो तत्त्वार्थाधिगम नामक शास्त्र को जानेगा उस और उसमें कहे अनुसार करेगा, वह अव्याबाध सुख रूप परमार्थ (मोक्ष) को जल्दी से प्राप्त करेगा।

DATE ___/___/ 61

सभाष्यं ससिद्धसेनीयटीकोद्धृतटिप्पणं हिन्दीभाषामयमिदं श्रीतत्त्वार्थाधिगमाख्यं शास्त्रं गुरुरामजन्मशताब्दिसंवत्सरे लिखितम्।
समाप्तिवासरः → वि.सं. 2073, ई.सन् 2016, का.सु.५(२)
स्थानम् → कुवाला ग्रामः।

स्वोपज्ञभाष्यान्तर्गतकारिकाद्वयम्

सम्बन्धकारिका

जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध ज्ञान और चारित्र प्राप्त करता है, उसका दुःख का कारण रूप यह जन्म भी सफल होता है। 1
कर्म और क्लेशों[i] से बंधे हुए इस जन्म में उस प्रकार प्रयत्न करना चाहिए, जिस प्रकार कर्म और क्लेशों का अभाव हो, यह परमार्थ है। 2
अथवा आरंभ के स्वभाव वाले दोष होने पर परमार्थ के अलाभ में जिस प्रकार कुशलानुबंध वाला अनवद्य कर्म ही हो, वैसा प्रयत्न करना चाहिए। 3
अधमतम[ii] नर इस लोक और परलोक में अहित वाले कर्म प्रारंभ करते हैं। अधम नर तो इसलोक में फल देने वाले ही कर्म प्रारंभ करते हैं। विमध्यम नर उभय लोक में फल के लिए कार्य प्रारंभ करते हैं। 4
मध्यम नर सदा परलोक के हित के लिए ही क्रियाओं में प्रवर्तते हैं। विशिष्ट प्रति वाले उत्तम पुरुष तो मोक्ष के लिए ही यत्न करते हैं। 5
जो नर उत्तम धर्म को प्राप्त कर कृतार्थ होने पर भी हमेशा दूसरे को उपदेश देते हैं, वे उत्तमों से भी उत्तम (उत्तमोत्तम) पुरुष हैं, इसलिए पूज्यतम भी हैं। इसलिए अन्य जीवों को पूज्य ऐसे देव-ऋषि-नरेन्द्रों से भी लोक में उत्तमोत्तम ऐसे अरिहंत ही पूजा के योग्य हैं। 6 7
अरिहंतों की पूजा से मन का प्रसाद (प्रसन्नता) होता है। और उससे समाधि होती है। उससे (समाधि) से भी मोक्ष होता है। इसलिए उनका पूजन न्याय युक्त है। 8
तीर्थ के प्रवर्तन रूप फल वाला, जो तीर्थंकर नाम कर्म कहा गया है, उसके उदय से अरिहंत कृतार्थ होने पर भी तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं। 9

* द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं, त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम्।
कलापकं चतुर्भिः स्यात्, तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम्॥

DATE ___/___/___

जिस प्रकार सूर्य उसके स्वभाव से ही लोक को प्रकाशित करता है, इस प्रकार तीर्थंकर तीर्थ प्रवर्तन के लिए प्रवृत्ति करते हैं।10

जो, सिद्धार्थ राजा के कुल दीपक, अनेक भवों में शुभ कर्मों के आसेवन से भावित भाव वाले ज्ञात इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुए।11

शीतलता-द्युति और कांति से युक्त चंद्र की तरह पूर्व भव में प्राप्त किए हुए और अप्रतिपतित ऐसे मति-श्रुत-अवधि 3 ज्ञ शुद्ध ज्ञानों से युक्त।12

शुभ और सार रूप सत्त्व-संहनन-वीर्य-माहात्म्य-रूप-गुण से युक्त, गुण से देवों द्वारा जगत में 'महावीर' इस प्रकार नाम किए हुए।13

स्वयं ही तत्त्व को जानने वाले, जीवों के हित में तत्पर, अचल सत्त्व वाले, इन्द्र सहित लौकांतिक देवों द्वारा अभिनंदित किया गया है शुभ सत्त्व जिनका ऐसे।14

जन्म-जरा-मरण से पीड़ित जगत को अशरण और निःसार देखकर जल्दी से राज्य छोड़कर बुद्धिमान् शम के लिए दीक्षित हुए।15 (पञ्चभिः कुलकम्)

अशुभ के शमन वाले और मोक्ष के साधक श्रमण लिंग को स्वीकार कर सामायिक कर्म को किए हुए विधि पूर्वक (iii) व्रतों को आरोपितकर।16

सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र-संवर-तप-समाधि रूप बल (सैन्य) से युक्त मोहादि 4 अशुभ कर्मों का क्षय कर।17

विभु ने स्वयं ही अनंत केवलज्ञान और दर्शन को प्राप्त कर कृतार्थ होने पर भी लोक के हित के लिए इस तीर्थ की देशना देते हैं।18 (विशेषकम्)

यह तीर्थ दो पु. का, क्रमशः अनेक और 12 पु. का तथा महाविषय वाला, अनेक नयों से युक्त संसार समुद्र के पार जाने और दुःख क्षय के लिए समर्थ है।19

अन्य सभी तेजस्वी पदार्थों से सूर्य की तरह ग्रंथ-अर्थ और बोलने में (iv) पटु, (v) निपुण, (vi) प्रयत्न वाले (जीतने की इच्छा वाले) ऐसे वादियों से यह तीर्थ अभिभव प्राप्त करने वाला नहीं है।20

परमऋषि, पूज्यतम, मोह नष्ट करने वाले, अतिशय रूप लक्ष्मी वाले (भग=श्री) ऐसे उन महावीर को तीन करण से शुद्ध नमस्कार कर।21

DATE __/__/ 63

शिष्य के लिए हित रूप, लघुग्रंथ, बहुत अर्थ वाला और अरिहंत के वचन के एक भाग के संग्रह रूप इस तत्त्वार्थाधिगम नामक लघुग्रंथ को मैं कहूँगा। जिसके ग्रंथ और भाष्य का पार बहुत दुर्गम है और जो अति महान विषय (युग्म) वाला है, ऐसे महान जिनवचन रूप समुद्र का संग्रह (Summary) करने में कौन समर्थ है। 23

वह सिर से पर्वत को भेदने की इच्छा करता है; भुजाओं से पृथ्वी को खींचने की इच्छा करता है, समुद्र को तैरने की इच्छा करता है और घास के अग्र भाग से समुद्र को मापने की इच्छा करता है। 24

आकाश में चंद्र को लांघने की इच्छा करता है, मेरु पर्वत को हाथ से कंपाने की इच्छा करता है, गति से हवा को जीतने की इच्छा करता है और अंतिम समुद्र (स्वयंभूरमण) को पीने की इच्छा करता है। 25

और मोह से खद्योत की प्रभाओं द्वारा सूर्य को हराने की इच्छा करता है, जो अति महा ग्रंथ और अर्थ वाले जिनवचन का संग्रह करने की इच्छा करता है। 26 (विशेषकम्)

क्योंकि जिनवचन में से एक पद भी निर्वाहक (संसार से तारने वाला) बनता है, 'सामायिक' इतने ही पद से अनंत सिद्ध सुने जाते हैं। 27

इसलिए उस आगम की प्रमाणता से जिनवचन 'कल्याण रूप है' इस प्रकार शंका बिना संक्षेप से और विस्तार से ग्रहण करना चाहिए, धारणा करना चाहिए और कहना चाहिए। 28 (युग्मम्)

हित के श्रवण से सभी श्रोताओं को एकांत से धर्म नहीं होता किंतु अनुग्रह की बुद्धि से बोलते वक्ता को एकांत से धर्म होता है। 29

इसलिए स्वयं के श्रम को गौण कर सदा श्रेय (मोक्षमार्ग) का उपदेश देने योग्य है। वस्तुतः हित का उपदेश करने वाला स्वयं का और पर का अनुग्रह करता है। 30

इस संपूर्ण जगत में मोक्षमार्ग बिना अन्य कोई हितोपदेश नहीं है। इसलिए अब आगे यही अर्थात् मोक्षमार्ग ही कहूँगा। 31

टिका (i) क्लेश = जो आत्मा को क्लिष्ट करे ऐसे कषाय। यह जन्म कर्म और कषायों से (आर्या 2 में)

DATE ___/___/___

अनुबद्ध है अर्थात् कर्म से कषाय होते हैं और ब कषाय से कर्म होते हैं।

(ii) (आर्या 14 में) इन 6 पु. के पुरुषों में प्रथम 3 को अकुशलानुबंध, चतुर्थ को कुशल और अकुशल दोनों अनुबंध, पाँचवें को कुशलानुबंध और छठे को निरनुबंध बंध होता है।

(iii) (आर्या 16 में) व्रत शब्द के विविध अर्थ-ⓐ भोजन अर्थ- पयोव्रत ⓑ निवृत्ति में- वृषलान् न व्रतयति ⓒ आचार में- इदं वः कुत्सव्रतम् ⓓ प्रतिज्ञा में- स्थण्डिलशायिव्रतो यतिः। यहाँ निवृत्ति और प्रतिज्ञा अर्थ है।

(iv) (आर्या 20) पटु शब्द के विविध अर्थ-ⓐ कुछ लोग ग्रंथ में पटु होते हैं, अर्थ में नहीं ⓑ कुछ अर्थ में पटु होते हैं, ग्रंथ में नहीं ⓒ कुछ दोनों में पटु नहीं होते किंतु बोलने में पटु होते हैं। यहाँ तीनों में पटु का ग्रहण करना।

(v) निपुण= न्याय में कुशल।

(vi) ऐसे लोग भी कोई उदासीन होते हैं, अतः यहाँ प्रसन्न वाले कहा।

(vii) (आर्या 23) महत् शब्द के विविध अर्थ-ⓐ ऊँचाई में- महावृक्षः ⓑ वैपुल्य में- महोदधि ⓒ पूजन में- महापुरुष ⓓ भूयस्त्व में- महौजा आदित्यः ⓔ प्राधान्य में- महादेवः ⓕ संज्ञा में- महाजन ⓖ प्रशंसा में- महोदयः। यहाँ भूयस्त्व अर्थ में है।

(viii) किं शब्द के विविध अर्थ-ⓐ क्षेप में- किंसखा ⓑ प्रश्न में- किं ते प्रियं ⓒ निवारण में- किं ते रोदितेन ⓓ अपलाप में- किं तेऽहं धारयामि ⓔ अनुनय में- किं तेऽहं करोमि ⓕ अवज्ञा में- कस्त्वामुत्त्यापयते।

अंतिमकारिका

इस प्रकार तत्त्व के परिज्ञान से विरक्त आत्मा का, आस्रवरहित सत् होने से नई कर्म संतति छिन्न होने पर।1

यथोक्त क्षय हेतुओं से पूर्व में अर्जित कर्म को क्षय करती आत्मा का संसार का बीज रूप मोहनीय कर्म संपूर्णतया नष्ट होता है।2 (युग्मम्)

उसके बाद इस जीव के अंतराय- ज्ञानावरण- दर्शनावरण इन तीन कर्मों एकसाथ संपूर्णतया नष्ट होते हैं।3

जिस प्रकार गर्भसूची नष्ट होने पर ताड़ वृक्ष नष्ट होता है, वैसे ही मोहनीय कर्म क्षय को प्राप्त होने पर कर्म नष्ट होते हैं।4

फिर 4 कर्म नष्ट हुए हैं जिसके, ऐसा और यथाख्यात संयम को प्राप्त वह जीव

DATE __/__/ 65

बीजबंधन से मुक्त, स्नातक, परमेश्वर होता है।5
शेष कर्म के फल की अपेक्षा वाला, शुद्ध, बुद्ध, निरामय, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, जिन और केवली होता है।6
जिस प्रकार जले ईंधन वाली और नए ईंधन के समूह रहित अग्नि बुझ जाती है, वैसे ही यह आत्मा संपूर्ण कर्मक्षय से ऊपर निर्वाण को प्राप्त होती है।7
जिस प्रकार बीज अत्यंत जल जाने पर अंकुर उत्पन्न नहीं होता, वैसे कर्मरूप बीज जल जाने पर भव रूप अंकुर उत्पन्न नहीं होता।8
उसके बाद ही वह ~~ऊर्ध्व~~ पूर्वप्रयोग- असंगत्व- बंधछेद और ऊर्ध्वगौरव से ऊपर लोकांत तक जाता है।9
जिस प्रकार कुम्हार के चक्र में, जूते में अथवा बाण में पूर्वप्रयोग से क्रिया इच्छित ईप्सित है, वैसे सिद्धगति कही गई है।10
जिस प्रकार मिट्टी के लेप का संग छूटने से पानी में तुंबड़े की गति देखी गई है, उसी प्रकार कर्म का संग छूटने से सिद्धगति कही गई है।11
जिस प्रकार एरंड में, चंत्र में और पेड़ा में बंध के विच्छेद से गति देखी गई है, उस प्रकार कर्मबंधन के विच्छेद से सिद्ध की गति भी इच्छित है।12
जिनेश्वरों द्वारा 'जीव ऊर्ध्वगति के स्वभाव वाले और पुद्गल अधोगति के स्वभाव वाले हैं' इस प्रकार कहा गया है।13
जिस प्रकार लेष्टु- वायु- अग्नि की गति नीचे- तिरछी- ऊपर स्वभाव से ही वर्तती है, उस प्रकार आत्मा की ऊर्ध्व गति स्वभाव से होती है।14
इस कारण से इनकी गति की जो विकृतता क्रिया के प्रतिघात से और प्रयोग से प्राप्त होती है, वह भी इच्छित है।15
और जीवों की नीचे- तिरछी- ऊपर गति कर्म से होती है, क्षीणकर्म वाले जीवों की गति स्वाभाविक ऊपर ही होती है।16
जिस प्रकार द्रव्य के कर्म की उत्पत्ति- आरंभ- गति (क्रिया) एक होती है, वैसे ही सिद्ध की- गति- मोक्ष- भवक्षय एक साथ होते हैं।17
जिस प्रकार प्रकाश की उत्पत्ति और अंधकार का विनाश यहाँ एक साथ होता है, वैसे सिद्ध की निर्वाण की उत्पत्ति और कर्म का नाश एक साथ होता है।18

DATE / /

पतली, मनोज्ञ, सुरभि गंध वाली, पुण्यवाले पृथ्वीकायिक जीवों से निर्मित, और परम भास्वर स्वरूप वाली प्राग्भार नामक पृथ्वी लोक के मस्तक पर रही हुई है।19
वह पृथ्वी ~~मनुष्य~~ मनुष्य लोक के तुल्य विष्कम्भ वाली, श्वेत छत्र समान, शुभ है। उस पृथ्वी के ऊपर लोकांत में सिद्ध रहे हुए हैं।20
वे किन्तु सिद्ध तादात्म्य स्वभाव से केवल ज्ञान-दर्शन से उपयोग वाले, सम्यक्त्व-सिद्धता में स्थिर हैं और हेतु का अभाव होने से निष्क्रिय हैं।21
उससे भी ऊपर इनकी गति क्यों नहीं होती है, इस प्रकार यदि मति हो तो- धर्मास्तिकाय के अभाव से गति नहीं होती। वह गति का प्रधान हेतु है।22
परम ऋषियों द्वारा मुक्त जीवों का सुख संसार के विषयों से अतीत, सदाय, अव्याबाध और परम-प्रकृष्ट कहा गया है।23
(यहाँ शंकाकार कहता है-)
ऐसा भले हो! किंतु 8 कर्म नष्ट हुए जिसके ऐसे मुक्त, शरीर रहित जीव को सुख कैसे होता है? इस प्रकार (उत्तर पक्ष-) तू मुझे सुन।24
लोक में 4 अर्थों में सुख शब्द का प्रयोग किया जाता है। विषय में, वेदना के अभाव में, विपाक में और मोक्ष में।25
'यह अग्नि सुखरूप है, यह वायु सुखरूप है' इस प्रकार विषयों में यहाँ कहा जाता है। और पुरुष दुःख के अभाव में 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार मानता है।26
और पुण्य कर्म के विपाक से इष्ट इंद्रिय के अर्थों से उत्पन्न सुख होता है। कर्म और क्लेश छूटने से मोक्ष में अनुत्तम सुख होता है।27
कुछ लोग निर्वृत्ति (निर्वाण) को सोए हुए व्यक्ति की तरह सुख रूप मानते हैं, वह योग्य नहीं है क्योंकि वह क्रियावान् है (योगवान्) और इसी प्रकार निद्रा में सुख का अनुशय होता है। (अनुशय= प्रकर्ष- अपकर्ष) 28
और श्रम-क्लम-मद-व्याधि-मदन-मोहोत्पत्ति और दर्शनावरणीय कर्म के उदय से निद्रा आती है। (ऐसा कोई कारण मोक्ष में नहीं है) 29
संपूर्ण लोक में भी उन अन्य कोई पदार्थ उस सुख के समान नहीं है जिसके साथ उस सुख की उपमा दी जाए, इसलिए वह निरुपम सुख है।30
~~अनुमान और उपमान में लिंग की असिद्ध रूप प्रमाण्य होने से वह सुख~~

DATE __/__/ 67

~~अनुमान और उपमान से नहीं जान सकते क्योंकि वह लिंग अत्यंत अप्रसिद्ध है~~

(iii) अनुमान और उपमान में लिंग की प्रसिद्धि प्रमाण है। और वह लिंग अत्यंत अप्रसिद्ध है, जिसके साथ उस सुख की उपमा की जाए। अतः वह सुख अनुपम है। 3 वह सुख भगवंत अरिहंतों को प्रत्यक्ष है और उनके द्वारा कहा गया है। वह सुख है' इस प्रकार ~~अन्य~~ प्रश्नों द्वारा ग्रहण किया जाता है, किंतु छद्मस्थ की परीक्षा से ग्रहण ~~के~~ नहीं किया जाता। 32

(ii) भावार्थ- इन लेष्टु-वायु-अग्नि की गति विकृत भी होती है किंतु वह पर्वत-दीवार आदि पर क्रिया के प्रतिघात (अवरोध) से होता है और पुरुष की इच्छानुसार प्रयोग से भी होता है।

(ii) श्रम= परिश्रम, क्लम= ग्लानि, मद= शराब वि. का नशा, व्याधि= ज्वरादि, मदन= काम सेवन, मोहोत्पत्ति= रति-अरति-भय-शोक मोहनीय के उदय से।

(iii) अनुमान के लिंग हेतु और दृष्टांत हैं। उपमान का लिंग सादृश्य है। जिन पदार्थों के ये लिंग प्रसिद्ध हो, वे ही अनुमान और उपमान द्वारा जाने जा सकते हैं। मोक्षसुख का ऐसा कोई लिंग प्रसिद्ध न होने से वह अनुमान-उपमान का विषय नहीं बनता।

—x—